MAHILA UPANYASKARON KE UPANYASON MEIN STREE CHETANA

(CHUNE HUE UPANYASON KE SANDARBHA MEIN)

A Thesis submitted during 2014 to the University of Hyderabad in partial fulfillment of the award of a **Ph.D. degree** in Department of Hindi, School of Humanities.

By

KALPANA PANT
09HHPH02

2014

Department of Hindi
School of Humanities

University of Hyderabad
Central University P.O.
Prof. C. R. Rao Road
Gachibowli
Hyderabad – 500 046
Telangana
INDIA

C E R T I F I C A T E

This is to certify that the thesis entitled "**MAHILA UPANYASKARON KE UPANYASON MEIN STREE CHETANA" (CHUNE HUE UPANYASON KE SANDARBHA MEIN).** "महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री चेतना" (चुने हुए उपन्यासों के संदर्भ में) submitted by **Kalpana Pant** bearing Reg. No. 09HHPH02 in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in Hindi is a bonafide work carried out by her under my supervision and guidance which is a plagiarism free thesis.

As far as I know the thesis has not been submitted previously in part or full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of the Supervisor

Head of the Department

Dean of the School

D E C L A R A T I O N

I**, KALPANA PANT,** hereby declare that this thesis entitled "**MAHILA UPANYASKARON KE UPANYASON MEIN STREE CHETANA" (CHUNE HUE UPANYASON KE SANDARBHA MEIN).** "महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री चेतना" **(**चुने हुए उपन्यासों के संदर्भ में**)** submitted by me under the guidance and supervision of **Dr. M. SHYAM RAO** is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in Shodhganga/INFLIBNET.

Name : **KALPANA PANT**

(Signature of the Student)
Regd. No. 09HHPH02

Date :

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना **i-vi**

प्रथम अध्याय : स्त्री चेतना **1-75**

क. स्त्री की गुलामी : सामाजिक इतिहास

ख. पितृसत्ता उर्फ़ पुरुष सत्ता

ग. स्त्री की गुलामी के प्रमुख उपकरण : परिवार, समाज, अर्थतंत्र तथा धर्म

घ. स्त्री की मुक्ति के निहितार्थ

ङ. स्त्री मुक्ति आन्दोलन : विविध दिशाएं

च. सामंती समाज में पुरुष सत्ता

छ. नवजागरण का स्त्री सन्दर्भ

ज. स्वतंत्रता आंदोलन में स्त्री प्रश्न

झ. समकालीन भारत में स्त्री मुक्ति की आवाजें

द्वितीय अध्याय : हिंदी उपन्यासों में स्त्री उपस्थिति **76-114**

क. प्रेमचंद, जैनेन्द्र और यशपाल के उपन्यासों में स्त्री उपस्थिति

ख. स्वातंत्र्योत्तर पुरुष लेखकों के उपन्यासों में स्त्री चेतना

ग. स्वातंत्र्योत्तर महिला उपन्यासकारों के स्त्री केन्द्रित प्रमुख उपन्यास

तृतीय अध्याय : महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री चेतना **115-152**

(1980 से पूर्व)

क. प्रमुख उपन्यास

ख. उपन्यासों में पितृसत्ता

ग. प्रमुख स्त्री चरित्र एवं मुक्ति का प्रश्न

चतुर्थ अध्याय : महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री चेतना **153-224**

(1980 से सदी के अंत तक)

क. प्रमुख उपन्यास

ख. उपन्यासों में पितृसत्ता

ग. प्रमुख स्त्री चरित्र एवं मुक्ति का प्रश्न

पंचम् अध्याय : महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री चेतना **225-257**

(2000 से अब तक)

क. प्रमुख उपन्यास

ख. उपन्यासों में पितृसत्ता

ग. प्रमुख स्त्री चरित्र एवं मुक्ति का प्रश्न

उपसंहार **258-271**

संदर्भ ग्रंथ-सूची **272-281**

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं में 'उपन्यास' विधा अपने विस्तृत फलक के जरिए किसी भी समाज के विभिन्न पक्षों को सूक्ष्मता से सर्वांगीण रूप में प्रस्तुत करने में सफल रही है। 'स्त्री चेतना' अथवा 'स्त्री विमर्श' के सन्दर्भ में भी यह बात निसन्देह कही जा सकती है। वस्तुतः 'चेतना' आत्मज्ञान की एक ऐसी स्थिति है जिसके जरिए व्यक्ति अपने ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आदि स्थितियों को स्वयं देखता और अनुभव करता है फिर अपनी दृष्टि के अनुरूप उसका विश्लेषण और मूल्यांकन करता है। 'स्त्री चेतना' भी स्त्री के अस्तित्व और अस्मिता के मूल्यांकन का ही दूसरा रूप है। इसके मूल में 'मुक्ति' की आकांक्षा निहित है। स्त्री के संदर्भ में 'मुक्ति' से तात्पर्य स्वतंत्रता, समानता और निर्णय लेने की अधिकारसम्पन्नता से हैं। सर्वप्रथम स्त्री चेतना का आगाज पश्चिम में हुआ था जिसका विश्वव्यापी प्रभाव दिखाई पड़ता है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि इसे केवल 'प्रभाव' के रूप में ही देखा जाना चाहिए। पश्चिम का 'नारीवाद' अपने व्यापक प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय परिप्रेक्ष्य में 'स्त्री चेतना' के रूप में उभरा। पश्चिम में इसका स्वर उग्र प्रतिरोध का था। वहां पुरुष प्रतिद्वंदी के रूप में था किन्तु भारत में इसका रूप स्त्रियों की वास्तविक स्थति में स्थायी परिवर्तन के लिए 'जागरूकता' के रूप में ही रहा है।

साहित्यिक विधाओं में उपन्यास लेखन के अंतर्गत 'स्त्री चेतना' के कुछ संकेत भारतेन्दु युग के उपन्यासों से ही दिखाई पड़ने लगते हैं। लेकिन यह लेखन अधिकांशतः पुरुष लेखकों द्वारा ही किया जा रहा था। वस्तुतः स्त्री लेखन का अपना एक अलग पक्ष है। स्त्री के सन्दर्भ में पुरुष लेखन से इतर स्त्री का लेखन उसके द्वारा भोगे हुए जीवन की सूक्ष्म तहों का अंकन है। आज पुरुष लेखन के बरक्स स्त्री लेखन साहित्य जगत में चर्चा

का प्रमुख विषय बना हुआ है। उपन्यास लेखन के क्षेत्र में स्त्रियों का स्पष्ट हस्तक्षेप स्वातंत्र्योत्तर भारत में ही दिखाई पड़ता है।

लेखिकाओं के अपने उपन्यासों में न केवल स्त्री समस्याओं के विविध पहलुओं को उजागर किया गया है अपितु उनसे संघर्ष के अनेक चित्र भी अंकित किए गए हैं। मेरे शोध का विषय 'महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री चेतना (चुने हुए उपन्यासों के सन्दर्भ में)' है। पिछले चालीस-पचास वर्षों में स्त्री लेखिकाओं ने बहुतायत में उपन्यास लेखन का कार्य किया है। इसलिए मेरे शोध का विषय बहुत विस्तृत हो जाता है। शोध को सुगठित और सुचिंतित रूप देने के लिए मैंने अपने शोध विषय के अंतर्गत उपन्यासों के चयन का मार्ग अपनाया है और मुख्य अध्ययन के लिए तेरह उपन्यासों का चयन किया है। ये उपन्यास हैं - कृष्णा सोबती (मित्रो मरजानी, 1967 ई.), ममता कालिया (बेघर,1971 ई.), मन्नू भंडारी (आपका बंटी,1971 ई.), मंजुल भगत (अनारो, 1977 ई.), राजी सेठ (तत्-सम,1983 ई.), नासिरा शर्मा (शाल्मली, 1987 ई.), प्रभा खेतान (छिन्नमस्ता, 1993 ई.), गीतांजलि श्री (माई, 1993 ई.), मृदुला गर्ग (कठगुलाब, 1996 ई.), चित्रा मुद्गल (आवां, 1999 ई.), मैत्रेयी पुष्पा (अल्मा कबूतरी, 2000 ई.), कावेरी (मिस रमिया, 2007 ई.), अनामिका (दस द्वारे का पींजरा, 2008 ई.)। इन उपन्यासों के चयन का आधार स्त्री केन्द्रित मुद्दे रहे हैं। अध्ययन की दृष्टि से इस शोध प्रबंध को प्रस्तावना तथा उपसंहार के अतिरिक्त मुख्य रूप से पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है। जिसमें प्रथम दो अध्याय 'स्त्री चेतना' की ऐतिहासिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। तृतीय, चतुर्थ और पंचम अध्याय के अंतर्गत स्त्री लेखिकाओं के चयनित उपन्यासों का विस्तार से अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम अध्याय- 'स्त्री चेतना' को नौ उपशीर्षकों में विभाजित किया गया हैं। जिसके अंतर्गत आदिम समाज से लेकर स्वातंत्र्योत्तर भारत तक में स्त्री की गुलामी के इतिहास को उजागर किया गया है, तथा स्त्री की गुलामी के प्रमुख उपकरण के रूप में परिवार,

समाज, अर्थतंत्र एवं धर्म की भूमिका पर भी विचार किया गया है। स्त्री चेतना के सन्दर्भ में 'पितृसत्ता' और 'मुक्ति' के स्वरूप पर प्रकाश डालने के साथ ही पश्चिम में स्त्री मुक्ति के लिए हुए तमाम नारीवादी आंदोलनों की भूमिका का अवलोकन किया है जिनका विश्वव्यापी प्रभाव परिलक्षित हुआ था। भारतीय परिप्रेक्ष्य में मध्यकालीन सामंती समाज द्वारा स्त्री के शोषण और दमन के लिए अपनाए गए, बाल विवाह, जौहर प्रथा, पर्दा प्रथा जैसे तमाम हथकंडों की चर्चा करते हुए पितृसत्तात्मक समाज की एकतरफा नियमावलियों से मुक्ति के लिए नवजागरण काल में हुए तमाम समाजसुधार आंदोलनों और साहित्यिक लेखन के जरिए हुए प्रयासों पर प्रकाश डाला गया है। देश को आजाद कराने के लिए बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के लगभग पचास वर्षों में हुए तमाम आन्दोलनों और फिर स्वतंत्रता आंदोलन में स्त्रियों की सक्रिय भागीदारी को उजागर किया है। इस अध्याय के अंत में समकालीन भारत में स्त्री मुक्ति की आवाजों का विस्तृत लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार प्रथम अध्याय के अंतर्गत 'स्त्री चेतना' की ऐतिहासिक और वैचारिक पृष्ठभूमि पर विस्तार से विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय 'हिन्दी उपन्यासों में स्त्री उपस्थिति' को तीन बिन्दुओं में विभाजित किया गया है। जिसमें पहला बिन्दु 'प्रेमचंद, जैनेन्द्र और यशपाल के उपन्यासों में स्त्री उपस्थिति', दूसरा 'स्वातंत्र्योत्तर पुरुष लेखकों के उपन्यासों में स्त्री चेतना' और तीसरा 'स्वातंत्र्योत्तर महिला लेखिकाओं के स्त्री केन्द्रित प्रमुख उपन्यास' है। यह ध्यान देने की बात है कि स्वतंत्रता पूर्व प्रेमचंद, जैनेन्द्र और यशपाल ने अपने उपन्यासों में स्त्री जीवन की विभिन्न समस्याओं को उठाया था। पृष्ठभूमि के तौर पर उनके उपन्यासों को स्त्री मुक्ति की दिशा में 'नींव के पत्थर' के रूप में देखा जाना चाहिए। स्वातंत्र्योत्तर भारत में भी पुरुष लेखकों के उपन्यासों में स्त्री जीवन के विविध पहलुओं को देखा जा सकता है। इसी समय पुरुष उपन्यासकारों के बरक्स स्त्री लेखिकाओं ने भी उपन्यास लेखन में अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज करायी थी। पिछले चार-पाँच दशकों में स्त्री लेखिकाओं ने अपने

उपन्यासों में स्त्री जीवन की विभिन्न समस्याओं और स्त्रियों द्वारा 'मुक्ति' के लिए किए जा रहे संघर्ष के विविध पक्षों को बखूबी चित्रित किया है। चूंकि मुख्य अध्ययन में सभी उपन्यासों को शामिल करना संभव नहीं था इसलिए स्वातंत्र्योत्तर भारत में स्त्री लेखिकाओं द्वारा लिखे गए उपन्यासों का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय 'महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री चेतना (1980 से पूर्व)' शोध विषय के मुख्य अध्याय का पहला पड़ाव है। इस अध्याय के तहत 'प्रमुख उपन्यास', 'उपन्यासों में पितृसत्ता', 'प्रमुख स्त्री चरित्र एवं मुक्ति का प्रश्न' जैसे बिन्दुओं के तहत स्त्री केन्द्रित मुद्दों से संबंधित विभिन्न पहलुओं को विवेचित-विश्लेषित किया गया है। हिन्दी में स्त्री लेखिकाओं द्वारा 1980 से पूर्व लिखे गये उपन्यास मुख्यतः भारत की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था से मोहभंग की स्थिति को दर्शाते हैं। वास्तव में स्वतंत्रता के बाद भी न तो स्त्रियों की स्थिति में कोई विशेष बदलाव आया और न ही इसकी कोई गुंजाइश दिखाई पड़ रही थी। इसे हिन्दी उपन्यास साहित्य के फलक पर स्त्री लेखन का शुरुआती दौर कहा जा सकता है। लेकिन अब 'स्त्री समस्याओं' के प्रति औरतों के निजी दृष्टिकोण और 'स्त्रियों में आ रही चेतना' का आभास दिखाई पड़ने लगा था। 'मित्रो मरजानी', 'बेघर', 'आपका बंटी', 'अनारो' में स्त्री जीवन से सम्बंधित विभिन्न मुद्दों पर सूक्ष्मता से विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय 'महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री चेतना (1980 से सदी के अंत तक)' स्त्री लेखिकाओं के लेखन का दूसरा और सबसे महत्वपूर्ण पड़ाव है। इस समय भारत पर भूमंडलीकरण, पूँजीवाद और उपभोक्तावाद का प्रभाव भी तेजी से परिलक्षित हुआ था। साथ ही देश विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक उतार-चढ़ाव के दौर से गुजर रहा था। इसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। अब स्थितियां और भी जटिल होती जा रही थीं। बीसवीं सदी के इन अंतिम दो दशकों में स्त्री लेखिकाओं ने स्त्रियों से सम्बंधित कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों जैसे विधवा पुनर्विवाह, बलात्कार, स्त्री शिक्षा, और यौन शोषण आदि को

केन्द्र में रखकर उपन्यास लेखन किया। ऐसे विभिन्न मुद्दों को ध्यान में रखते हुए इस अध्याय के अंतर्गत 'प्रमुख उपन्यास' के तहत 'तत्-सम', 'शाल्मली', 'छिन्नमस्ता', 'माई', 'कठगुलाब' और 'आवां' उपन्यासों का चयन किया गया है। इन उपन्यासों में अभिव्यक्त पितृसत्ता के स्वरूप और प्रमुख स्त्री चरित्रों के द्वारा 'स्त्री मुक्ति' के विभिन्न प्रयासों का विस्तार से विवेचन-विश्लेषण किया गया है।

पंचम् अध्याय 'महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री चेतना (2000 से लेकर अब तक)' में मुख्य रूप से दलित एवं आदिवासी स्त्रियों की समस्याओं पर विचार किया गया है। अभी भी हिन्दी में लेखिकाओं द्वारा लिखे गए उपन्यासों में दलित एवं आदिवासी स्त्रियों की समस्याएं बहुत कम अभिव्यक्त हुई हैं। इस अध्याय के अंतर्गत प्रमुख उपन्यासों के रूप में 'अल्मा कबूतरी', 'मिस रमिया' और 'दस द्वारे का पींजरा' उपन्यासों का अध्ययन-विश्लेषण किया गया है। 'अल्मा कबूतरी' जहां कबूतरा जनजाति की स्त्रियों से सम्बंधित है वहीं 'मिस रमिया' में दलित स्त्री के जीवन संघर्ष को बयां किया गया है। 'दस द्वारे का पींजरा' उपन्यास यद्यपि दलित अथवा आदिवासी तबके की स्त्री से सम्बंधित नहीं है, लेकिन इसमें सभी वर्ग की स्त्रियों को ध्यान में रखकर रमाबाई द्वारा किए गए मुक्ति संघर्ष के लंबे इतिहास को बखूबी पिरोया गया है। इन उपन्यासों में सदियों से दलित एवं आदिवासी समाज में पितृसत्ता की मार झेल रही स्त्री का ही चित्रण नहीं है अपितु इक्कीसवीं सदी में आकर उनके द्वारा स्वयं उन स्थितियों से बाहर निकल आने के बेहद सकारात्मक पक्ष भी मौजूद हैं। शोध विषय के अध्ययन हेतु मैंने समाजशास्त्रीय शोध प्रविधि का प्रयोग किया है।

इस शोध कार्य का उद्देश्य साहित्य के जरिए समाज में स्त्रियों के प्रति चेतना जाग्रत करने का और इस जाग्रत चेतना को निरंतर 'स्त्री मुक्ति' के प्रयासों की तरफ अभिप्रेरित करने का रहा है।

इस शोध कार्य को मूर्त रूप प्रदान करने में निरंतर मार्गदर्शन करने एवं अतुलनीय सहयोग प्रदान करने के लिए सर्वप्रथम मैं अपने शोध निर्देशक डॉ. एम. श्याम राव के प्रति आभारी हूँ। विभागाध्यक्ष, विभाग के सभी गुरुजनों एवं समस्त कर्मचारियों के प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने शोध कार्य के दौरान पग-पग पर अपना सहयोग प्रदान किया।

मैं डॉ. आशीष त्रिपाठी के प्रति आभार ज्ञापित करती हूँ, जिनका इस शोध विषय के चयन में एवं समय-समय पर मार्गदर्शन करने में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। डॉ. गजेन्द्र पाठक के प्रति भी आभारी हूँ, जिनके प्रोत्साहन ने सदैव क्रियाशील बनाये रखा।

मैं विशेष रूप से अपने माता-पिता के प्रति श्रद्धानत हूँ। जिन्होंने शोध अध्ययन के इस लंबे समय में निरंतर अपना 'स्नेह' और 'आशीर्वाद' प्रदान किया। मैं अपने भाई, भाभी, दीदी एवं जीजा जी के प्रति भी तहेदिल से कृतज्ञ हूँ जो सदैव सकारात्मक ऊर्जा और प्रोत्साहन देते रहे। इनका सहयोग और प्रोत्साहन ही मेरा सबसे बड़ा संबल रहा है, जिसके कारण मैं यह कार्य सम्पन्न कर सकी हूँ।

अनेक मित्रों और साथियों ने इस कार्य में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अमूल्य सहयोग दिया। केवल शब्दों के माध्यम से उनका आभार ज्ञापन संभव नहीं है। मैं धनंजय, सबिता, धर्मेन्द्र, प्रमोद, राजबहादुर, कमलेश और प्रणव के प्रति हरसंभव मदद देने के लिए तहेदिल से शुक्रगुजार हूँ। साथ ही नेगी, प्रियम, अदिति और अंतिमा सहित उन सभी मित्रों और साथियों का हार्दिक शुक्रिया अदा करना चाहती हूँ, जिन्होंने मेरी इस यात्रा को अविस्मरणीय बनाया। इन सभी लोगों के सहयोग और प्रोत्साहन के अभाव में यह कार्य संभव न हो पाता।

कल्पना पन्त

प्रथम अध्याय : स्त्री चेतना

क. स्त्री की गुलामी : सामाजिक इतिहास

मानव समाज के लम्बे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रत्येक काल और स्थिति में स्त्री दोयम दर्जे की नागरिक के रूप में ही रही है। वस्तुतः समाज के दो प्रमुख आधार स्तंभ हैं: स्त्री और पुरुष। दोनों का अस्तित्व एक-दूसरे के बिना अधूरा है। दोनों के सह अस्तित्व से ही सृष्टि का विकास, परिवर्तन व परिवर्धन संभव है। किन्तु समाज में किस प्रकार स्त्री शनैः शनैः पुरुषसत्ता के अधीन गुलाम बनती गयी इसका एक लम्बा सामाजिक इतिहास रहा है।

आदिम समाज व्यवस्था में लोग कबीलों में रहते थे। कबीलाई समाज में स्त्री-पुरुष दोनों घर का काम भी करते थे और शिकार भी। इस प्रकार अर्जित संपत्ति का मिल-जुलकर भोग भी करते थे। कहने का तात्पर्य यह कि स्त्री और पुरुष दोनों स्वतंत्र रूप से अपनी इच्छानुसार जीवन यापन करते थे। तत्कालीन समाज में कोई सामाजिक व्यवस्था नहीं थी। न कोई धर्म था न कानून। पितृगमन, मातृगमन, भगिनी व भातृगमन ही मान्य रहा। औरत ही संतान को जन्म देती व स्तनपान कराकर पोषण करती थी। यह कार्य कबीले के परिवर्धन व वंशवृद्धि के लिए सबसे महत्वपूर्ण था। इसीलिए वंश माँ के नाम से चलता था। अतः यायावर समाज मातृसत्तात्मक समाज था।

समय बीतने के साथ ही कृषि सभ्यता का आगमन हुआ। कृषि जीवन में आकर विभिन्न कानून एवं संस्थाएँ बनीं। इस काल में पुरुष प्रकृति के संयोग से विभिन्न निर्माण कार्यों में संलग्न हुआ। जिससे उसमें आत्मसंतोष का भाव उत्पन्न हुआ। स्त्री को विशेष मान्यता तथा महत्व प्राप्त हुआ जिसका मुख्य कारण था प्रजनन की विशिष्ट क्षमता का होना। कृषि युग में मानव श्रम की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति स्त्री संतानोत्पत्ति के

जरिए करती थी। स्त्री की इस रहस्यमयी उर्वरा शक्ति के प्रति कृतज्ञ होकर पुरुष ने उसे शक्ति के रुप में पूजा। "औरत की तुलना धरती से की गई। वह धरती की तरह उर्वरा थी, जीवन-धात्री थी। खाना बदोशों में प्रजनन जहाँ आकस्मिक था तथा धरती में छिपी समृद्धि से लोग अनजान थे, वहीं कृषि युग में पुरुष को माँ प्रकृति की तरह लगी। स्त्री धरती की तरह थी, उतनी ही रहस्यमयी।"[1] इस सिक्के का दूसरा पहलू बेहद दुभाग्यपूर्ण था। स्त्री की गुलामी का मूल कारण उसकी यह उर्वरा शक्ति ही बनी जिसने उसे आत्मनिर्भर न बनने दिया। ''मासिक-धर्म, गर्भाधान एवं प्रसव- ये सारी जैविक घटनाएँ उसकी काम करने की क्षमता का ह्रास करने वाली साबित हुईं। ऐसे समय में उसे पूरी तरह से पुरुष पर ही निर्भर रहना पड़ता था। वह असमर्थ थी खतरों का सामना करने में। उसे भोजन और सुरक्षा की जरुरत थी।"[2] अपनी शारीरिक दुर्बलता के कारण स्त्री का कार्य क्षेत्र घर तक ही सीमित हो गया। वह घर पर रहकर कपड़े बुनती, घर की रखवाली करती तथा भोजन की व्यवस्था करती थी। ज्यों-ज्यों समाज का विकास होता गया स्त्री की इस असमर्थता को देखकर पुरुष में आत्मगौरव का भाव प्रस्फुटित हुआ। जिस प्रकार अब तक वह अपने अनुभवों से प्रकृति को विजित करता आ रहा था उसी प्रकार स्त्री पर भी स्वामित्व स्थापित करने की भावना उसके मन में जगी। उसे अपनी ताकत और शक्ति का एहसास होने लगा। ''अपनी परियोजनाओं एवं कर्म तथा तर्कों के आवश्यक परिणामों से वह वाकिफ़ भी होने लगा था। उसने ज्यों-ज्यों विकास किया, त्यों-त्यों प्रकृति को जीतता गया। उसने खेती की, फसल उगाई, नहरें बनाईं, सड़कों का निर्माण किया और नये प्रदेशों को खोजा। उसके लिए यह एक नई दुनिया थी।"[3] शनैः शनैः उसने मातृत्व की महानता को अपदस्थ कर यह पुष्ट कर दिया कि पुरुष उत्पादक शक्ति है और स्त्री मात्र पोषण करने वाली। पुरुष ही प्रमुख शक्ति है जबकि स्त्री की भूमिका गौण। साथ ही संतानोत्पत्ति में प्रमुख भूमिका पुरुष की स्वीकार की जाने लगी। इस प्रकार मातृसत्तात्मक समाज के पटाक्षेप के साथ ही पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था का आर्विभाव हुआ। यहीं से स्त्री की गुलामी का कभी न थमने वाला एक

लम्बा दौर आरम्भ होता है। एंगेल्स ने कहा भी था कि 'मातृसत्तात्मक समाज से पितृसत्तात्मक समाज का अवतरण वास्तव में औरत जाति की सबसे बड़ी ऐतिहासिक हार थी'।

पितृसत्तात्मक समाज होते हुए भी ऋग्वैदिक काल में स्त्रियों को गौरवशाली स्थान प्राप्त था। वह याज्ञिक कर्मकाण्डों में भाग लेती थीं। शिक्षा काल में बालकों की तरह बालिकाएँ भी ब्रह्मचर्य का पालन करती थीं। उनका भी 'उपनयन-संस्कार' होता था। ''अथर्ववेद में वर्णित है-

'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विंदते पतिम्।'

अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के पश्चात् ही कन्या युवा पति को प्राप्त करती है।''[4] वेदाध्ययन के साथ-साथ स्त्रियों ने वैदिक मंत्रों की रचना भी की है। विश्ववारा, लोपामुद्रा, घोषा, अपाला, गार्गी, शची, सूर्या, असंगभार्या, वाग्मणि, अंगिरा कन्या शाश्वती आदि विदुषी स्त्रियाँ थीं। विवाह संस्था व्यवस्थित थी। पति-पत्नी का संबंध पूर्ण निष्ठा व समर्पण पर आधारित था।

उत्तर-ऋग्वैदिक काल तक आते-आते समाज में स्त्री को हीन दृष्टि से देखा जाने लगा। शूद्रों तथा स्त्रियों को एक ही कोटि में रखा जाने लगा इस काल में उनसे वेदाध्ययन का अधिकार भी छीन लिया गया। ''शूद्रों तथा स्त्रियों का वैदिक मंत्रों का उच्चारण करना भी वर्जित कर दिया गया था। इस युग में विवाह के अतिरिक्त उनके सभी संस्कार वैदिक मंत्रों के बिना किये जाते थे।''[5] इस प्रकार उत्तर ऋग्वैदिक काल तक कन्याओं से यज्ञ करने, वेद तथा शास्त्रों के अध्ययन करने व गुरुकुल जाकर शिक्षा प्राप्त करने जैसे सभी अधिकार छीन लिए गये थे।

ब्राह्मण ग्रन्थों में पुत्री जन्म को दुःख का कारण बताया गया है। उन्हें पासां और सुरा के साथ-साथ तीन प्रमुख बुराईयों में गिना जाने लगा। स्त्री को मात्र गृह कार्यों तक ही सीमित कर दिया गया। ''ब्राह्मणकालीन ग्रन्थों का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि नारी जीवन का एक मात्र उद्देश्य 'विवाह' था और इसकी पूर्ति हेतु अनेक कठोर नियम बनाये गये थे। विवाह संस्कार के लिए कन्या के वित्त, रुप, प्रज्ञा और बांधव इन चार गुणों पर विचार किया जाता था।''[6]

समाज में प्रचलित सभी नियम-कानून येन केन प्रकारेण स्त्री को पुरुष के अधीन रखने के लिए निर्मित किए गये। रामायण और महाभारत भी स्त्री पर पुरुष के मनमाने अधिकारों की ही पुष्टि करते हैं। तत्कालीन समाज में स्वयंवर प्रथा प्रचलित थी। ''स्वयंवर प्रथा के सन्दर्भ में कहा जाता है कि प्राचीन भारत में कन्याओं को अपना पति चुनने का स्वयं अधिकार था। परन्तु, वास्तविकता इसके बिल्कुल विपरीत थी, क्योंकि कन्या का पिता विवाह के लिए बल, शौर्य, पराक्रम, बुद्धि के प्रदर्शन हेतु कोई कठिन लक्ष्य रखता था, जिसे बेधकर कोई भी पुरुष उस कन्या को प्राप्त कर सकता था। चाहे वह पुरुष रोगी, कुरुप, विकलांग, बहुपत्नीधारी अथवा आयु में कन्या के पिता से अधिक ही क्यों न हो। वास्तव में यह विवाह हेतु एक ऐसी प्रतियोगिता थी, जिसे 'स्वयंवर' नाम दिया गया और इस प्रतियोगिता में विजित पुरुष को शील्ड अथवा पुरस्कार के रूप में कन्या प्रदान की जाती थी।''[7] रामायण महाकाव्य में भी स्त्री को सर्वत्र पतिव्रत धर्म का उपदेश दिया गया है। स्त्री के लिए अनेक कर्तव्य निर्दिष्ट किए गए हैं किन्तु जहाँ स्त्री के अधिकारों व स्वतंत्र निर्णयों की बात आती है, वहाँ यह महाकाव्य भी मौन है। पांडवों द्वारा द्रौपदी को मात्र वस्तु समझकर जुए में दाँव पर लगा देना तथा राम द्वारा सीता को अकारण वनवास देना पुरुषसत्ता द्वारा किए जाने वाले मनमाने व्यवहार तथा स्त्रियों के शोषण और दमन की पुष्टि करते हैं।

स्मृति काल में भी स्त्री की स्थिति विरोधाभास पूर्ण थी। इस काल में एक तरफ नारी को गरिमापूर्ण स्थान देकर उसकी पूजा की बात कही गयी है। मनु के अनुसार-

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।"[8]

अर्थात् जिस कुल में नारी की पूजा होती है उस कुल पर देवता प्रसन्न होते हैं और जिस कुल में इनकी पूजा नहीं होती है सब कर्म निष्फल होते हैं।

वास्तव में इस पूजा उपासना का एक मात्र कारण यही था कि स्त्री को अतिमानवीय शक्तियों से युक्त माना गया और उसे सामान्य जीवन से उठाकर ऐसे स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया गया जहाँ न वह पुरुष की मित्र बन सकी और न ही मानवीय जीवन प्राप्त कर सकी।

इस तस्वीर का दूसरा पहलू भी है जो विरोधाभासपूर्ण है। स्त्री को दिये जाने वाले पूजनीय सम्मान के बावजूद कहीं-न-कहीं नारी पुरुषों द्वारा बनाई गयी लीक पर ही चलने के लिए विवश थी। उसकी विवाह की आयु घटा दी गई थी और विवाह अनिवार्य हो गया था। वह सर्वत्र पुरुष के अधीन कर दी गई थी। मनुस्मृति के नवम् अध्याय के तीसरे श्लोक में मनु कहते हैं-

"पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने

रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्रमर्हति।"[9]

अर्थात बचपन में स्त्री की रक्षा पिता करता है, युवावस्था में पति और बुढ़ापे में पुत्र, स्त्री स्वतंत्र रहने योग्य नहीं है।

मनुस्मृति में ही नारी के चरित्र पर भी दोषारोपण किया गया है, मनु का मानना था कि नारी स्वभावतः अपनी श्रृंगारिक चेष्टाओं द्वारा लोगों के चरित्र को दूषित कर देती है। अतः पुरुषों को माता, बहन, पुत्री अथवा किसी भी स्त्री के साथ एकांत में नहीं बैठना चाहिए। इसी संदर्भ में आर. सी. मजूमदार के अनुसार ''नारी की सामाजिक स्वतंत्रता पर भी अंकुश लगना प्रारम्भ हो गया था। अब वे सभाओं में भाग नहीं ले सकती थीं।''[10]

शास्त्रों में भी स्त्रियों के लिए तमाम कायदे-कानून उल्लिखित किए गये हैं। समाज में वैदिक काल से ही विवाह धार्मिक कृत्य के रूप में प्रचलित था। अतः युवावस्था से पूर्व कम आयु में ही कन्याओं का विवाह शास्त्रसम्मत व धर्मानुकूल माना गया, जिसके परिणामस्वरुप अनमेल विवाह, बहुपत्नी विवाह होते थे। ''चौबीस वर्ष का पुरुष, आठ वर्ष की लड़की से विवाह करे, इस अर्थ की स्मृति प्रसिद्ध है।''[11] वास्तव में ऐसा विवाह शास्त्रसम्मत माना जाता था।

यदि स्वर्णयुग की संज्ञा से युक्त गुप्त कालीन समाज में स्त्री की स्थिति पर दृष्टिपात किया जाए तो उपलब्ध इतिहास से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में चाहे वह राजकुल की स्त्रियाँ हो या दासियाँ घोर यंत्रणा पूर्वक जीवन जीने के लिए अभिशप्त थीं। ऐसा ज्ञात होता है कि उस काल में अवसरानुकूल स्त्री को उपहार स्वरुप भी प्रस्तुत किया जाता था। जैसा कि प्रसाद कृत 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की इन पंक्तियों से स्पष्ट है ''गुप्त सम्राट क्या अपनी पत्नी शत्रु को उपहार में देंगे?''[12] आगे ध्रुवस्वामिनी कहती है- "देखती हूँ इस राष्ट्र-रक्षा-यज्ञ में नारी की बलि होगी ही।"[13] स्पष्ट है कि स्त्री को मानवीय के रूप में न देखकर एक वस्तु, मात्र विनिमय की चीज के रूप में उसका इस्तेमाल किया जाने लगा था।

मध्यकाल तक आते-आते स्त्री की स्थिति हीन से हीनतर होती चली गई। यहाँ तो उसके अस्तित्व पर ही संकट मँडराने लगा। कन्या जन्म अशुभ माना जाने लगा जिसके

कारण कन्या शिशु हत्या जैसी परम्परा प्रारम्भ हुई। इसी समय भारत पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ। इस्लाम के भारत आगमन के पश्चात् सुरक्षा, विवाह, दहेज जैसे तमाम प्रश्नों के कारण कन्या जन्म को सामाजिक अप्रतिष्ठा का कारण माना जाने लगा। पर्दा प्रथा के प्रचलन ने स्त्री जीवन को जन्म से लेकर मृत्यु तक त्रासदीपूर्ण घटनाओं की अथक कहानी बना दिया। यद्यपि सती प्रथा के संकेत महाभारत आदि में भी मिलते हैं। जैसे महाराज पाण्डु की पत्नी माद्री पति के साथ सती हुई थी किन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रारम्भ में विधवाएँ स्वेच्छा से पति के साथ सती होती थी। बाद के समय में उन्हें सती होने के लिए बाध्य किया जाने लगा। जहाँ तक शिक्षा का सवाल था उच्च वर्ग की स्त्रियों के पढ़ने-लिखने के कुछ संकेत मिलते हैं। निम्न वर्ग या सामान्य वर्ग की स्त्रियों के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। "पुरुषों की शिक्षा के लिए साधन अपर्याप्त थे, सामान्य स्त्रियों की दशा उससे निम्नतर थी। बाल विवाह के कारण स्त्रियों के पास शिक्षा के अवसर न्यूनतम थे। घरेलू काम-काज की योग्यता ही भावी जीवन के लिए आवश्यक थी।"[14] मध्यकालीन समाज में सुरा-सुन्दरी का बोलबाला था। स्त्री, पुरुषों की विलासवृत्ति को पूर्ण करने का एक प्रमुख उपकरण थी। वह मात्र भोग्य वस्तु के रूप में ही अधिक देखी गयी।

आधुनिक काल में अंग्रेजों के भारत में आगमन तक स्त्रियों की स्थिति अत्यंत दयनीय हो चुकी थी। बाल विवाह, सती प्रथा, पर्दा प्रथा, अशिक्षा ने स्त्री जीवन को शोचनीय बना दिया था। किन्तु ब्रिटिश शासन काल में अंग्रेजों का स्त्रियों के प्रति खुला नजरिया और शिक्षा के प्रति विशेष सकारात्मक दृष्टिकोण के चलते स्त्री की स्थिति में कुछ सुधार आया। ताराबाई शिंदे इस संदर्भ में लिखती हैं कि "जब से यह राज शुरू हुआ, स्त्रियों को शिक्षा का वरदान मिला और उनमें इतनी मानसिक दृढ़ता आयी कि वे हर तरह की मानसिक और व्यावहारिक कठिनाइयों का हिम्मत से मुकाबला कर सकें। उनके दिल दिमाग में घर बना के बैठा अज्ञान का अंधकार दूर हुआ और उनमें यह समझ आनी शुरू

हुई कि उनके लिए क्या भला है, क्या बुरा है ? किससे कैसा बरताव करना चाहिए और जीवन की गाड़ी सही ढ़ंग से कैसे चलनी चाहिए ? उन्हें कुछ-कुछ समझ आने लगा है, धर्म और पातिव्रत्य क्या है ? इन सबसे इस भारत में चीजें काफी बदलने लगी हैं।"[15] आधुनिक काल में रूढ़ियों की श्रृंखलाओं में बंधी व गुलामी के एक लम्बे दौर को सहने के पश्चात् शनैः शनैः स्त्रियों ने अपने ऊपर ढाये जाने वाले अत्याचारों का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद विद्यासागर के सुचिंतित प्रयासों से सती प्रथा विरोध, विधवा पुनर्विवाह और स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किए गये। आर्य समाज ने दयानन्द सरस्वती के सहयोग से स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किये। पर्दा प्रथा का प्रखर विरोध किया गया। स्त्रियाँ घर की चाहरदीवारी से निकलकर समाज में अपनी सक्रिय भागीदारी दर्ज कराने लगीं। अब स्त्री समाज में अपनी महत्ता और अस्तित्व को पहचानने लगी थी।

नवजागरण काल में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों एवं अंधविश्वासों के साथ ही स्त्रियों में जागरुकता लाने के प्रयास होते रहे। भारतेन्दु मण्डल के लेखकों ने इस संदर्भ में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। स्त्री लेखिकाओं ने दबे स्वर में ही सही किन्तु स्त्रियों पर होने वाले अत्याचार एवं शोषण का प्रखर विरोध अपने लेखन के माध्यम से किया। पंडिता रमाबाई, ताराबाई शिंदे जैसी जागरुक और प्रखर व्यक्तित्व वाली स्त्रियाँ उभरकर सामने आईं।

स्वतंत्रता आंदोलन में स्त्रियों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इसके माध्यम से स्त्रियों ने अपने राजनीतिक महत्व की भी प्रतिष्ठा की। उस समय भी स्त्रियों की नेतृत्व क्षमता पर अविश्वास किया जाता रहा। तत्कालीन समय में गांधी और अम्बेडकर ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने स्त्रियों को प्रोत्साहित करने के साथ ही उनकी क्षमता पर विश्वास किया था। "गाँधी ने स्त्रियों से आग्रह किया कि वे 'बाहर निकलें' और संघर्ष में हिस्सा लें, वे निरंतर

इस बात पर जोर देते रहे कि रचनात्मक कार्य- कताई, खादी पहनना, पढ़ाना और 'सेवारत' रहना - उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि सभा में भाग लेना।"[16]

विश्व इतिहास में स्त्रियों ने पुरुषों के समकक्ष अपने महत्व और प्रतिभा को गौण आंके जाने के संदर्भ में प्रखर चुनौती प्रस्तुत की किन्तु पुरुष वर्चस्ववादी भारतीय समाज ने अपनी स्त्री को वह स्थान और अधिकार नहीं दिए, जो उसका हक था। स्वयं गांधी ने स्वीकार किया कि "कांग्रेस में पुरुष स्वतंत्रता संग्राम में स्त्रियों को समान स्तर पर नहीं देख पा रहे हैं। वे अपने आपको स्वामी एवं लार्ड ही समझते हैं। स्त्रियों को मित्र अथवा साथियों के रूप में स्वीकार नहीं करते।"[17] इस प्रकार स्त्रियों की महत्वपूर्ण भूमिका को मात्र सहयोगी या अनुगामी की भूमिका के रूप में स्वीकार किया गया।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में स्त्री अंग्रेजों की गुलामी से तो मुक्त हो गई किन्तु अब वह भारत की पुरुष वर्चस्ववादी सत्ता के अधीन कठपुतली मात्र बनकर रहने के लिए अभिशप्त हो गयी थी। पुरुषों ने स्त्रियों को किसी भी प्रकार की निर्णायक भूमिका प्रदान नहीं की। चाहे घर-परिवार हो या सत्ता सर्वत्र पुरुष की स्थिति मालिक की रही। समस्त अधिकार और निर्णय लेने की क्षमता उसने अपने हाथों में रखी। स्त्रियाँ लगातार शोषण और दमन का शिकार होती रहीं। यद्यपि आजादी के बाद स्त्रियों के शोषण और अधिकारों को लेकर सरकार सजग हुई। संविधान में स्त्री-पुरुष समानता बहाल की गई। स्त्रियों से संबंधित अनेक अधिनियम पारित किए गये। इन सबके चलते स्त्रियों में अपनी स्थिति को लेकर आत्मबोध जागा। वह अपने अधिकारों और क्षमता के विषय में सोचने लगी। पुरुषों द्वारा किए गए अनावश्यक शोषण और दमन के कारण स्त्री अपने व्यक्तित्व तथा आत्मसम्मान के विषय में सोचने के लिए विवश हुई। वह प्रत्येक स्तर पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराने लगी। लगभग पिछले 5-6 दशकों में स्त्री-विमर्श, स्त्री चेतना जैसे तमाम मुद्दे उभरकर सामने आने लगे हैं। स्त्रियों ने जागरुक होकर प्रत्येक तबके की स्त्री को उसके हक,

आजादी और अधिकारों से अवगत कराने का प्रयास किया है। आज भी स्त्रियों को लेकर अनेकानेक बहसें-कवायदें और वाद-विवाद चल रहे हैं। किन्तु तमाम उपलब्धियों के बावजूद उनका अस्तित्व आज भी एक सवाल बना हुआ है।

आज 21वीं सदी में उदारीकरण, भूमण्डलीकरण, बाजारवाद ने स्त्री को मात्र पण्य वस्तु बना दिया है। बाजारवाद के दौर में वह रुप सौन्दर्य की सजी-धँजी गुड़िया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। स्त्री मुक्ति के लिए सरकार द्वारा तमाम कानून निर्मित किए गए हैं। उन्हें समानता और निर्णय लेने की अधिकारसम्पन्नता देने के लिए अनेक कवायदें जारी हैं। निश्चित ही 'स्त्री दृष्टिकोण' और 'स्त्री के प्रति दृष्टिकोण' में बदलाव आया है। बावजूद इसके इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता है कि दहेज प्रथा, कन्या भ्रूणहत्या, बलात्कार, यौन उत्पीड़न की घटनाएँ समाज में आम हैं। आज हम स्त्री को चाहे कितना ही स्वच्छंद और उन्मुक्त क्यों न माने निःसंदेह वह पुरुष वर्चस्व तले जीने के लिए अभिशप्त है।

जिस सम्मान और समानता की बात लंबे अरसे से की जाती रही है वह स्त्री को आज भी प्राप्त नहीं हो पायी है। किन्तु यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि स्त्री के 'स्व' को बल मिला है, उसमें 'चेतना' जागृत हुई है। वह अपनी गुलामी के सामाजिक इतिहास से बाहर निकलने के लिए तत्पर हुई है।

ख. पितृसत्ता उर्फ़ पुरुषसत्ता

मानव सभ्यता के प्रारम्भिक काल में मातृसत्तात्मक समाज व्यवस्था थी। तत्पश्चात् पितृसत्ता के आगमन और फिर उसमें स्त्रियों की अधीनता की स्थिति तक का एक लम्बा इतिहास है। धीरे-धीरे मातृसत्ता के स्थान पर पितृसत्ता की जड़ें हावी होती गईं। इस सन्दर्भ में सिमोन के अनुसार ''जब दो मानव संवर्ग साथ रहते हैं, तो इनमें से प्रत्येक कोटि दूसरी कोटि पर अपनी सत्ता स्थापित करना चाहती है। यदि दोनों एक दूसरे का

निरोध कर सकें, तो एक पारस्परिक संबंध स्थापित होता है। यह संबंध कभी दुश्मनी का, कभी दोस्ती का और कभी तनाव का होता है। यदि इनमें से एक ज्यादा सुविधा सम्पन्न हुआ, तो वह दूसरे को अधीनस्थ कर लेता है।"[18] स्त्री-पुरुष के मानव संवर्ग में पुरुष अधिक प्रभावी होता गया और स्त्री पर अपना प्रभुत्व कायम करने में सफल रहा। इस प्रकार पितृसत्ता की नींव पड़ी।

पितृसत्ता के अन्तर्गत स्त्रियाँ पुरुषों के अधीन रहती हैं। पितृसत्ता के तहत परिवार का मुखिया पिता, भाई अथवा पुत्र होता है। स्त्रियों के छोटे-बड़े सभी निर्णय पुरुषों द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। पितृसत्ता को परिभाषित करती हुई गर्डा लर्नर लिखती हैं "पितृसत्ता, परिवार में महिलाओं और बच्चों पर पुरुषों के वर्चस्व की अभिव्यक्ति और संस्थागत तथा सामान्य रूप से महिलाओं पर पुरुषों के सामाजिक वर्चस्व का विस्तार है। इसका अभिप्राय है कि पुरुषों का समाज के सभी महत्वपूर्ण सत्ता प्रतिष्ठानों पर नियंत्रण रहता है और महिलाएं ऐसी सत्ता तक पहुँच से वंचित रहती हैं।"[19]

समय बदलने के साथ ही पुरुष में सत्ता के प्रति लोभ बढ़ता गया। निजी संपत्ति की अवधारणा रूप ग्रहण करने लगी। पुरुष संपत्ति का हस्तांतरण कर अपनी ही संतति को उत्तराधिकार में देता है। वास्तव में संतान पर कब्जा जमाने और वंश में अपना नाम कायम रखने की इच्छा से ही वह ऐसा करता है। पितृसत्ता ने स्त्री के अस्तित्व और अस्मिता पर प्रहार करने के साथ ही उसके मानस को भी अपने कब्जे में कर लिया। स्त्री धीरे-धीरे पितृसत्ता की सघन बुनावट में गुँथती चली गई। "पितृसत्ता ने स्त्री को उपभोग की वस्तु बनाया। उसे साधन के रूप में प्रयुक्त किया, उसके नाम, रूप, जाति, गोत्र सब अपने संदर्भ में परिभाषित किए।"[20]

पितृसत्ता के तहत पुरुषों ने स्त्रियों को जिन पहलुओं के तहत अपने अधीन किया उनमें सबसे महत्वपूर्ण पक्ष स्त्री की प्रजनन क्षमता है। "स्त्री में प्रजनन क्षमता होते हुए भी

पुरुष उसका स्वामी था, जैसे वह जमीन का स्वामी था। स्त्री की नियति थी पुरुष की अधीनता। प्रकृति की भाँति उसका भी शोषण पुरुष ने किया।"[21]

वास्तव में स्त्रियों की अपनी सीमाएँ थीं। मासिक धर्म, गर्भाधान, प्रजनन, प्रसव के चक्र में उलझे रहने के कारण स्त्री की क्षमता का ह्रास होता था। पुरुष ने स्त्री की इसी कमजोर स्थिति को अपने नियंत्रण का सबसे प्रमुख हथियार बना लिया। प्रजनन क्षमता के संदर्भ में गर्डा लर्नर के अनुसार "महिलाओं के अधीनीकरण के तह में यह सबसे प्रमुख कारण है। स्त्री की प्रजनन क्षमता को शुरू-शुरू में उस कबीले का संसाधन माना जाता था जिससे वह स्त्री संबद्ध होती थी। बाद में जब अभिजात शासक वर्गो का उदय हुआ तो वह शासक समूह के वंश की संपत्ति बन गई। सघन कृषि के विकास के साथ, मानव श्रम का शोषण और महिलाओं का यौन नियंत्रण एक-दूसरे से नजदीक से जुड़ गये। इस तरह स्त्री की यौनिकता पर नियंत्रण की आवश्यकता पैदा हुई और यह नियंत्रण निजी संपत्ति के उदय और वर्ग आधारित शोषण के विकास के साथ तीव्रतर होता गया। पितृवंशात्मक उत्तराधिकार में संपत्ति का हस्तांतरण पिता से पुत्र यानी सिर्फ पुरुषों के बीच होता है। इस उत्तराधिकार में एक स्त्री की यौन सेवाओं का सिर्फ एक व्यक्ति के लिए उपलब्ध होना आवश्यक होता है। यह सेवा सिर्फ पति के उपभोग तक ही सीमित रहती है ताकि सुनिश्चित किया जा सके कि जिसे संपत्ति सौंपी जानी है वह जीव वैज्ञानिक दृष्टि से वाकई उसी पुरुष की सन्तान है। वर्ग समाज की इस जरुरत की पूर्ति के लिए महिलाओं की यौनिकता को विवाह संबन्ध के भीतर तक ही सीमित रखने के लिए 'कानूनी एवं नैतिक प्रावधानों' की आवश्यकता होती है।"[22]

पितृसत्ता ने प्रारम्भ से ही मुख्यतः कृषि युग के बाद अपनी सम्पूर्णता हासिल करने के साथ ही स्त्री को अन्या की भूमिका प्रदान करने में सफलता अर्जित कर ली। उसे देवी और माँ के रूप में कभी गुलाम तो कभी अन्या के रूप में व्याख्यायित किया जाने लगा।

लेकिन पुरुष की समानधर्मा मनुष्य के रूप में उसे कभी कोई अधिकार नहीं दिए गए। "हम घर के भीतर परिवार के विभिन्न सदस्यों के बीच अधिकारों के संतुलन के संदर्भ में चाहे कितनी भी बात कर लें, लेकिन हमें यह भली-भांति समझ लेना चाहिए कि हमारी पूरी संस्कृति जीवन के सभी क्षेत्रों में पुरुष सत्ता का ही समर्थन करती है। और घर के बाहर-स्त्री को किसी भी कार्य के लिए बिल्कुल अनुमति नहीं दी जाती है।"[23] फ्रेजर के अनुसार ''पुरुष देवता बनता है, और औरत उसकी पूजा करती है। यह पुरुष ही था, जो निर्णय लेता था कि ईश्वर का चेहरा पुरुष का होगा कि नारी का।''[24]

''जिस सम्मान को वह भोगती थी, वह पुरुष का दिया हुआ था। पुरुष के हाथ प्रार्थना में देवी के सामने झुके, लेकिन उस देवी का निर्माता वह स्वयं था। वह यदि स्त्री को देवी के पद पर आसीन कर उसकी स्तुति कर सकता था, तो देवी को छिन्न-भिन्न करने की ताकत भी उसके पास थी। हालांकि प्राचीन समाज ने औरत की यह अधीनस्थता इतने खुले रूप में नहीं स्वीकारी थी, किन्तु ज्यों-ज्यों पुरुष का आत्मगौरव बढ़ा प्रकृति का शोषण चालाकी से करने के साथ ही वह युक्तिसंगत ढंग से औरत का भी शोषण करने लगा।''[25]

यह सब पुरुष ने अपनी जैविक विशिष्टता के कारण ही किया। अपनी इसी जैविक विशिष्टता या यों कहें कि शारीरिक बलिष्ठता के कारण ही वह स्त्री और समाज पर अपना प्रभुत्व कायम करने में सफल रहा। अपनी इसी प्राकृतिक देन के कारण आज सदियों बाद भी वह अपनी सुदृढ़ स्थिति को निरन्तर कायम रखने में सफल रहा है। पितृसत्ता के उदय के साथ ही पुरुष ने समाज की समस्त प्रभावी इकाइयों पर अपना दबाव बनाना प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे समस्त बौद्धिक और वैचारिक शक्तियाँ उसने अपने नियंत्रण में ले लीं। अब स्त्री की यौनिकता पर नियंत्रण के साथ ही उसकी श्रम शक्ति पर भी नियंत्रण किया जाने लगा। पितृसत्तात्मक व्यवस्था के तहत पुरुष जो भी कार्य करता है उसका मूल्य आंका जाता है किन्तु स्त्री श्रम का कोई मूल्यांकन नहीं किया जाता है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था

में "घर के भीतर और बाहर स्त्रियों की उत्पादकता पर पुरुषों का नियंत्रण रहता है और यह फैसला भी उन्हीं के हाथ में रहता है कि वह घर के बाहर जाकर काम करेंगी या नहीं। स्त्रियों के श्रम पर नियंत्रण का अर्थ है कि पुरुष स्त्रियों के अधीनीकरण से आर्थिक लाभ प्राप्त करते हैं।"[26] इस प्रकार लगभग आधी आबादी के श्रम को बिना किसी मूल्य के पितृसत्ता ने अपने हित में उपयोग किया है।

पितृसत्ता ने स्त्री को वे सब सुविधाएँ दीं जो जीने के लिए आवश्यक हैं। मसलन भोजन, वस्त्र और छत। किन्तु इसके बदले उसके समस्त क्रिया-कलापों और अधिकारों को अपने हाथ में लेकर उस पर अपना आधिपत्य भी कायम कर लिया। यह सब तब से होता आ रहा है जब से पितृसत्ता की नींव पड़ी। आज 21 वीं सदी में जब स्त्री ने थोड़ी-बहुत घर की चहारदीवारी से बाहर निकलकर अपनी पहचान बनानी प्रारम्भ की है (पुरुष संरक्षणकर्ता के चाहने पर) तब भी उसकी स्थिति उस निरीह प्राणी जैसी ही है जिसे खूँटे से बाँध कर रखा जाए और उसकी रस्सी को उतना ही लम्बा किया जाय जिससे कि वह कोई नुकसान न करने पाए। "पितृसत्तात्मक समाज स्त्री के मुद्दे पर सोचना नहीं चाहता। न यह स्वीकारना चाहता है कि ऐतिहासिक विकास के दौरान आधुनिक स्त्री ने अपने लिए अलग से कुछ भी हासिल किया है। वह स्त्री की चुनौती को महज एक बचकाना हरकत मानकर कभी उसे मारता है तो कभी बहलाता-फुसलाता है। मगर पितृसत्ता की आंतरिक इच्छा यही है कि समर्पण एकतरफा हो। ऐसे में बने बनाये ढांचे से तरल मानवीय सम्बंध ढह जाते हैं और नित नयी विविधता की सृष्टि करते हैं।"[27]

वास्तव में पितृसत्तात्मक व्यवस्था के तहत पुरुष वर्चस्व इस कदर व्याप्त रहा कि स्त्री की जरुरतें कभी भी पुरुष के समकक्ष नहीं मानी गईं। स्त्री-पुरुष का सम्बंध गुलाम और मालिक का, शोषित और शोषक का रहा है। पितृसत्ता ने स्त्री को तमाम संस्कारों और मूल्यों की बेड़ियाँ इतनी सघनता से पहनायी कि वे स्वयं को कभी देवी के रूप में तो कभी

दासी के रूप में ही सार्थक मान बैठी। निश्चित ही मातृसत्ता से पितृसत्तात्मक समाज के निर्माण के पीछे जबरदस्त वैचारिक आधार रहा है। एंगेल्स ने ठीक ही कहा है कि ''मातृसत्ता का विनाश स्त्री जाति कि विश्व-ऐतिहासिक पराजय थी। अब घर के अन्दर भी पुरुष ने अपना आधिपत्य जमा लिया। स्त्री अपने पद से वंचित कर दी गयी, पुरुष की वासना की दासी, संतान उत्पन्न करने का एक यंत्र मात्र बनकर रह गयी।"[28]

ग. स्त्री की गुलामी के प्रमुख उपकरण : परिवार, समाज, अर्थतंत्र तथा धर्म

परिवार मानव समाज की सबसे महत्वपूर्ण समिति एवं संस्था है। यहीं से व्यक्ति के भावी विकास और प्रगति संबंधित बीजारोपण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। परिवार ही वह प्राथमिक संस्था है जहाँ से सामाजिक प्राणी के रूप में ढलने की प्रक्रिया भी प्रारम्भ होती है। ''परिवार दो दृष्टिकोणों से समझा जा सकता है एक तो कार्यात्मक इकाई के रूप में मानव की सार्वभौमिक एवं स्थायी संस्था के समान इसका अध्ययन किया जा सकता है...एवं दूसरे रूप में परिवार का अध्ययन एक समूह या एक जानबूझकर निर्मित समिति के रूप में किया जा सकता है।''[29]

भारतीय समाज में परिवार एक वृहत्तर इकाई है। जिसके तहत संबंधों की एक लम्बी श्रृंखला निहित रहती है। भारत में पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था है। ''भारतीय समाज में पितृसत्ता का अर्थ परिवार सत्ता है। परिवार के भीतर संबंधों का जो ताना-बाना कार्यरत है उसमें हम दो, हमारे दो की तर्ज पर केवल पति-पत्नी और संतति ही नहीं, प्रायः पितामह पीढ़ी भी शामिल होती है। शहरी मध्यवर्ग और उच्चतर मध्यवर्ग की बात छोड़ दें तो वे प्रायः एक ही छत के नीचे रहते हैं, और अगर नहीं भी रहते तो परस्पर दायित्व और अधिकार के सूत्रों से बंधे रहते हैं। समूचे संबंधजाल को मिलाकर परिवार से बढ़कर खानदान और खानदान से बढ़कर कुटुम्ब कबीले तक को गिना जाता है।''[30]

पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में परिवार का मुखिया पुरुष होता है। यह पुरुष पिता, भाई अथवा पुत्र कोई भी हो सकता है। समस्त पारिवारिक कार्य पुरुष के निर्देशन अथवा अनुशासन में ही सम्पन्न होते हैं। स्त्री की कोई स्वतंत्र स्थिति पारिवारिक संस्था के भीतर दिखाई नहीं पड़ती। जबकि परिवार स्त्री-पुरुष संबंधों की सघन बुनावट का ही परिणाम है। स्त्री, पुरुष के बनाये नियमों का पालन करके और उसकी इच्छानुसार कार्य करने पर ही मान-सम्मान प्राप्त कर सकती है। पुरुष की इच्छा के विरूद्ध न वह घर से बाहर कदम रख सकती है, न ही शिक्षा प्राप्त कर सकती है और न धनार्जन। कुल मिलाकर परिवार में स्त्री पुरुष द्वारा शोषित एक गुलाम के अतिरिक्त कुछ नहीं है। "जिस तरह हर संपत्ति-साम्राज्य लूट, ठगी और अपराध की बुनियाद पर टिका होता है ठीक उसी तरह हर परिवार का ताना-बाना स्त्री की गुलामी और अस्मिता-विहीनता की बुनियाद पर खड़ा है- चाहे वह मध्ययुगीन पितृसत्तात्मक ढांचे वाला सामन्ती संयुक्त परिवार हो या पूंजीवादी ढंग से संगठित परिवार। परिवार वर्ग-निरपेक्ष संस्था नहीं। परिवार का प्यार मूल्य-मुक्त प्यार होता ही नहीं।"[31]

पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में प्रारम्भ से ही यह माना गया कि स्त्री पारिवारिक संबंधों का निर्वाह पूर्ण सजगता से करे। इस कारण वह बेटी, पत्नी, माँ, ताई, बुआ आदि संबंधों के रूप में ही समाज के सम्मुख प्रस्तुत रही। इन संबंधों को निबाहने के क्रम में उसका अपना 'स्व' और 'अस्तित्व' कहीं विलुप्त हो गया। वह किसी भी रूप में अपनी स्थायी जड़ें कायम नहीं कर पायी। वास्तव में "पारिवारिक संबंधजाल में स्त्री को माँ और पत्नी के रूप में जो हैसियत मिलती है वह पुरुष के जरिए से। बेटी की कुल हैसियत भावी है- पराए घर में पत्नी और माँ। इसे अर्जित होना अभी बाकी है। लेकिन मायके पर उसके अभिवादन और मेरे घर के संस्कार जैसे वचनों में परिवार की जड़ें बोलती हैं। लेकिन उसे किसी दूसरे घर की रीत और दूसरे कुल के संस्कारों में ढलना है। यह सत्य उसे अपने परिवार में जड़विहीन ही रखता है।"[32]

जब से 'परिवार' नामक संस्था की नींव पड़ी तथा पितृसत्ता कायम हुई तब से लेकर अब तक स्त्री अपने 'स्व' को कायम रखने के लिए संघर्षरत रही है। ''इतिहास में पीछे की ओर चलें। एक विवाह प्रथा की स्थापना के साथ ही एक ओर जहाँ मानव सभ्यता के उच्चतर, अधिक वैज्ञानिक मूल्यों का जन्म हुआ, वहीं पुरुष द्वारा स्त्री के दास बनाये जाने की शुरुआत भी यहीं से हुई। धीरे-धीरे स्त्री एक सजीव, पारिवारिक संपत्ति में रूपान्तरित होती चली गई। संपत्ति-संचय और कानूनी वारिसों को उसका हस्तान्तरण परिवार का मुख्य उद्देश्य बन गया।''[33]

जहाँ तक पारिवारिक पूँजी में स्त्री के हिस्से की बात है कानून द्वारा इसकी अनुमति दे दिये जाने पर भी व्यावहारिक तौर पर निषेधित ही है। यदि पैतृक संपत्ति अथवा पूँजी पर हक की बात छोड़ भी दी जाए (हांलाकि यह परिवार का सदस्य होने के नाते उसका जायज हक है) तो भी घर के बाहर अथवा भीतर उसके द्वारा किए गए श्रम पर पहला अधिकार उसके परिवार का होता है। घर पर किए कार्य का कोई मूल्य नहीं आंका जाता है और बाहर उसके कार्य करने की क्षमता पर विश्वास नहीं किया जाता है। वास्तव में यह पुरुषसत्ता की कुचालें हैं जहां स्त्री को घर परिवार से जुड़ी ऐसी घरेलू वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है कि उसके श्रम का कोई मूल्य ही नहीं आंका जाता। ''घर के भीतर हो अथवा कामकाजी क्षेत्र में, दोनों जगह औरतों की बनायी चीजें न तो पुरुषों के उत्पादनों की तुलना में घटिया हैं और न ही तादात में गिनी-चुनी। पर इसके बावजूद दोनों ही जगह स्त्री के काम की खास मान्यता नहीं, क्योंकि उसे परिवार से जुड़ी घरेलू और एतदर्थ निष्क्रिय सदस्य ही कहा जाता रहा है। इसके एक ओर तो यह धारणा बलवती होती चली गयी है, कि स्त्रियों की उत्पादन क्षमता पुरुषों की तुलना में घटिया है और दूसरी यह, कि मातृत्व और गृहस्थी में लिपटी-लिपटायी स्त्री चुस्ती, जिम्मेदारी और प्रशिक्षण से जुड़े कामों को सँभालने के लायक नहीं है। लम्बे अर्से से कहा जाता रहा है कि स्त्री का मुख्य काम है घर-बच्चे सँभालना और एतदर्थ उसका पहला कर्तव्य बनता है अपनी मेहनत को

यथासंभव घर की जरुरतों के मुताबिक घर में लगाना। यदि अपने घर के लिए करने के साथ वह अतिरिक्त उत्पादन भी करती है, तो वह उसका नंबर दो काम है, जिसे वह घर की जरुरतों का दबाव पड़ते ही छोड़ भी देगी। घर में बैठकर वह बीड़ी बनाये, या जरी के हार, चिकन की कढ़ाई करे या सल्में-सितारे की - इन्हीं कामों को करने वाले पुरुष से उसकी दिहाड़ी कम होगी और जो मिलेगी भी, उस पर पहला हक उसके परिवार का माना जायेगा।''[34] इस प्रकार परिवार में या परिवार के इतर स्त्री के श्रम का न कोई मूल्य है न ही उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता या पहचान।

''पुरुष-स्त्री तथा बच्चों को आसरा देने वाली परिवार संस्था, मानवीय सभ्यता की एक बुनियादी इकाई है, जिसका कोई विकल्प नहीं। पर इस इकाई के भीतरी शक्ति-समीकरण, जो अंततः पूरे राष्ट्र का आर्थिक-सामाजिक परिदृश्य तैयार करते हैं, अपने यहाँ तमाम बदलावों के बावजूद सदियों से वे ही रहे हैं। इससे अहित औरतों का भी हुआ है और पुरुषों के लिए कामयाबी का मॉडल रहा, ताकत के चरम पूंजीभूत प्रतीक 'मर्द' का, जबकि स्त्रियों के लिए निष्क्रिय सहचरी का स्वरूप उत्तम माना गया। क्या फिर उन दोनों के रिश्ते में प्यार की जगह बच रहती है ? यह अपने ही यहाँ नहीं, दुनियाँ-भर में हुआ है।''[35]

वर्तमान में भारत जैसे देश में निरंतर संयुक्त परिवार व्यवस्था विश्रृंखलित होकर एकल परिवार व्यवस्था का रूप धारण करती जा रही है। तब भी ''हर व्यक्ति स्त्री हो या पुरुष, के पास एक से अधिक भूमिकाएं और उनको निबाहने का दायित्व है। यहाँ बोझ है, घुटन है, तनाव है, तरह-तरह के भावात्मक और आर्थिक शोषण हैं, द्वेष है, प्रतिद्वंद्विता है, षड्यंत्र है, मारण, मोहन, उच्चाटन है लेकिन इसके शायद अपने मुआवजे भी हैं। वैसे क्यों पिछले सौ सालों से टूटने की कगार पर होने के बावजूद या तो अपने तंत्र के लचीलेपन की वजह से या फिर भारतीय स्वभाव व संस्कार में निहित अकेलेपन के भय से या एक बने-बनाये सपोर्ट-सिस्टम के मोह से या जिस किसी भी वजह से वह चलता चला

जा रहा है और थोड़े बहुत फेर-बदल के बावजूद आकार में भी जस का तस है। थोड़े बहुत बदलाव को स्वीकृति देने वाली दुनिया से कई गुना ज्यादा बड़ी दुनिया बदलाव को रोके खड़ी है।''[36]

निश्चित ही परिवार स्त्री-पुरुष के जीवन का सबसे बड़ा नैतिक सम्बल है। यही मनुष्य जीवन का प्रथम कर्मस्थल भी है। किन्तु स्त्री के संदर्भ में परिवार नामक संस्था पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण की आग्रही रही है। इसीलिए परिवार में न तो उसकी कोई निर्णायक भूमिका है और न ही कोई स्वतंत्र सत्ता। ''निःसंदेह यह ताना-बाना स्त्री के साथ अन्याय का प्रथम घटनास्थल है।''[37] स्त्री की गुलामी का प्रमुख उपकरण भी यही रहा है।

भारतीय स्त्री की गुलामी का इतिहास उसकी स्थिति के बद से बदतर होते जाने की कहानी मात्र है। वैदिक युग से लेकर आज तक स्त्रियों के संदर्भ में तमाम सामाजिक नियम बनाये जाते रहे हैं। समय के साथ इन नियमों ने रूढ़ियों का रूप धारण कर लिया है। ''यदि वह ध्यान से देखें तो ज्ञात होगा कि बहुत काल से स्त्री की स्थिति समाज का विकास नापने के लिए मापदंड रही है। नितांत बर्बर जाति में स्त्री केवल विनोद का साधन और अधिकार में रखने की वस्तु समझी जाती रही। आज भी जंगली जातियों में स्त्री की वह स्थिति नहीं है, जो सभ्य समाज में मिलेगी। उस आदिम युग में मातृत्व स्त्रीत्व का आकस्मिक परिणाम था जिससे जाति तो लाभ उठाती थी, परन्तु स्त्री उपयोगी यंत्र से अधिक गौरव नहीं पाती थी। तब स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध भी अपने क्षणिक विनोद और उत्तरदायित्वहीनता के कारण पशुत्व का ही एक रूप था। वह यदि पशुत्व से निकृष्ट नहीं कहा जा सकता तो उत्कृष्ट होने का गर्व भी नहीं कर सकता। कहीं पुरुषों का समूह का समूह स्त्री-समूह से विवाहित था, कहीं एक पुरुष के अधिकार में पालतू पशुओं के समान बहुत सी स्त्रियाँ थीं और कहीं स्त्री की संख्या न्यून होने के कारण अनेक पुरुष एक स्त्री पर अधिकार रखते थे। सारांश यह कि जहाँ जनसंख्या के अनुसार जैसी आवश्यकता थी

वैसे ही नियम बन गये। जाति की वृद्धि और पुरुषों के मनोविनोद का साधन होने के अतिरिक्त स्त्री का कोई और उपयोग नहीं था।''[38]

बीती हुई सदियाँ भी समाज में स्त्री की विकृत होती स्थिति को ही दर्शाती हैं। पर्दा प्रथा, बाल विवाह, बहुपत्नी प्रथा, सती प्रथा, दहेज प्रथा जैसी अनेक सामाजिक कुरीतियाँ स्त्री के अस्तित्व और अस्मिता को कुचलने के हथियार ही माने जाने चाहिए। जैसे-जैसे समाज का विकास होता गया वैसे ही सभ्य बनने के नाम पर स्त्री पर और अधिक सामाजिक विधान थोपे जाने लगे। ''सिर झुकाने वाली स्त्री ही श्रेष्ठ मानी गई है। उन विनीता को संस्कृति की बूढ़ी परी ने गले लगा लिया। जिंदा बने रहने के आश्वासन के साथ वाहवाही के तमगे और चमकदार संबोधन, मनमाने सिंहासन, इन सबका लोभ चमत्कार से कम न था। परम्पराओं, रूढ़ियों, रस्मों-रिवाजों के फंदे में कसती हुई स्त्री 'डोली से अर्थी तक' की यात्रा के लिए मालिक के सामने शपथबद्ध हुई। सतीत्व की नागफांस गले में डालकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश के सिंहासन हिला देने वाली सती-कथाओं की दासता स्वीकार करती रही। धार्मिक शास्त्रों की नैतिकता पर खरी उतरने के लिए अपने अस्तित्व को होम करने में गुरेज नहीं किया। हौसला खत्म होने पर खतरे टल जाते हैं। संस्कारी समाज ने उस व्रती नायिका, स्वामी की सेविका सद्गृहस्थिन को घर की चौखट और आंगन के हवाले करके अपने काम-काज संभाले। राजनयिकों ने उसे सती रूप में जौहर करते देखा तो कभी विधवा होकर मरने से बदतर जीवन जीते पाया। पुरुष समाज पर पूरी तरह आश्रित स्त्री कमजोर भी मानी गई, अक्षम भी ठहराई गई। मालिक के बिना उसका कद न कायदा।''[39]

जब से सामाजिक संस्था का जन्म हुआ तब से लेकर आज तक स्त्री-पुरुष संबंधों में संतुलन का अभाव ही दिखाई देता है। इसका प्रमुख कारण है पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था और उसके तहत स्त्री की भूमिका को लगभग नगण्य बना दिया जाना। समाज में कभी भी स्त्री की निर्णायक भूमिका नहीं रही। ''लड़कियों के लिए किस-किस काम की

मनाही है और किस-किस की अनुमति, इसका निर्णायक कभी कोई महिला नहीं बनी। 'समाज के ठेकेदार' कहने से जिसका बोध होता है, वे सभी पुरुष हैं। लड़कियाँ जो भी काम करने के लिए आगे बढ़ती हैं या पीछे हटती हैं, वे सब पुरुष की पसंद के अनुसार ही तय होता है। उनको पसन्द नहीं आया तो लड़कियाँ गईं। समाज के नीतिवाक्यों में लड़कियों के लिए जितनी मनाही है, वर्तमान में पुरुषों की मनाही उसका एक प्रतिशत भी नहीं है।''[40]

अप्रत्यक्ष सामाजिक विधान के अनुसार स्त्री को न तो निर्णय लेने का हक है, न ही स्वतंत्र जीवन जीने अथवा अपने भविष्य के संदर्भ में सोचने का अधिकार। सामाजिक नियमानुसार उसके जीवन का फैसला पिता-पुत्र ही करेंगे। आज भी यह स्थिति बनी हुई है। इसका कारण है सदियों से दासता से ग्रसित स्त्री परम्परागत विधानों का विरोध करने का साहस नहीं जुटा पाती है। ऐसे में स्त्रियों की स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है।

ऐसी समाज व्यवस्था जिसके सभी नियम एकपक्षीय हों, कई सवाल पैदा करती है। भारत को स्वतंत्र हुए 64 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। आज स्त्री को लेकर तमाम बहसें जारी हैं। किन्तु आज भी उसे सामाजिक स्तर पर सामान्य मनुष्य की तरह रहने नहीं दिया जाता है। ''भारतीय नारी का समाज में क्या स्थान है ? इस पर किये गये विस्तृत सरकारी सर्वेक्षणों से पता चलता है कि संविधान में नारी को चाहे कितने ही समानाधिकार क्यों न दिये गये हों, वास्तव में समानता की संवैधानिक सुरक्षा केवल कागजों में ही है। वास्तविक जीवन में नारी का स्थान अत्यन्त नीचा है। कागजों में तो महिलाओं को राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और वैधानिक समानाधिकार दिये गये हैं लेकिन अधिकांश अनपढ़ नारी का जीवन कुओं से पानी खींचते, ईंधन इकट्ठा करते और गृहस्थी ढोते ही गुजरता है। तकनीकी परिवर्तनों के कारण उसका आर्थिक गतिविधियों में सहयोग कम हो गया है। दूसरी ओर महिलाओं और किशोरियों के लिए शिक्षा में प्रगति नाममात्र ही हुई है जबकि नारी के प्रति अपराधों की फेहरिस्त लम्बी है।''[41]

आज स्त्रियों की स्थिति में बीती शताब्दियों की तुलना में काफी परिवर्तन आया है। आज अधिकांश युवतियाँ पढ़-लिख रही हैं। इसके साथ ही कामकाजी महिलाओं की तादात भी काफी है। किन्तु सूक्ष्मता से यदि उनकी सामाजिक स्थिति पर विचार किया जाए तो उनकी सामाजिक भागीदारी की डोर उतनी ही लम्बी है जितनी की पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था द्वारा निर्धारित की गई है। किन्तु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि ''जैसे-जैसे हमारा समाज अपने आधे सदस्यों से अधिकारहीन बलिदान और आत्मसमर्पण लेता जा रहा है, वैसे-वैसे वह भी अपने अधिकार खोता जा रहा है। यह समाज के असन्तोषपूर्ण वातावरण से प्रकट है। आज के समाज की जो स्थिति है, उसकी उपयुक्त परिभाषा कठिनाई से दी जा सकेगी। वह कुछ विशेष अधिकार सम्पन्न और कुछ नितांत अधिकारशून्य व्यक्तियों का ऐसा समूह है, जो उपयोगिता से नहीं वरन् परम्परागत धारणा से बँधा है। कहीं संतोष की अतिवृष्टि है और कहीं असंतोष की अनावृष्टि, जिससे सामाजिक जीवन का सामन्जस्य नष्ट होता जा रहा है।''[42]

स्त्री की पारिवारिक या सामाजिक स्थिति बहुत कुछ उसकी आर्थिक आत्मनिर्भरता अथवा आर्थिक स्थिति पर भी निर्भर करती है। आज के पूँजी केन्द्रित दौर में आर्थिक आधार के बिना सामाजिक स्थिति का वास्तविक निर्णय कर पाना मुश्किल है। इसीलिए स्त्री की गुलामी के प्रमुख उपकरण के रूप में उसकी आर्थिक स्थिति की पड़ताल किया जाना भी आवश्यक है।

स्त्री की गुलामी का सबसे बड़ा कारण है उसका आर्थिक रूप से परतंत्र होना। आदिम काल से ही परिवार के भरण-पोषण का दायित्व पुरुष के कंधे पर रहा जिसके कारण आर्थिक सत्ता की बागडोर भी उसी के हाथ में रही। आर्थिक सम्पन्नता और संपत्ति पर अधिकार व्यक्ति को प्रभुत्व प्रदान करते हैं। किन्तु स्त्री के लिए ऐसी सम्पन्नता लगभग न्यूनतम रही। प्रारम्भिक व्यवस्था में भी ''नारी के लिए दो तरह की वृत्ति समाज में

स्वीकृत थी, पहली दासी-वृत्ति और दूसरी गणिका-वृत्ति। नारी की अपनी कोई संपत्ति नहीं थी। पिता या पति के धन पर भी उसका अधिकार स्वीकृत नहीं था।"[43]

लम्बे पारिवारिक और सामाजिक दायित्व को झेलने के पश्चात् जब स्त्री ने अपनी स्थिति का विश्लेषण करने का प्रयास किया तब उसे अपनी दयनीय स्थिति के मूल में आर्थिक परावलम्बन प्रमुखता से नजर आया। अर्थ का अभाव और स्वावलंबन की इच्छा दोनों ने स्त्री को घर से बाहर निकलकर अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने के लिए प्रेरित किया। किन्तु अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की एक रिर्पोट के अनुसार "पुरुषों के बराबर आर्थिक और राजनीतिक सत्ता पाने में औरतों को अभी हजार वर्ष लगेंगे। दुनिया की 98 प्रतिशत पूँजी पर पुरुषों का कब्जा है।"[44] तात्पर्य यह है कि स्त्री के हिस्से में अभी कुछ भी नहीं है। आर्थिक स्वतंत्रता और अधिकार प्राप्त करने के लिए उसे नये सिरे से शुरुआत करनी होगी।

एक ओर जहाँ स्त्री के घरेलू श्रम को दोयम दर्जे के रूप में देखा जाता है वहीं दूसरी तरफ बाहरी कार्यक्षेत्र में भी उसके द्वारा किए जाने वाले श्रम का अवमूल्यन किया जाता रहा है। घर-बाहर सर्वत्र उसकी हैसियत दोयम दर्जे के नागरिक के रूप में है। "औरत का श्रम पूरी दुनियां में मर्द के श्रम से सस्ता है। पूरी दुनियां के कुल श्रम का 2/3 भाग औरतें करती हैं जबकि उन्हें कुल मजदूरी का मात्र 1/3 भाग ही मिलता है। मजदूर औरत के अतिरिक्त श्रम का दोहन मजदूर पुरुष से अधिक है। घर के भीतर की स्थिति भी यही है। साथ ही, गुलामों की फौज की तरह औरतों की भारी आबादी आज भी अनुत्पादक श्रम में लगी हुई है। इसी समानुपातिक संबंध में मध्य वर्ग की औरत भी मध्य वर्ग के पुरुष से अधिक शोषित है। उच्च वर्गों के औरतों की नागरिकता भी दोयम दर्जे की है, हांलाकि अपनी वर्ग-स्थिति के कारण वे नारी-संघर्ष के सही झंडे के नीचे कदापि संगठित नहीं होंगी।"[45]

आज के पूँजीवादी दौर में आर्थिक स्वाधीनता ही वास्तविक स्वाधीनता है। स्त्रियाँ भी इस स्वाधीनता को प्राप्त करने के लिए जी-तोड़ मेहनत कर रही हैं। किन्तु श्रम के लैंगिक विभाजन के कारण उनकी मेहनत और श्रम को पुरुष श्रम से कम आंका जाता है। जबकि ''ऐसे बहुतेरे क्षेत्र हैं जहाँ स्त्री श्रमिक ही सफल काम कर पाती हैं लेकिन वहाँ भी स्त्री को कम पैसे दिये जाते हैं ऐसा क्यों होता है ? इसलिए नहीं कि वह कम काम जानती है या कम काम कर रही है या काम पर उसका दखल नहीं है, बल्कि इसलिए कि वह स्त्री है। अतः श्रम के शोषण में, उसके हित में कुछ करने की अपेक्षा, राज्य का भी सहयोग है। बस केवल एक यही कारण है कि वह स्त्री है, उसके हित में कुछ करने की अपेक्षा, राज्य ने भी प्रबंधन के साथ उसके शोषण में सहयोग दिया है। स्त्री के सस्ते श्रम से राष्ट्रीय अर्थतंत्र को डॉलर भले ही ज्यादा मिले हों, पर उसे अधिक सुविधा नहीं मिली। भेदभाव का नतीजा है कि सामाजिक असमानता अब भी बनी हुई है।''[46] भेदभाव की नीति के कारण ही आज स्त्रियाँ पूरी तरह से संतुष्ट नहीं है। बाहरी क्षेत्र में काम करने वाली स्त्रियों को भी न तो पूर्ण रूप से संतुष्ट कहा जा सकता है और न असंतुष्ट। वे स्वयं को बीच की स्थिति में पाती हैं।

वर्तमान समय में बाजारवाद और पूँजीवाद के दौर में जहाँ स्त्रियों ने काफी हद तक आर्थिक संबलता प्राप्त की है वहीं दूसरी तरफ बाजार और उपभोक्ता केन्द्रित अर्थतंत्र में स्त्री का शोषण करने और उसे गुलाम बनाने के नये-नये प्रलोभनकारी तरीके भी इजाद किए जा रहे हैं। ''आज का बाजारवाद जिस तरह अपने समूचे मायाजगत के साथ हमारे सामने आया है, उसके तहत जिस उपभोक्ता अपसंस्कृति का गलीज चेहरा उद्घाटित हुआ है, हम देख रहे हैं कि वह अपनी मुक्ति की आत्मछलना में विभोर आज भी तथाकथित मुक्त नारी का किस बेशर्मी से अपने हित में इस्तेमाल कर रही है। यह स्त्री आज अपने नग्नतम रूप में मुनाफाखोर पुरुष मानसिकता का शिकार बनकर एक माल, एक मांस पिण्ड, एक देह के रूप में उपभोक्ताओं के समक्ष परोसी और प्रायोजित की जा रही है। इस

उपभोक्ता संस्कृति का जहाँ भी, और जहाँ तक प्रसार है, स्त्री वहाँ बिक रही है, बेची जा रही है। और यह वह स्त्री है जो दावा करती है कि उसने पुरुष वर्चस्व को तोड़कर अपनी अस्मिता को बहाल किया है, अपनी स्वतंत्रता को अर्जित किया है। पुरुष उसके इस भोलेपन पर हँस रहा है और गुलामी के सुख के नशे को उसकी धमनियों में और भी गहरे उतार रहा है।"[47]

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि आज स्त्रियाँ अपनी जीविका के लिए पूर्णतः पुरुष पर निर्भर नहीं रह गईं हैं। कार्यक्षेत्र में स्त्रियों ने पुरुषों के समान कार्य कर अपनी क्षमता को सिद्ध कर दिया है। इस आर्थिक स्वतंत्रता के मिलने पर भी स्त्रियाँ दूसरे प्रकार के शोषण का शिकार हो रही हैं। उनसे उम्मीद की जाती है कि वे घर और बाहर का संतुलन बनाए रखें। आर्थिक क्षेत्र में पुरुषों के समान कार्य करें व घर में कुशल गृहणी की भूमिका निभाएँ। इस प्रकार वह घर और बाहर दोहरी भूमिका का निर्वाह कर रही हैं। "एक ही समय में स्त्री और पुरुष दोनों की भूमिकाओं में जीने के कारण वह अपने काम को कई गुना बढ़ा लेती है नतीजा होता है थकान और ऊब।"[48] जबकि ऐसी कोई भी विवशता पुरुषों के लिए नहीं है। स्त्री चाहे बाहरी कार्यक्षेत्र में कितनी भी प्रगति क्यों न हासिल कर ले उसका मूल कार्यक्षेत्र घर की चहारदीवारी के भीतर ही माना जाता रहा है। हम एक ऐसी व्यवस्था के भीतर जीने के लिए अभिशप्त हैं जहाँ स्त्री और पुरुष के लिए अलग-अलग भूमिकाएँ निर्धारित की गई हैं।

अर्थव्यवस्था के निर्धारण में भी पुरुषों का ही वर्चस्व अधिक है। इसलिए शिक्षित और रोजगार सम्पन्न स्त्रियाँ भी कहीं न कहीं परतंत्रता का अनुभव करती हैं। जबकि आवश्यकता इस बात की है कि "स्त्रियों को काम मिले। काम के बदले सही पगार मिले। साथ ही नजरिया बदले स्त्रियों के कामकाज के क्षेत्रों में जिन गुणों की मांग की जाती है उन गुणों के प्रति भी सचेतनता और नए मूल्यों के निर्माण की जरुरत है। कामकाजी

औरतों के श्रम को स्वीकृति देने के साथ-साथ गृहणियों के श्रम को भी स्वीकृति दी जानी चाहिए।''[49]

स्त्री की गुलामी का मूल कारण उसकी शारीरिक कमजोरी से कहीं अधिक उसे मानसिक रूप से कमजोर बना दिया जाना है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था होने के कारण कभी भी स्त्री की क्षमताओं का सही आकलन नहीं हो पाया है। घरेलू और पारिवारिक श्रम को कभी कोई महत्व दिया ही नहीं गया, बाहरी क्षेत्र में उसके द्वारा किए जाने वाले कार्य को भी यथोचित पारिश्रमिक और सम्मान अब तक प्राप्त नहीं हो सका है। आज के तथाकथित उत्तर आधुनिक समाज में भी पुरुषसत्ता द्वारा निर्धारित अर्थतंत्र की गुलामी को स्त्री झेल रही है। वास्तव में ''अर्थ सामाजिक प्राणी के जीवन में कितना महत्व रखता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इसकी उच्छृंखल बहुलता में जितने दोष हैं वे अस्वीकार नहीं किए जा सकते, परन्तु इसके नितांत अभाव में जो अभिशाप हैं, वे भी उपेक्षणीय नहीं। विवश आर्थिक पराधीनता अज्ञात रूप में व्यक्ति के मानसिक तथा अन्य विकास पर ऐसा प्रभाव डालती रहती है, जो सूक्ष्म होने पर भी व्यापक तथा परिणामतः आत्मविश्वास के लिए विष के समान है। दीर्घकाल का दासत्व जैसे जीवन की स्फूर्तिमती स्वच्छंदता नष्ट करके उसे बोझिल बना देता है, निरन्तर आर्थिक परवशता भी जीवन में उसी प्रकार प्रेरणा-शून्यता उत्पन्न कर देती है। किसी भी सामाजिक प्राणी के लिए ऐसी स्थिति अभिशाप है जिसमें वह स्वावलम्बन का भाव भूलने लगे, क्योंकि इसके अभाव में वह अपने सामाजिक व्यक्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता।''[50]

स्त्री अधिकारों के नाम पर वर्तमान में अनेक नीतियां और कानून बनाए जा रहे हैं। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि स्त्री अधिकारों की पक्षधर ये नीतियां प्रत्येक वर्ग की स्त्री के पहुँच में हो न की केवल उच्चवर्ग व पढ़े-लिखे शहरी मध्यवर्ग की स्त्रियों की ही पहुँच में रह जाएँ, जैसा कि आमतौर पर देखा जाता है। आज भी भारत की लगभग 70

फीसदी आबादी गाँवों में रहती है। जहाँ शिक्षा के अवसर न्यूनतम हैं और स्त्री शिक्षा को विशेष महत्व नहीं दिया जाता है। इसी कारण से ग्रामीण स्त्रियों के आर्थिक स्वावलम्बन के अवसर भी नहीं के बराबर हैं। वास्तव में आर्थिक रूप से स्वतंत्र व्यक्ति ही अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ हो सकता है।

भारतीय समाज में अनादि काल से धर्म की अनवरत परम्परा चली आ रही है। ''धर्म किसी न किसी प्रकार की अतिमानवीय या अलौकिक या समाजोपरि शक्ति पर विश्वास है। जिसका आधार, भय, श्रद्धा, भक्ति और पवित्रता की धारणा है, और जिसकी अभिव्यक्ति, प्रार्थना पूजा या आराधना है।''[51] डॉ. राधाकृष्णन ने धर्म को परिभाषित करते हुए लिखा है ''यह धृ धातु (बनाये रखना, धारणा करना, पुष्ट करना) से बना है। यही वह मानदण्ड है जो विश्व को धारण करता है, किसी भी व्यक्ति का वह मूल तत्व है जिसके कारण वह वस्तु है। वेदों में इस शब्द का प्रयोग धार्मिक विधियों के अर्थ में किया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म की तीन शाखाओं (स्कन्धों) का उल्लेख किया गया है जिसका सम्बन्ध गृहस्थ, तपस्वी, ब्रह्मचारी के कर्तव्यों से है। जब तैतरीय उपनिषद् हमसे धर्म का आचरण करने को कहता है, तब उसका अभिप्राय जीवन के उस सोपान के कर्तव्यों के पालन से होता है जिसमें कि हम विद्यमान हैं। इस अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग भगवद्गीता और मनुस्मृति दोनों में हुआ है।...वैशेषिक सूत्रों में धर्म की परिभाषा करते हुए यह कहा गया है कि जिससे आनन्द और परमानन्द की प्राप्ति हो वह धर्म है।...अपने प्रयोजनों के लिए धर्म की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि यह चारों वर्णों और चार आश्रमों के सदस्यों द्वारा जीवन के चार प्रयोजनों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के बंधन में पालन करने योग्य मनुष्य का समूचा कर्तव्य है।''[52]

निश्चित ही धर्म जीवन में लय और गति प्रदान करता है। मेरा उद्देश्य यहाँ स्त्री की गुलामी में धर्म की भूमिका पर विचार करना है। हमारे यहाँ तमाम धर्मशास्त्र और धर्मग्रन्थ

लिखे गये हैं। अधिकांशतः इन ग्रन्थों की सृष्टि पुरुषवादी दृष्टिकोण से हुई है। जहाँ धर्म के तहत स्त्री के लिए विभिन्न प्रकार के नियम, कानून और श्रृंखलाएँ बनाई गई हैं। ''तथाकथित धर्म के ठेकेदारों ने स्त्री की पराधीनता का कुचक्र कैसे रचा ! जाहिर तौर पर पुरुष को स्त्री की देखरेख की जिम्मेदारी सौंपी गई, लेकिन कहा गया कि- जैसे वह गौ, घोड़ी, ऊंटिनी, भैंस, भेड़-बकरी और दासी की देखभाल करता है, वैसा ही व्यवहार करे। यह इसलिए भी जरुरी समझा गया कि स्मृतिकारों और पवित्र धर्मग्रन्थ रचने वालों की धारणा है- थोड़ी सी लापरवाही हो जाने पर पशु की तरह स्त्री मालिक का नुकसान कर डालती है। पुंश्चल दोष होने के कारण औरत दोनों कुलों को कलंकित कर देती है। वह चंचलता के कारण पति के विरूद्ध आचरण करती है। ब्रह्मा जी ने उसको ऐसा ही बनाया है- शय्या आसन, आभूषण, काम, क्रोध, कुटिलता, द्रोह और दुराचार उसके हिस्से में डाले हैं।''[53]

धर्म मानव जीवन में कर्तव्य पथ का निर्धारण करता है किन्तु स्त्री के संदर्भ में धर्म की आड़ में कर्तव्य के नाम पर पराधीनता का ही निर्धारण क्यों किया गया ? वास्तव में ''यह धर्म शूद्र को बताए गए उसके सेवा धर्म से भिन्न है, क्योंकि इसका आधार वर्ण नहीं, जाति नहीं, व्यवसाय नहीं, शुद्ध लैंगिक भेद है। स्त्री को पुरुष के ब्रह्मचर्य से लेकर गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास जैसे आश्रमों की सुविधा देने के लिए मुस्तैद रहना पड़ता है। साथ ही पुरुष की सेवा के लिए जीवन की नैसर्गिक छूटों को स्वामी के खूटों से बांधा गया है। उसे धन जमा करने की मोहलत नहीं, पति के आज्ञा के बिना हिलने-डुलने की छूट नहीं। वह सन्तान पैदा करने व उसे पालने से लेकर पुरुष के लिए उत्तम रति के हवाले होती है। पूछने का मन करता है - क्या स्त्री धर्म का यही सत्य है ? धर्म में ऐसे ही सत्य निहित रहते हैं तो हम उसे धर्म नहीं, 'श्रृंखला की कड़ियाँ' मानेंगे।''[54]

धर्म क्या है? धर्मानुसार क्या उचित है, क्या अनुचित यह बताने के लिए हमारे यहाँ धर्मग्रन्थों की सृष्टि हुई है। नारी के लिए धर्मानुसार उचितानुचित का निर्धारण करने के

लिए इन्हीं ग्रन्थों को मूलाधार माना जाता है। स्त्री धर्म क्या है इस संदर्भ में ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ''नारी कभी भी एक से ज्यादा पति ग्रहण नहीं कर सकती। एक पति की यदि कई पत्नियाँ हों तब भी पत्नी के लिए एक ही पति यथेष्ट है (ऐतरेय ब्राह्मण, 35/5/2/47)।''[55]

''स्त्री का पहला कर्तव्य है पुत्र संतान को जन्म देना (आपस्तंब धर्मसूत्र, 1/10-51-52)। निःसन्तान पत्नी को शादी के दस वर्ष बाद त्याग किया जा सकता है, जो स्त्री कन्या-सन्तान को जन्म देती है, उसे बारह वर्ष बाद, जिस स्त्री के बच्चे जीवित नहीं रहते, उसे पन्द्रह वर्ष बाद और कलहपरायण यानी झगड़ालू स्त्री को तुरन्त त्यागा जा सकता है (बोधायन धर्मसूत्र, 2/4/6)।''[56]

''मैत्रेयणी संहिता' में कहा गया है कि नारी अशुभ है (3/8/3)। यज्ञ करते हुए किसी कुत्ते, शूद्र और नारी की तरफ मत देखो (शतपथ ब्राह्मण, 3/2/4/6)।''[57]

''शतपथ ब्राह्मण में है कि पत्नी पति के बाद ही खाएगी क्योंकि 'भुक्तवाच्छिष्टं वयैव ददात्' अर्थात खाना खाने के बाद जूठन पत्नी को देंगे (गृह्यसूत्र 1/4/11)। शास्त्र में फटे-पुराने कपड़े दास (नौकर) को देने एवं जूठन स्त्री को देने का विधान किया गया है। घर के कुत्ते-बिल्ली और नारी एक ही तरह के जीव हैं इसीलिए जूठन देकर ही उनका पालन किया जाता है।''[58]

स्त्री के लिए धर्म का मुख्य अर्थ क्या है इस संदर्भ में मनुस्मृति के अनुसार ''कन्या विवाह के बाद पति की हो जाती है, पति की सेवा ही उसका सच्चा धर्म है। विवाहिता स्त्री के लिए पतिव्रत धर्म के समान कुछ भी नहीं है, इसलिए मनसा, वाचा, कर्मणा पति के सेवापरायण होना चाहिए। हिन्दू स्त्री के लिए पति परायणता ही मुख्य धर्म है, इसके सिवा सब धर्म गौण हैं। जो स्त्री पति की आज्ञा के बिना व्रत, उपवास आदि करती है, वह अपने पति की आयु को हरती है और स्वयं नरक में जाती है -

पत्यौ जीवति या तु स्त्री उपवासं व्रतं चरेत्।

आयुष्यं हरते भर्तुर्नरकं चैव गच्छति।।''[59]

वास्तव में उक्त ग्रन्थों में निर्धारित कायदे-कानून स्त्री के लिए धर्म रूप में निर्धारित थे। स्त्री को न तो उस काल में मनुष्य के रूप में देखा गया न तो हजारों वर्ष बाद वर्तमान समाज में उसे कोई स्वतंत्र स्वीकृति प्राप्त है।

सती प्रथा तथा देवदासी प्रथा भी धर्म के नाम पर ही स्त्रियों के शोषण और दमन को उजागर करते हैं। सती होना स्त्री का धर्म माना जाता था। स्त्री चाहे न चाहे उसे जबरन मृत पति की चिता के साथ जला दिया जाता था। इससे अधिक घृणित और दिल दहला देने वाला कृत्य और क्या हो सकता है? ''पद्मिनी, रानीबाई और उर्मिला (धर्मगज देव की पत्नी) जैसी हाड़मास की बनी असली स्त्रियों का जल मरना किस बहादुरी का नाम है? सिवाय सती धर्म के उन्होंने दूसरा कोई धर्म नहीं निभाया।''[60]

देवदासी प्रथा दक्षिण भारत के हिन्दू मन्दिरों में पोषित हुई। देवदासियों का जीवन देवता को समर्पित माना गया। किन्तु धर्म के नाम पर, देवता को समर्पित करने के नाम पर, यह युवती को वेश्या बनाने का ही एक उपक्रम मात्र था। नृत्य और देह व्यापार के माध्यम से अर्थोपार्जन का एक जरिया होती थी देवदासी। इस प्रथा के तहत स्त्री ''समाज के किसी रसूखवाले पुरुष की रक्षिता के रूप में चयनित की जाने लगी। मन्दिर को सर्वाधिक राशि दान में देने वाले व्यक्ति को देवदासी के साथ स्थायी संबंध का अधिकार मिल जाता था।''[61]

''दक्षिण भारत के सभी राज्यों में 'देवदासी प्रथा' धर्म के विरुपित पक्ष को उजागर करती है। समय और परिस्थितियाँ बदली हैं- स्त्री समानता और स्त्री अधिकारों के इस सूचना युग में भी राष्ट्रीय महिला आयोग के अनुसार आज भी हजारों की संख्या में दलित

स्त्रियाँ देवदासी बनने के लिए बाध्य हैं। महाराष्ट्र और कर्नाटक की सीमा पर 250,000 दलित देवदासियाँ मौजूद हैं।"[62] "यद्यपि सन् 1934 में पारित अधिनियम द्वारा भारत में देवदासी प्रथा के उन्मूलन की घोषणा की गई लेकिन सत्तर वर्षों के बाद भी लगभग 450,000 देवदासियां धर्म के नाम पर देह व्यापार से संबद्ध हैं। अशिक्षा और अस्पृश्यता ने इस प्रथा को पोषण दिया।"[63]

धर्म के नाम पर स्त्री के संदर्भ में जो विचार या स्त्री जीवन में धर्म के नाम पर जो विकृतियाँ फैली हैं। उन पर पुनर्विचार किया जाना आवश्यक है। क्योंकि प्रचलित सभी मत धार्मिक ताकतों की चालबाजियाँ मात्र हैं। इनका उद्देश्य स्त्री की गुलामी मात्र है और कुछ नहीं। इस संदर्भ में तसलीमा नसरीन लिखती हैं "नारी के स्वाभाविक विकास में धर्म अभी मुख्य बाधा है। धर्म मनुष्य को पीछे घसीटता है, धर्म विज्ञान और प्रगति के विपक्ष में बोलता है। धर्म मनुष्य को एक अलौलिक डर के अंदर समाये रखता है, धर्म मनुष्य को हँसने नहीं देता, जैसी इच्छा, चलने नहीं देता। धर्म नारी को 'अमानुष' के रूप में परिणत करता है, धर्म नारी को पुरुष की क्रीतदासी बनाए रखता है।"[64]

घ. स्त्री की मुक्ति के निहितार्थ

समाज का लगभग पचास प्रतिशत हिस्सा स्त्रियों का है किन्तु सर्वत्र स्त्रियों को दोयम दर्जे की नागरिक के रूप में देखा जाता है। स्त्री समाज द्वारा निर्धारित दोहरे मानदण्डों से मुक्ति चाहती है। नारी मुक्ति पुरुष प्रधान समाज द्वारा स्त्री के लिए बनाए 'आर्दश ढाँचे' से इतर स्वतंत्र अस्तित्व और अस्मिता को पाने की छटपटाहट है। "स्त्रियों को सामाजिक असमानता के कारण निरंतर तनाव में रहना होता है। उसकी स्वतंत्र पहचान, स्वायत्तता और सामाजिक जरुरतों की अनदेखी की जाती है। उसकी स्थिति यह है कि वह निरंतर अनुगामिनी की तरह जीती है। हमारे समाज में सहजीवन गठन का निष्क्रिय रूप समर्पण या आत्मपीड़न है। स्त्री के सामने मौजूद व्यवस्था ने यही दो विकल्प छोड़े हैं।

जर्मेन ग्रीयर ने जिखा है कि स्त्री दूसरों के लिए जीती है अतः उसे अपने व्यवहार की नैतिक जिम्मेदारी लेने की जरुरत नहीं है। यही वजह है कि उसमें अहं भी नहीं है। अहं न होने और ढेरों जिम्मेदारियों को निबाहने के कारण स्त्रियों की अपनी कोई अस्मिता भी नहीं होती।''[65]

स्त्रियों के संदर्भ में 'मुक्ति' का अर्थ स्वतंत्रता, समानता यवं निर्णय लेने की अधिकारसम्पन्नता से है। इस संदर्भ में मेरी वोल्सटनक्राफ्ट लिखती हैं कि "स्त्रियों से सद्‌गुण की अपेक्षा रखना व्यर्थ होगा जब तक कि वे किसी सीमा तक पुरुषों से स्वतंत्र नहीं हो जातीं, यही नहीं, उनसे उस नैसर्गिक स्नेह की प्रत्याशा भी निरर्थक होगी जो उन्हें अच्छी माता और पत्नी बनाता है। जब तक वे अपने पतियों पर पूर्णत: आश्रित रहेंगी, वे छलपूर्ण, संकीर्ण और स्वार्थी होंगी।"[66] ''आवश्यकता स्वतंत्रता की है। सामाजिक या राजनीतिक स्वतंत्रता की नहीं, बल्कि दैहिक और मानसिक स्वतंत्रता की है। स्वतंत्रता चाहिए उस रूढ़ीवादी समाज के बंधनों से जो स्त्री के भीतर की विद्रोही आवाज सुनने से ही इनकार करता है। स्वतंत्रता चाहिए सामाजिक सोच की उस मानसिक बनक से ही जो स्त्री के समूचे अस्तित्व को ही फँसाये रखता है। स्त्री का मन विद्रोह कर उठता है और वह सदियों पुराने रिवाजों और परम्पराओं को पीछे छोड़ देती है, लेकिन स्त्री अभी भी, अपने ही खोल से, वफादारी व पारम्परिक स्त्रीत्व की कैद से बाहर नहीं निकल पायी है। उस दिन की हम उत्सुकता से प्रतिक्षा करेंगे जब कविता, स्त्रीत्व और स्वतंत्रता साथ-साथ चलते रहकर समाज का तीसरा नेत्र खोल देंगे।''[67]

स्त्री को सामाजिक ताने-बाने से या पुरुषसत्तात्मक समाज के संकीर्ण मानदण्डों से स्वतंत्रता अथवा मुक्ति चाहिए किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह समाज, परिवार या सामाजिक संबंधों से स्वयं को मुक्त करना चाहती है। वह समाज से नहीं अपितु समाज में रहकर स्वतंत्र जीवन जीना चाहती है। इस संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा कहती हैं- ''समाज से

स्वतंत्र हो ऐसी बात नहीं। वह एक ऐसा समाज बनाना चाहती है जो उसको स्पेस दे। अब आप इसे चाहे 'से' कहें या 'में'। उनकी भी समाज में एक जगह होनी चाहिए जो कि नहीं है। 'बेटी सौ साठ, तौबबा की नाठ'। एक सौ साठ लड़कियाँ हो तब भी बाबा की नाठ है। स्त्री समाज से स्वतंत्रता नहीं बल्कि समाज में जगह चाहती है और अपनी बनाई जगह चाहती है। उसके लिए समाज को बदलना होगा। पाँच-दस हजार साल पुराने स्त्री में क्या कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए ?''[68]

''एक दो अपवादो को छोड़कर स्त्री द्वारा रचित और कल्पित स्त्री की धारणा अभी तक न तो परिवार-निरपेक्ष है, न संबंध-निरपेक्ष, न संतान-निरपेक्ष। परिवार तो चाहिए पर उसके रूढ़िगत ढाँचे को बिल्कुल-बिल्कुल बदल देना है। संबंधों से मुक्त नहीं हुआ जा सकता, उसकी आकांक्षा भी नहीं है पर पुरुषों द्वारा निर्मित उसके स्वरुप को बदल देना ही एकमात्र रास्ता है।''[69]

वर्तमान समय में भी स्त्रियों को अपने सन्दर्भ में निर्णय लेने का अधिकार नहीं है। आज के आधुनिक कहे जाने वाले समाज में भी कोई लड़की अपनी शिक्षा, नौकरीपेशा यहाँ तक कि जीवन के छोटे से छोटे निर्णय लेने की स्वतंत्रता के अधिकार से वंचित है। इसके लिए उसे अपने पिता या भाई की हिदायतों के अनुसार ही चलना पड़ता है। यदि वास्तविक अर्थों में स्त्री मुक्ति चाहिए तो इसके लिए स्त्रियों को ही आगे आना होगा। सुमन राजे के अनुसार ''स्वतंत्रता का मूल अभिप्राय है 'निर्णय की स्वतंत्रता' और स्त्री स्वतंत्रता का रूप क्या होगा, यह स्वयं स्त्रियों को ही तय करना है। यह निर्णय कुछ 'विशिष्ट' महिलाओं द्वारा नहीं लिया जा सकता।''[70]

जैविक रूप से स्त्री और पुरुष भिन्न हैं। जैविक भिन्नता के कारण उनका लैगिंक अन्तर स्पष्ट होता है। लेकिन उनकी लैगिंक भिन्नता ही सामाजिक भूमिका के संदर्भ में महत्वपूर्ण हो जाती है। "1970 के दशक में सेक्स और जेण्डर के भेद को रेखांकित करने

का प्रयास किया गया। बड़ी संख्या में स्त्रीवादी चाहते थे कि जेण्डर को संस्कृति से जोड़कर देखा जाए और सेक्स को प्रकृति (बायलॉजी) से।"[71] इस तरह "स्त्री-मुक्ति विमर्शकारों के यहाँ 'सेक्स' और 'जेण्डर' एक नहीं है। अब हिन्दी में इसके अनुवाद की समस्या हो सकती है। इन दोनों का अनुवाद लिंग करने से उनके साथ का अर्थवृत्त नहीं आ सकता और अवधारणा भी स्पष्ट नहीं हो सकती। लिहाजा जब तक उस अवधारणा को स्पष्ट करने वाला शब्द स्पष्ट नहीं मिलता, तब तक सेक्स के लिए लिंग और जेण्डर के लिए जेण्डर का उपयोग करने में क्या दिक्कत है ? कुछ अन्ध हिन्दी प्रेमी दूसरी भाषा के शब्दों को बिल्कुल लेना नहीं चाहते। नतीजतन ऐसा शब्द बना देते है जो उस अवधारणा को स्पष्ट करने में कहीं से कारगर नहीं होता। गौरतलब है कि लिंग (सेक्स के रूप में) एक बायोलॉजिकल कंस्ट्रक्ट है और जेण्डर एक सास्योलॉजिकल कंस्ट्रक्ट। यानी सेक्स जैविक या प्राकृतिक होता है जबकि जेण्डर जैविक या प्राकृतिक नहीं होता। जेण्डर की रचना विभिन्न सत्ताओं ने ऐतिहासिक रूप से सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्यों, मान्यताओं के तौर पर किया है। मतलब की स्त्री 'सेक्स' के लिहाज से पुरुष से भिन्न है। इन्हें जेण्डर की भिन्नता पितृसत्ता ने अपने स्वार्थ के लिए स्त्रियों को विभिन्न 'भूमिका' देने के मकसद से और कमतर ठहराने के लिए किया है। इस लिहाज से देखे तो 'सेक्स' और 'जेण्डर' में बड़ा फर्क नजर आएगा। पितृसत्ता ने 'जेण्डर' को भी प्राकृतिक, स्वाभाविक गुण के रूप में झूठ को प्रचारित-प्रसारित किया है। स्त्री मुक्ति इसी 'जेण्डर' से मुक्ति में है।"[72] सम्पूर्ण विश्व में 'जेण्डर' के धरातल पर स्त्रियों का संघर्ष एक समान है क्योंकि उनका यह संघर्ष हर कहीं पितृसत्तात्मक व्यवस्था से है।

यदि भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो लिंगानुपात का अंतर दिनों-दिन असंतुलित होता जा रहा है। हमारा समाज प्रगतिशीलता की सीढ़ियाँ उत्तरोत्तर चढ़ता जा रहा है किन्तु स्त्रियों के प्रति संकुचित मानसिकता से अब तक उबर नहीं पाया है। आज भी राजस्थान, बिहार, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु आदि अनेक स्थानों पर बेटी के जन्म लेते ही

उसे विभिन्न तरीकों से जैसे- गला घोंट कर, दूध भरे कड़ाहे में डुबाकर, विष युक्त बूटी खिलाकर निर्ममता के साथ मार डाला जाता है। आलम यह है कि अधिकांश घरों में आज जब स्त्रियाँ किसी भी क्षेत्र में पुरुषों से कमतर नहीं हैं, बेटियों का जन्म हर्ष का विषय नहीं बन पाया है। बेझिझक हो रही कन्या भ्रूण हत्या के कारण लिंगानुपात का अंतर चिंतित करने वाला है। ''भारतीय समाज में महिलाओं के प्रति संकीर्ण नजरिया ही इसका प्रधान कारण है। लड़की की सुरक्षा की जिम्मेदारी, दहेज की समस्या, ससुराल में उसके ठीक सामंजस्य व निभाव की चिंता आदि के कारण लड़की का महत्व कम है।''[73] स्त्री को मुक्ति चाहिए समाज की उस संकीर्ण सोच से जिसके चलते वह दुनिया में आने से पहले ही दम तोड़ देती है। दहेज प्रथा तथा तमाम अन्य ऐसी ही कुप्रथाएँ समाज द्वारा निर्मित हैं अतः इन्हें समाज में रहकर ही खत्म किया जा सकता है। स्त्रियों में सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध चेतना जागृत करना आवश्यक है। इसके लिए महत्वपूर्ण है कि स्त्रियों को शिक्षा के साथ-साथ सोचने-समझने और निर्णय लेने की अधिकार सम्पन्नता प्राप्त हो। वास्तव में लिंगानुपात का अंतर तभी संतुलित हो पायेगा जब स्त्रियों में चेतना जागृत होगी और उन्हें यह एहसास होगा कि उनका जीवन सामाजिक विकास व संतुलन के लिए कितना आवश्यक है।

स्त्री मुक्ति के तहत 'देह मुक्ति' का संदर्भ एक गंभीर मुद्दा है। फूको मानते हैं कि ''आधुनिक समाजों में देह अनगिनत अनुशासनों और नियंत्रणों के निशाने पर है।''[74] चूंकि स्त्री को लेकर स्त्री चेतना अथवा स्त्री विमर्श के रूप में जो गंभीर चर्चा समाज और साहित्य में हो रही हैं वह मूलतः लिंग या जेण्डर पर आधारित है। इसलिए 'स्त्री देह' विचार का एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। ''इतिहास से लेकर वर्तमान तक की स्थितियों के आकलनों से ज्ञात होगा कि स्त्री पर हो रहे अत्याचार का एक बहुत बड़ा कारण स्त्री देह ही है। इसलिए स्त्री को अपने शरीर और उसकी विशिष्ट अवस्थाओं के बारे में स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए। समकालीन स्त्रीवादी रचनाकार स्त्री देह पर हो रही विशेष चर्चा-परिचर्चा पर गहरा

ध्यान दे रही हैं। इस मुद्दे की दूसरी प्रमुख स्थिति यह है कि स्त्री सिर्फ 'देह ही' बने रहना नहीं चाहती बल्कि वह अपना स्वतंत्र अस्तित्व विकसित करने की आकांक्षा भी रखती है। इस यथास्थितिवाद में स्त्री अपनी भूमिका की तलाश नये सिरे से करना चाहती है, साथ ही साथ नियतिवाद से मुक्ति का तरीका भी ढूंढती है।"[75]

वास्तव में स्त्री के शोषण का ऐतिहासिक कारण स्त्री की देह ही रही है। इसलिए स्त्री की 'मुक्ति' को उसकी देह के संदर्भ में देखा जाना कोई अप्रत्याशित बात नहीं है। राजेन्द्र यादव का मानना है कि "स्त्री की मुक्ति देह से ही प्रारम्भ होगी। स्त्री-मुक्ति का पहला चरण देह-मुक्ति है।"[76] किन्तु कुछ लोग देह-मुक्ति का अर्थ मुक्त-देह लगा लेते हैं और उसके वास्तविक अर्थ से भ्रमित हो जाते हैं। अनामिका कहती हैं "पागल हैं लोग जो देह-मुक्ति का अर्थ देह को 'मुक्त चारागाह' बना देना समझते हैं। हमेशा-हमेशा से औरत की देह ही उसके शोषण की प्राइमरी साइट रही है- मार-पीट, गाली-गलौज, बेगार, भावहीन यांत्रिक संभोग, बलात्कार, डायन-दहन, पोर्नोग्राफी, पर्दा प्रथा और सती, असुरक्षित प्रसव और तद्जन्य बीमारियाँ- सबके मूल में 'देह' ही तो है। इसलिए स्त्री विमर्श में देह की केन्द्रियता का अर्थ उसका ठीक उल्टा हो। देह स्त्री की है, इससे जुड़े सारे निर्णय उसके अपने हों- प्रेम, विवाह, संतानोत्पत्ति, बच्चों के लालन में निर्णय सही और संतुलित भी हो।"[77]

शारीरिक रूप से पुरुष स्त्री से अधिक बलशाली है। यह प्रकृति प्रदत्त स्त्री-पुरुष की अपनी-अपनी सीमाएं हैं। मानसिक स्तर पर वह पुरुष से कहीं भी कमतर नहीं ठहरती है। सिमोन लिखती हैं- "मैं बस इतना ही कहना चाहूँगी कि शारीरिक भिन्नता के बावजूद ये सीमाएं औरत की अनिवार्य और स्थायी नियति के रूप में नहीं स्वीकारी जा सकतीं। शारीरिक भिन्नता यह नहीं स्थापित करती कि औरत अन्या, गौण या यौनजनित

सोपानीकरण में नीचे की सीढ़ी पर बैठी हुई है। ये जैविक परिस्थितियाँ औरत को अधीनस्थ भूमिका स्वीकारने के लिए मेरी समझ में बाध्य नहीं कर सकती।''[78]

स्त्री के प्रति सही और संतुलित नजरिया स्थापित हो इसके लिए आवश्यक है कि स्त्री को उसकी रूढ़ छवि से मुक्त किया जाए। रूढ़ छवि से तात्पर्य है स्त्री के संदर्भ में निर्धारित सौन्दर्य के प्रतिमानों से। सौन्दर्य के इन प्रतिमानों के अनुसार उसे दया, माया, ममता, करुणा जैसे गुणों से आप्लावित होना चाहिए। लज्जा, शील, संकोच से युक्त न होने पर उसका आधा सौन्दर्य नष्ट हो जाएगा। वह स्त्री 'जैसी' नहीं रह जाएगी। इतना ही नहीं ''उसका मूलभूत गुण है बधिया होना। उसे निर्विवाद रूप से युवा होना चाहिए। उसकी देह रोमहीन, उसका शरीर उत्फुल और उसका यौनांग नहीं होना चाहिए। मांसपेशियाँ उसकी देह की वर्तुलता को भंग न करें चाहे वह वेत्रलता-सी छुई-मुई हो या नर्म-गुदाज। उसकी मुखाकृति पर उसके मनोभाव, उत्सुकता या बुद्धि प्रज्ञा नहीं झलकनी चाहिए। हाँ, एक विसंगत घमण्ड या अधमुँदी पलकों और गुदाज होंठो से झलकती, दहकती वासना उस पर दिख सकती है (रूढ़छवि की वासना अतार्किक समर्पण के समतुल्य है)।''[79]

पुरुष समाज द्वारा प्रदत्त करुणामयी, दयामयी जैसे रूढ़ सौन्दर्यबोधीय विशेषणों से स्त्री को मुक्ति चाहिए। जिसके माध्यम से उसे उपनिवेशित किया जाता रहा है। ''वह ऐस्थेटिक्स जिसकी बोझ से औरत मनुष्य की कमर टूट चुकी है। जिसके लिए सदियों से उसकी अनोखे प्रकार की हत्या की जाती है। उसकी मुक्ति ऐस्थेटिक्स के इस पहाड़ को निर्ममता से फेंके बिना नहीं हो सकती।''[80]

स्त्री को मुक्ति चाहिए, किससे? पुरुषसत्ता से। यह आश्चर्यजनक है कि स्त्री 'मनुष्य' को अपने ही समान धर्मा एक दूसरे पुरुष 'मनुष्य' से मुक्ति चाहिए (मुक्ति का अर्थ स्त्री-पुरुष के बीच दोहरे सामाजिक मानदण्डों से है)। यह अत्यंत दुखद है कि स्त्री को आज भी 'मनुष्य' के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। इस संदर्भ में तसलीमा नसरीन लिखती हैं

कि ''मेरी शिक्षा, मेरी रुचि, मेरी मेधा मुझे 'मानव जात' नहीं बना सकी, सिर्फ 'लड़की जात' ही बनाकर रख दिया। इस देश में 'लड़की जात' अपने अंदर तमाम खूबियाँ रखने के बावजूद 'मानव जाति' में शामिल नहीं हो सकती।''[81]

स्त्री का संघर्ष आधी आबादी को मनुष्यत्व का दर्जा दिलाने का है। स्त्री को जब तक मनुष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जाएगा तब तक वे सभी बहसें और वाद-विवाद जो साहित्यिक या सामाजिक स्तर पर स्त्री को मुक्ति दिलाने के लिए चल रहे हैं, निरर्थक चले जाएँगे।

यदि स्त्री अपने अधिकारों के लिए पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था से संघर्ष कर रही है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वह पुरुष बन जाना चाहती है। वास्तव में '' 'बना दी गई स्त्री' से मुक्ति के रास्ते 'स्त्री की मुक्ति' के रास्ते हैं। 'स्त्री' से मुक्ति का तात्पर्य पुरुष हो जाना या पुरुषोचित गुणों का स्वीकार कदापि नहीं है। स्त्री की अपनी प्राकृतिक विशेषताएँ हैं, परन्तु दोहरे सामाजिक मानदण्डों ने जो शर्मनाक स्थिति पैदा की है वे स्त्री को मात्र 'स्त्रीत्व' के बंधन में बाँधते हैं। स्त्री की खोल से बाहर आकर मनुष्यत्व की दिशा में अग्रसर होना है।''[82]

स्त्री के शोषित होने के पीछे सामाजिक व्यवस्था की जो संकीर्ण सोच है उसे बदलना सबसे अधिक अनिवार्य है। क्योंकि ''हमें न किसी पर जय चाहिए, न किसी से पराजय, न किसी पर प्रभुता चाहिए, न किसी का प्रभुत्व। केवल अपना वह स्थान, वे स्वत्व चाहिए जिनका पुरुषों के निकट कोई उपयोग नहीं है, परंतु जिसके बिना हम समाज का उपयोगी अंग बन नहीं सकेंगी।''[83]

सर्वप्रथम स्त्री को उन रूढ़ परम्पराओं और संस्कारों की लीक को तोड़ना है जो पितृसत्ताक समाज ने स्त्री के संदर्भ में पूर्णतः स्थापित किए हुए हैं। तत्पश्चात स्वतंत्रता, समानता व निर्णय लेने की अधिकार सम्पन्नता की प्राप्ति ही वास्तविक अर्थो में स्त्री

मुक्ति मानी जाएगी। संभवतः इसके लिए स्त्री को अनेकानेक शारीरिक तथा मानसिक संघर्षों से गुजरना पड़े। प्रत्येक वर्ग की स्त्री को 'मुक्ति' की दिशा में पहला कदम स्वयं उठाना होगा ताकि भावी स्त्री पीढ़ियाँ स्वतंत्रता, समानता और समाज में अपने अस्तित्व-अस्मिता के साथ मानव जाति की आधी आबादी के रूप में अपनी सशक्त स्थिति रेखांकित कर सकें।

ड. स्त्री मुक्ति आंदोलन : विविध दिशाएं

विभिन्न समाजों के इतिहास से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ हमेशा से समाज के शोषित-उत्पीड़ित तबके के रूप में रहीं हैं। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में उन्हें दोयम दर्जे का स्थान दिया गया है। किन्तु इस प्रकार के शोषण व दमन के विरूद्ध एक लम्बे समय तक चुप्पी बनी रही। यह सत्य है कि "तकलीफ खतरनाक चीज होती है। उससे यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि वह अनन्त काल तक अँधेरे कोनों में मुँह लपेटे पड़ी रहेगी।"[84] "इतिहास के पूरे प्राक पूँजीवादी काल में उत्पीड़न के विरूद्ध विद्रोह की नारी चेतना अपने समय की सीमाओं में बँधी हुई थी। आदिम कम्यूनों के काल की स्थिति के विस्मरण के बाद नारी समुदाय ने अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्थाओं के विरूद्ध संघर्षों एवं क्रान्तियों में भूदास या दास जैसे वर्गों के सदस्य के रूप में शिरकत तो की लेकिन पुरुषों के मुकाबले अपनी हीनतर सामाजिक-पारिवारिक स्थिति के विरूद्ध या अपनी स्वतंत्र अस्मिता एवं सामाजिक स्थिति के लिए उसने पूँजीवाद के आर्विभाव के पूर्व संघर्ष नहीं किया, क्योंकि तब इसका वस्तुगत आधार ही समाज में मौजूद नहीं था। समाज और परिवार में स्त्रियों की भूमिका मातृत्व, शिशुपालन आदि स्थितियों के नाते वर्ग समाज में पैदा होने वाली उनकी मजबूरियाँ घरेलू श्रम की गुलामी, समाज में निकृष्टतम कोटि के उजरती मजदूर की स्थिति, यौन असमानता, यौन शोषण, यौन उत्पीड़न - इन सबके कुल योग के रूप में नारी प्रश्न को

विश्व इतिहास के पूँजीवादी युग में ही सुसंगत रूप में देखा गया और नारी मुक्ति की एक नई अवधारणा विकसित हुई।''[85]

पितृसत्तात्मक व्यवस्था के प्रतिरोध में स्त्री मुक्ति आंदोलन सर्वप्रथम फ्रांस, अमेरिका तथा ब्रिटेन में शुरू हुआ था। पश्चिम में स्त्री के अस्तित्व, अस्मिता के साथ ही स्त्री से जुड़े तमाम मुद्दों को लेकर स्त्रीवाद की अनेक विचारधाराएँ उभरकर सामने आयीं। जिन्होंने अपने-अपने ढंग से स्त्री को मानवीय रूप में पहचानने एवं उसे उसके हक व अधिकार प्रदान करने की पुरजोर आवाज उठायी। इनमें से कुछ प्रमुख विचारधाराएँ इस प्रकार हैं -

1. बुर्जुआ स्त्रीवाद
2. उदार स्त्रीवाद
3. उग्र परिवर्तनवादी स्त्रीवाद
4. मार्क्सवादी- समाजवादी स्त्रीवाद
5. तीसरी दुनिया का स्त्रीवाद

सर्वप्रथम बुर्जुवा स्त्रीवाद के अंतर्गत स्त्रियों ने समानता की मांग उठाई थी। अमेरिकी क्रांति (1775-83) के दौरान मताधिकार एवं संपत्ति के अधिकार की पुरजोर मांग को लेकर स्त्री मुक्ति आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। कात्यायनी के अनुसार- "नारी-मुक्ति-चेतना और नारी-मुक्ति-आन्दोलन के इतिहास की शुरुआत अमेरिकी क्रान्ति के दौरान अविगेल एडम्स और मर्सीवारेन के नेतृत्व में मताधिकार और सम्पत्ति के अधिकार सहित सामाजिक समानता की मांग और फ्रांसीसी क्रान्ति के दौरान ओलिम्पंद द गाउजेस द्वारा 1791 में राष्ट्रीय असेम्बली में प्रस्तुत स्त्रियों और स्त्री नागरिकों के अधिकारों की घोषणा से मानी जाती है।"[86] इस विचारधारा के अंतर्गत स्त्री शिक्षा को स्त्री मुक्ति के लिए आवश्यक बताया गया।

उदार स्त्रीवाद ने लिंग के आधार पर होने होने वाले शोषण का विरोध किया था। मेरी वोल्सटनक्राफ्ट (1759-1799) ने उदार स्त्री आन्दोलन की शुरुआत की थी। "लिबरल

फेमिनिस्टों (स्टैनली, ग्लोरिया स्टीनेम, सूसन ऐथेनी, लूसी स्टोन, इलिजाबेद हूकर, इलिजाबेद केडी स्टैटन आदि) का सबसे बड़ा अवदान है राजनीतिक समानता (वोट देने व चुनाव में खड़े होने) तथा संपत्ति के अधिकार के लिए लंबा संघर्ष। स्टेनले ने यू.एस सीनेट के अपने भाषण में 'विमेन सफरेज' पर बोलते हुए स्पष्ट कहा था कि "शिक्षा, सम्पत्ति और वोट देने का अधिकार व्यक्तित्व के समुचित विकास की प्राथमिक शर्तें हैं।"[87]

पितृसत्तात्मक समाज के खिलाफ 'उग्र परिवर्तनवादी स्त्रीवाद' एक सशक्त आन्दोलन रहा है। उग्र परिवर्तनवाद की समर्थक स्त्रियों में एमा गोल्डमान, क्लारा विचमैन, सुलमिथ फायरस्टोन, बारबरा लिओन, एलिस वॉकर आदि प्रमुख हैं। इस धारा के तहत वेश्यावृति, बलात्कार, यौन शोषण, मार-पीट जैसे मुद्दों पर पहली बार प्रखरता के साथ आवाज उठाई गयी थी। इस धारा के स्त्रीवादी त्यागमयी मातृशक्ति के बिंब को स्त्रियों के लिए सबसे अधिक त्रासद मानते हैं। इतना ही नहीं इन स्त्रीवादियों ने राजनीतिक क्षेत्र में स्त्री-पुरुष समान भागीदारी के मुद्दे को भी गंभीरता से प्रस्तुत किया था। सुलमिथ फायरस्टोन की 'द डायलेक्टिक ऑफ सेक्स', तथा एलिस एकॉल की 'डेयरिंग टू बी बेड' इस विचारधारा की प्रमुख पुस्तकें हैं।

मार्क्सवादी/समाजवादी स्त्रीवाद के तहत मार्क्स और एंगेल्स ने सर्वप्रथम नारी शोषण के आर्थिक आधारों को प्रस्तुत किया। "हालांकि मार्क्सवादी और समाजवादी नजरिए में थोड़ा फर्क है, पर स्त्री के सन्दर्भ में दोनों का मूल ग्रन्थ है फ्रेडरिक एंगेल्स का 'The origine of Family, Private Property, And the State', जो यह मानता है की स्त्री का शोषण वहां से शुरू हुआ जहाँ से वैयक्तिक संपत्ति का प्रावधान। उत्पादन के साधनों पर जिन थोड़े से लोगों का प्रभुत्व हुआ, वे मर्द थे और 'कार्पोरेट कैपिटलिज्म' तथा 'इम्पीरियलिज्म' के साथ 'मेल शावेनिज्म' भी दरअसल उन्हीं का दाय है। पितृसतात्मक समाज के मूल में है पूंजीवाद और यदि हर वर्ग, हर समुदाय की स्त्रियों का अभ्युदय होना है- सिर्फ वर्ग विशेष

की चुनी हुई स्त्रियों का नहीं - तो पूंजीवादी व्यवस्था ही ध्वस्त कर देनी होगी। समाजवादी व्यवस्था में किसी का किसी पर आर्थिक परावलंबन होगा ही नहीं तो स्त्रियाँ भी पुरुषों के शोषण-चक्र से मुक्त हो लेंगी और तब वे किसी पुरुष से अपना सम्बन्ध जोड़ेंगी तो उस वरण को परिसीमित और कलंकित करने वाला कोई आर्थिक आधार नहीं होगा।"[88] इस प्रकार मार्क्सवादी स्त्रीवाद ने नारी शोषण और दमन के विरुद्ध सैद्धांतिक रूप में एक रूपरेखा प्रस्तुत की है। मार्क्सवादी-समाजवादी स्त्रियों में क्लारा जेटकिन, इजाबेल फोर्ड, जर्मेन ग्रियर, मार्गरेट सेंगर, एंजेला कार्टर और जूलियट मिशेल आदि प्रमुख हैं।

तीसरी दुनिया के वे देश जो लम्बी गुलामी के पश्चात् अभी-अभी स्वतंत्र हुए हैं या जो विकास के स्तर पर अभी प्रारम्भिक अवस्था में हैं। इन देशों में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक हर स्तर पर क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है, जिसके माध्यम से स्त्री मुक्ति के मुद्दे पर विचार किया जा सकेगा।

वस्तुतः सामन्ती युग तक स्त्रियों को किसी भी प्रकार का सामाजिक राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं था। जैसा कि पहले भी कहा कि बुर्जआ व्यवस्था के अस्तित्व में आने के बाद ही स्त्रियों ने सर्वप्रथम समानता की बात उठायी। ओलिम्पन्द गाउजेस ने 1791 में राष्ट्रीय असेम्बली में 'स्त्रियों और स्त्री नागरिकों के अधिकारों की घोषणा' करते हुए कहा कि ''महिलाएँ स्वतंत्र रूप से जन्मी हैं और उनके अधिकार पुरुष अधिकारों के समान हैं...कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति होना चाहिए, सभी नागरिकों, पुरुष हों या स्त्री की, इसे बनाने में हिस्सेदारी होनी चाहिए...महिलाओं को फाँसी के तख्ते पर जाने का अधिकार है, उसे संसद में भी जाने का अधिकार होना चाहिए।''[89]

वस्तुतः फ्रांसीसी क्रान्ति के दौरान स्त्री मुक्ति आंदोलन ने जोर पकड़ा और उसका एक स्वरूप सामने आया। इसी समय स्त्रियों ने राजनीतिक कार्यो में भागीदारी करना प्रारम्भ किया। अनेक 'विमेन्स रिवोल्यूशनरी क्लब' अस्तित्व में आये। स्वतंत्रता, समानता

व बन्धुत्व की मांग की गई। इसी समय 1792 में स्त्री मुक्ति आंदोलन को सार्थक और बुनियादी रूप देने वाली मेरी वोल्सटनक्राफ्ट की पुस्तक 'ए विण्डिकेशन ऑफ दि राइट्स ऑफ विमेन' (स्त्री अधिकारों का औचित्य प्रतिपादन) प्रकाशित हुई। इसके साथ ही स्त्रियों को कुछ कानूनी अधिकार प्रदान किये गए। जैसे शिक्षा प्राप्त करने व तलाक की कानूनी इजाजत, साथ ही कई नागरिक अधिकार भी स्त्रियों को प्राप्त हुए। किन्तु यह उपलब्धियाँ क्षणिक थीं। ''1793 में महिलाओं के राजनीतिक क्लबों को दबाया गया, महिलाओं की राजनीतिक हिस्सेदारी का विरोध किया गया और कानून में नेपोलियन की संहिता लागू की गई, इसके तहत महिलाओं को परिवार के पुरुषों के मातहत रखा गया।''[90] स्त्रियों को पारिवारिक गुलामी में पुनः कैद करने के प्रयास होते रहे किन्तु क्रांतिकारी बुर्जआ यथार्थवाद के काल में फ्रांस में ऐसे साहित्य की रचना होने लगी जिसमें पारिवारिक गुलामी के विरूद्ध प्रखर विद्रोह किया गया। ऐसी लेखिकाओं में जॉर्ज साँद के साहित्य का योगदान बेहद महत्वपूर्ण रहा है।

''इसी समय अमेरिका और ब्रिटेन में संगठित रूप से नारी मताधिकार आंदोलन की शुरुआत हुई जहाँ सामाजिक जीवन में स्त्रियाँ बड़े पैमाने पर हिस्सा लेने लगी थीं। 1930 के दशक में अमेरिका में काले लोगों की मुक्ति के संघर्ष में 100 से अधिक दासता विरोधी 'नारी सोसाइटी' जैसे संगठन हिस्सा ले रहे थे और ब्रिटेन में चार्टिस्ट आंदोलन में स्त्रियाँ महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही थीं।''[91]

स्त्री अधिकारों की यह लड़ाई सर्वप्रथम स्त्रियों के राजनीतिक हस्तक्षेप और अधिकारों को लेकर प्रारम्भ हुई। यद्यपि यह संघर्ष काफी पहले शुरू हो गया था। फिर भी ''एक व्यापक आधार पर, एक सुनिश्चित कार्यक्रम के साथ नारीवादी आंदोलन की शुरुआत का प्रस्थान बिन्दु जुलाई, 1848 को माना जाता है जब एलिजाबेथ कैण्डी स्टैण्टन, लुकेसिया कफिन मोट तौर पर और कुछ अन्य ने सिनेका फॉल्स, न्यूयार्क में पहली बार नारी

अधिकार क्रांग्रेस आयोजित करके नारी स्वतंत्रता का एक घोषणा-पत्र जारी किया जिसमें पूर्ण कानूनी समानता, पूर्ण शैक्षिक एवं व्यावसायिक अवसर, समान मुआवजा और मजदूरी कमाने के अधिकार तथा वोट देने के अधिकार की मांग की गई थी। एलिजाबेथ कैण्डी स्टैण्टन तथा सूसन ब्राउवेल एन्थनी के नेतृत्व में यह आंदोलन तेज गति से फैला और जल्दी ही यूरोप जा पहुँचा। ब्रिटेन में 1860 के दशक में चुनावी सुधारों के दौर में नारी मताधिकार आंदोलन भी बड़े पैमाने पर उठ खड़ा हुआ। 1867 में पार्लियामेंट में स्त्रियों को मताधिकार देने के जे. एस. मिल के प्रस्ताव को रद्द कर दिये जाने के बाद कई नगरों में नारी मताधिकार सोसाइटियों की स्थापना हो गई, जिनको मिलाकर बाद में राष्ट्रीय एसोसियेशन बनाया गया। अमेरिका में 1869 में दो नारी मताधिकार संगठनों का गठन हुआ। 1890 में इनकी एकता के बाद राष्ट्रीय अमेरिकी नारी मताधिकार संघ अस्तित्व में आया। 1882 में फ्रांसीसी नारी अधिकार लीग का गठन हुआ।''[92]

पश्चिम में जो स्त्री आंदोलन प्रारम्भ हुआ था उसका सर्वप्रथम उद्देश्य स्त्रियों को मताधिकार दिलाना था। ''लेकिन यह सफलता एक लम्बे राजनैतिक संघर्ष के कठिन परिश्रम से ही मिल सकी और वह भी बींसवीं सदी के शुरुआत के काफी बाद। संयुक्त राज्य अमेरिका की संसद ने 1919 में महिलाओं को मताधिकार देने के लिए संविधान में संशोधन किया। ब्रिटेन में महिलाओं को मताधिकार 1927 में मिला, जब कि फ्रांस की महिलाओं को इसके लिए 1944 तक इंतजार करना पड़ा। (अन्य पश्चिमी देशों में यह अधिकार और भी देरी से मिल पाया, जैसे कि स्विट्जरलैण्ड में, यहाँ सन् 1959 में महिला मताधिकार प्रस्ताव राष्ट्रीय संसद में पराजित हो गया। इस पराजय के बाद जिला, कस्बा और शहर के स्तर पर मताधिकार प्रस्तावों को पारित कराने की कोशिश करनी पड़ी।)''[93]

प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्धों के बाद नारी आंदोलन की गति तीव्र हो गई और स्त्री अधिकारों के पक्ष में जोरदार ढ़ंग से आवाज उठायी जाने लगी। बींसवीं शताब्दी के

आरम्भिक दशकों में ही लातिन अमेरिकी देशों के साथ-साथ, भारत, ईरान, जापान आदि देशों में भी स्त्रीवादी आंदोलन की गूँज सुनाई पड़ने लगी। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पश्चिम के स्त्री मुक्ति आंदोलन में और भी प्रखरता आ गयी। इन आंदोलनों में कई मुद्दों को गंभीरता से उठाया गया है। जैसे सन् 1968 में 'मिस अमेरिका' सौन्दर्य प्रतियोगिता का आयोजन किया गया जिसका कड़ा विरोध नारीवादियों ने किया। अमेरिका में स्त्री पुरुषों के समान वेतन की मांग के साथ ही ब्रिटेन और इटली में 'घरेलू काम के लिए वेतन' की जोरदार मांग की गई। यौन उत्पीड़न एवं गर्भ नियंत्रण के संदर्भ में भी अभियान चलाये गये।

यूरोप में जिसे 'नारीवाद' कहा गया वही विश्व भर में अपने व्यापक प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्त्री-विमर्श के रूप में उभरा। भारतीय नारियों ने पश्चिम से आई नारी जागरण की आवाज को महसूस तो किया लेकिन पश्चिम के नारीवाद और उसके भारतीय अनुभव में मौलिक अंतर है। पश्चिम में इसका स्वर उग्र प्रतिरोध का था, वहाँ पुरुष वर्ग प्रतिद्वंदी के रूप में था किन्तु भारत में यह उस रूप में कभी नहीं आया। भारत में इसका रूप स्त्रियों की वास्तविक स्थिति में स्थायी परिवर्तन करने के लिए 'जागरुकता' के रूप में था। यह कहा जा सकता है कि "कोई एक जागृत, सचेतन आंदोलन जैसा पश्चिम में महिलाओं के मताधिकार के लिए हुआ था या कैनेडी के समय अन्य मुद्दों पर - वैसा यहाँ नहीं हुआ ! बहुत व्यापक जनसभाएँ नहीं हुईं, संगठित नेटवर्किंग नहीं हुई और सबसे बड़ी बात तो यह कि आंदोलन घटित करनेवालियों को 'स्त्रीवाद' के महत्तर परिदृश्य से अपने को जोड़कर देखने की कभी सूझी भी नहीं।"[94]

यद्यपि भारत में स्त्री मुक्ति की चेतना पश्चिम की अपेक्षा काफी देर से आई। भारत में यह आंदोलन से इतर नारी की अस्मिता और पहचान का संघर्ष अधिक रहा। भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्त्री मुक्ति की आवाजें समकालीन भारत में अधिक तेजी से उभरकर सामने

आई हैं। भारत में स्त्री मुक्ति के लिए हुए संघर्षों पर विस्तार से चर्चा अगले बिंदु के अंतर्गत की जाएगी।

च. सामंती समाज में पुरुष सत्ता

'सामंतवाद' को पूर्ण रूप से परिभाषित नहीं किया जा सकता है। सभी विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से इसकी व्याख्या की है। "मार्क्स ने ठीक ही कहा है कि 'अलग-अलग देश कालों में सामंतवाद की अलग-अलग विशेषताएं होती हैं और वह अपने विभिन्न चरणों में अलग-अलग अनुक्रम से गुजरता है।' किन्तु उसकी कतिपय सार्वभौम विशेषताएं सदा कायम रही हैं। इस बात को तो भारतीय सामंतवाद के वे आलोचक भी स्वीकार करते हैं जो सामंतवाद के रूपांतरों की बात करते हैं। सामंतवाद को उत्पादन के साधनों के वितरण तथा अधिशेष के अधिग्रहण की व्यवस्था के रूप में देखना चाहिए।"[95]

सामंती संरचना अथवा "सामंतवाद मुख्य रूप से कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था में प्रकट होता है जिसमें एक वर्ग भूमिपतियों का होता है और दूसरा पराधीन किसानों का। इस व्यवस्था के अधीन भूमिपति सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक उपायों से, जिन्हें गैर-आर्थिक उपाय कहा जाता है, अतिरिक्त उत्पादन को हड़प लेते हैं।"[96]

सामंती समाज में जिस प्रकार सामंतों (पुरुष सत्ता) का किसानों पर उनकी संपत्ति पर अधिकार था, उसी प्रकार स्त्री को भी मात्र संपत्ति के रूप में ही देखा, समझा गया। डॉ. रामशरण शर्मा लिखते हैं कि "सामंती युग में लड़ाई-भिड़ाई का दौर बराबर चलता रहता था, जिसमें स्वभावतः पुरुष ही भाग लेते थे। इसलिए उस काल में स्त्रियों को उतरोत्तर अधिकाधिक निम्न स्थान देने और उन्हें संपत्ति मानने की प्रवृति दिखाई देती है। इस प्रकार सामंती दौर में पुरुषों के प्रभुत्व में अपूर्व वृद्धि होती है, और उनकी इस सम्पूर्ण श्रेष्ठता के परिणामस्वरूप स्त्रियों पर तरह-तरह की बंदिशें लगती जाती हैं।"[97] "मध्यकाल का यह सामंती युग औरत और शराब के लिए प्रसिद्ध है। मुस्लिम शासकों के हरम में

(अपवाद रूप में औरंगजेब को छोड़कर) सुन्दर रखैलें भरी रहती थी।"[98] राजाओं द्वारा अपने मन बहलाव के लिए कभी अपहरण करके, कभी बहला फुसलाकर तो कभी जोर-जबरदस्ती से सुंदर स्त्रियों को बुला लिया जाता था। "मध्यकाल में राजा, राजकुमार, नवाब जो यह सब करते रहे, आगे चलकर उनके सामंत भी वही करने लगे। जागीरदारों, जमींदारों के उद्दंड लड़कों ने भी राजकुमारों की नकल में खेतों, सड़कों पर से खूबसूरत औरतें चुन-चुनकर मंगवाईं। उनके अधिकार क्षेत्र में काम करने वाली ग्वालिनों, मालिनों, खेतिहर मजदूरनियों पर तो जैसे उनका अधिकार मान्य ही था, घरेलू दासियों या नौकरानियों पर भी।"[99]

भारत में इस्लाम के आगमन के साथ ही पर्दा प्रथा भी स्त्रियों पर अनिवार्यतः लागू कर दी गई। "मुसलमानों के मूल देश में महिलाओं का घूंघट में रहना अनिवार्य समझा जाता था। स्वभावतया भारत जैसे विदेशी स्थान में इस पर अधिक जोर डाला गया। इस संबंध में अकबर जैसे उदार बादशाह ने भी बड़े-बड़े आदेश जारी किए थे, जिसके अनुसार 'यदि कोई नौजवान औरत शहर के बाजार और सड़कों पर बिना घूंघट डाले घूमती फिरती पाई जाए तो उसे वेश्यालय में जाकर उसी पेशे को स्वीकार करना होता था।' हिंदुओं ने अपनी नारी जाति की सुरक्षा तथा उसकी मर्यादा की रक्षा के लिए पर्दा प्रथा को अपनाया।"[100] कारण जो भी हो पर्दे की ओट लेकर स्त्री को सामाजिक भागीदारी से पृथक कर दिया गया।

तत्कालीन समाज में बाल-विवाह का प्रचलन था। 9 वर्ष की आयु तक लड़कियों का विवाह कर दिया जाता था। बाल-विवाह जैसी बुरी प्रथा के कारण कई बार छोटी उम्र की अबोध बालिकाएँ विधवा हो जाती थीं और उनका जीवन घोर कष्टों व दुखों से भर जाता था। सामंती व्यवस्था के तहत तत्कालीन हिन्दू समाज में विधवा पुनर्विवाह की प्रथा नहीं थी। पति की मृत्यु के पश्चात पत्नी को अत्यंत दुखद और कठिन जीवन व्यतीत करना पड़ता था। इसी कारण कई बार स्त्रियाँ पति की मृत्यु के पश्चात सती हो जाना ही उचित

समझती थीं। लेकिन अधिकांश मामलों में स्त्री को सती होने के लिए विवश ही किया जाता था। उस समय "सती की प्रथा प्रचलित थी। यहाँ तक कि वैसी लड़की भी जिसकी केवल सगाई भर हुई है, अपने होने वाले पति की चिता पर सती होने के लिए विवश कर दी जाती थी। वे विधवाएं जो पतियों के साथ सती नहीं होती थीं, समाज के द्वारा बहुत सताई जाती थीं। उनके बाल कटवा दिए जाते थे और उन्हें जेवर नहीं पहनने दिया जाता था। ऐसी अभागी विधवाओं को अपने मायके में रहना पड़ता था जहां उन्हें दासी के समान समझा जाता था। विधवा के प्रति उसके परिवार के लोगों का व्यवहार भी ठीक नहीं होता था।"[101]

सती प्रथा सामान्यतः हिंदुओं के उच्च वर्ग तथा राजपूत समाज में प्रचलित थी। सती जैसी जघन्य और क्रूर प्रथा को धर्म से जोड़कर देखा जाता था। एक ऐसा धर्म जो केवल पत्नी को निभाना होता था। पति के लिए ऐसा कोई विधान अथवा धर्म तत्कालीन समाज में दिखाई नहीं पड़ता है। जब किसी स्त्री के पति की बीमारी, दुर्घटना, युद्ध के कारण अकाल मृत्यु हो जाती थी। तब उन्हें नशीले पदार्थों का सेवन कराया जाता था और यह विश्वास दिलाया जाता था कि "अकाल मौत के बाद आत्मा के लिए स्वर्ग के दरवाजे बंद होते हैं। सती स्त्री अपने सतीत्व के बल पर उसे स्वर्ग ले जा सकती है।"[102] यही स्त्री का धर्म माना जाता था। आखिर प्रश्न यह उठता है कि पति को स्वर्ग पहुंचाने के लिए पत्नी को ज़िंदा जला दिया जाता है तो फिर पत्नी की मृत्यु पर पति को क्यों नहीं ? इस प्रश्न पर कोई चर्चा, कोई व्याख्या तत्कालीन समाज में धर्म की दुहाई देने वालों की नहीं मिलती है।

इतना ही नहीं यदि कोई इस प्रकार की क्रूर प्रथा पर रोक लगाने का प्रयास भी करता था तो उसे धर्म के नाम पर डरा-धमका कर रोक दिया जाता था। "मुगल सम्राट हुमायूं पहला ऐसा शासक था, जिसने ऐसी विधवाओं के सती होने पर रोक लगाने का विचार

किया जो संतानोत्पत्ति की आयु से अधिक हों, चाहे वह स्वेच्छा से अपने को अग्निदाह के लिए क्यों न प्रस्तुत करें।...किन्तु शासक को यह विश्वास दिलाया गया कि दूसरे लोगों के धार्मिक विश्वासों पर इस हस्तक्षेप से और एक पवित्र प्रथा के बलात् रोकने से निश्चय ही भगवान का क्रोध बढ़ जाएगा और फलत: उसके वंश का पतन हो जाएगा और संभव है उसकी मृत्यु भी हो जाय।"[103]

सामंती समाज में 'जौहर' जैसी एक अन्य क्रूरतम प्रथा भी प्रचलित थी। जब कोई राजपूत सरदार अथवा सामंत युद्ध क्षेत्र में पराजय के निकट पहुँच जाता था तब वह अपने स्त्री-बच्चों को किसी कमरे में बंद करके आग लगा देते थे और फिर युद्ध करने निकल पड़ते थे। यह सीधे-सीधे हत्या थी, जिसे तत्कालीन समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। इस प्रकार पुरुषों से इतर किसी भी रूप में स्त्री का स्वतन्त्र अस्तित्व सामंती समाज में स्वीकार नहीं किया गया।

मध्ययुग के सामंती समाज में स्त्रियों को मात्र पुरुषों के मन बहलाव का साधन समझा जाता था। उत्तर मध्यकाल में भी स्त्रियों की स्थिति ऐसी ही रही। राजाओं और सामंतों के 'हरम' सुन्दर स्त्रियों से भरे रहते थे। स्त्रियों को किसी एकांत स्थान में, सामाजिक भागीदारी से पृथक रखा जाता था। पुरुष वर्चस्व के ऐसे माहौल में स्त्री-शिक्षा की बात करना बेमानी होगा। किन्तु "कुछ ऐसी स्त्रियाँ भी थीं जिन्होंने किसी तरह शिक्षा प्राप्त की। दसवीं-ग्यारहवीं सदी में खजुराहो में एक ऐसी मूर्ति मिलती है जिसमें एक लिखती हुई स्त्री की तस्वीर अंकित है। सोलहवीं सदी के एक फारसी शब्दकोश में, जिसे मिफ्ताउल फजल ने 1468-69 में मालवा में संकलित किया था, शिक्षक द्वारा पढ़ाए जा रहे बच्चों के साथ काठ की तख्ती पर लिखती हुई लड़की का एक चित्र मिलता है।"[104]

"हुमायूँनामा की लेखिका गुलबदन बेगम और शिबिया तथा मुनिसाल अखा की जीवनी लेखिका जहाँनारा का स्थान तत्कालीन साहित्यकारों में बहुत ऊँचा है। मीराबाई, देवलरानी,

रूपमति सलीमा सुल्ताना, नूरजहाँ, सितिउन्नसा (जहांनारा की अध्यापिका) और जेबुन्निसा (औरंगजेब की बड़ी बेटी) उस समय की प्रसिद्ध कवयित्रियाँ थीं। रघुनाथ अभ्युदय में मधुर वाणी की लेखिका तथा आंध्र रामायण की छंदोबद्ध अनुवादिका रामभंद्रवा, काव्य वरदंबिका परिणयम की लेखिका तिरमलंबा और मारिची परिणयम नामक प्रेम काव्य की लेखिका मोइनांगी उस युग की प्रसिद्ध संस्कृत कवयित्रियाँ थीं। महाराष्ट्र में स्वामी रामदास की शिष्या अकाबाई और केनाबाई महत्वपूर्ण साहित्यिक विभूतियों में थीं। भक्ति साहित्य में मीराबाई के अतिरिक्त तेलुगु महिला कुमारी मोल्ला, मराठी महिला मुक्ताबाई और चैतन्य की उपासिका माधवबाई का स्थान महत्वपूर्ण है।"[105] ये कुछ गिनी-चुनी स्त्रियाँ थीं। इनके उदाहरण से यह न समझ लेना चाहिए कि तत्कालीन समाज में स्त्री शिक्षा बेहतर थी। सभी वर्गों की स्थिति एक जैसी नहीं थी। निम्न वर्ग तथा अधिकांश मध्यवर्ग की स्त्रियाँ शिक्षा से वंचित ही रह जाती थीं।

इस प्रकार सामंती समाज व्यवस्था में स्त्री, चाहे वह किसी भी वर्ग की क्यों न हो, उसका शोषण और दमन चलता रहा। कभी धर्म के नाम पर तो कभी सामाजिक संतुलन के नाम पर। पर्दा, सती, जौहर, अशिक्षा, बाल-विवाह, अपहरण जैसी तमाम बुराईयां उस समाज में मौजूद थीं। इन क्रूर और पतनशील बुराईयों का शिकार स्त्रियों को ही होना पड़ा। एक लंबे समय तक सामंती व्यवस्था का दंश झेलने के बाद नवजागरण का वह दौर आया जब आखिरकार तमाम क्रूर सामाजिक प्रथाओं का विरोध हुआ। स्त्री अधिकारों के प्रति चेतना और सुधारवादी दृष्टिकोण दिखाई पड़ा।

छ. नवजागरण का स्त्री संदर्भ

समाज में स्त्री-पुरुष के बीच व्याप्त असमानता तथा दोहरे मानदंडों के प्रतिरोध में नवजागरण एक ऐसा दौर था जब अनेक सुधार आंदोलनों का जन्म हुआ। अब तक स्त्री बाल-विवाह, अशिक्षा, सती प्रथा, विधवा जीवन की तमाम सामंतयुगीन बुराइयों तथा

औद्योगिक क्रान्ति के दौरान पूंजीवादी व्यवस्था के द्वारा कम से कम मूल्य पर स्त्री श्रम के शोषण से गुजर चुकी थी। अट्ठारहवीं शताब्दी से ही स्त्री के शोषण के खिलाफ अनेक आंदोलनों की पृष्ठभूमि बन रही थी, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में आकर अनेक सुधारवादी आंदोलन तेजी से परिलक्षित हुए और अनेक समाजसुधारकों ने अथक परिश्रम से इन कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया।

नवजागरण कालीन समाज सुधारकों में सर्वप्रथम ब्रह्म समाज के संस्थापक राजा राममोहन राय ने 'सती दाह' जैसी अमानवीय प्रथा पर रोक लगाने का प्रयास किया। उन्हीं के प्रयासों से "1817 में सुप्रीम कोर्ट के मुख्य पंडित मृत्युंजय विद्यालंकार ने घोषणा की कि सती की कोई शास्त्रीय मान्यता नहीं है। इसके एक वर्ष बाद यानी 1818 में बंगाल के तत्कालीन प्रांतीय गवर्नर विलियम बैंटिक ने प्रांत में सती प्रथा पर रोक लगा दी। सारे भारत में इस निषेध को फैलने में 11 वर्ष लगे। विलियम बैंटिक 1829 में जब भारत के गवर्नर जनरल बने तो उन्होंने सती निर्मूलन एक्ट पास किया।"[106] इसके साथ ही ब्रह्म समाज अनेक सामाजिक उद्देश्यों को लेकर चला, जिनमें प्रमुख थे- विधवा पुनर्विवाह करवाना, विवाह की न्यूनतम आयु बढ़ाना, बहुविवाह प्रथा को रोकना आदि।

आगे चलकर केशवचन्द्र सेन ने बम्बई में ब्रह्म समाज की एक शाखा खोलने का प्रयत्न किया। "उनके प्रभाव से बम्बई में ब्रह्म-समाज की शाखा 'प्रार्थना समाज' के नाम से खुली, जिसके मुख्य उद्देश्य चार थे- (1) जाति-प्रथा का विरोध, (2) विधवा-विवाह का समर्थन, (3) स्त्री-शिक्षा का प्रचार और (4) बाल-विवाह का अवरोध।"[107] इन सामाजिक दोषों को दूर करने का प्रयास सुधारवादियों के द्वारा किया गया। महाराष्ट्र में गोविन्द रानाडे ने इस आंदोलन को आगे बढ़ाया। उनके प्रयास काफी हद तक सफल भी रहे किन्तु "बात यह हुई कि रानाडे की पहली पत्नी का स्वर्गवास हो गया और दूसरा विवाह उन्होंने विधवा से नहीं करके एक ग्यारह साल की कुमारी बालिका से किया।"[108] इस प्रकार अपने

द्वारा निर्धारित उद्देश्यों का पालन स्वयं प्रार्थना समाज के सुधारक नहीं कर रहे थे। ऐसे में उनकी विश्वसनीयता संदिग्ध दिखाई पड़ने लगी।

तत्कालीन समाज सुधारकों में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा पुनर्विवाह पर लगे प्रतिबन्ध को हटाने का पुरजोर प्रयास किया। उन्होंने इसके लिए अनेक तर्क प्रस्तुत किए तथा विधवा पुनर्विवाह को शास्त्र सम्मत ठहराया। उनके प्रयासों से 1855 में तत्कालीन गवर्नर जनरल के आदेश पर जे.पी.ग्रांट द्वारा विधान परिषद में एक कानून प्रस्तुत किया गया। यद्यपि अनेक रूढ़िवादी हिंदुओं ने इस कानून का भरपूर विरोध किया फिर भी अंततः 1856 में कानून पारित कर दिया गया किन्तु "वास्तविकता यह है कि यद्यपि 1856 में कानून पारित कर दिया गया किन्तु इसके परिणामस्वरूप बहुत कम ही विवाह हुए।"[109] अनेक समाज सुधार संगठनों के प्रयासों के बावजूद विधवा पुनर्विवाह की संख्या बेहद कम थी। "1890 के दशक में यह तथ्य सामने आया कि विधवा पुनर्विवाह कानून बनने के बाद विगत 40 वर्षों में कुल पाँच सौ विधवा पुनर्विवाह हुए।"[110] इतने लंबे समय से रूढ़िवादी, पुरातनपंथी मानसिकता से जकड़े समाज के लिए विधवा पुनर्विवाह जैसी नई रीति को ग्रहण करना मुश्किल था। अत: और अधिक कड़े प्रयासों की आवश्यकता बनी रही। इस दिशा में भविष्य में होने वाले समाजसुधारकों ने अपना प्रयास जारी रखा।

उन्नीसवीं सदी के सुधारवादी आंदोलनों में स्वामी दयानंद द्वारा स्थापित 'आर्य समाज' (1857, बम्बई) की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यद्यपि स्वामी दयानंद ने वेदों की मान्यताओं को आधार बनाकर समाजसुधार की बात की तथा स्त्री की बीबी, माँ वाली पारिवारिक भूमिका को ही महत्ता दी फिर भी "आर्य-समाज ने नारियों की मर्यादा में वृद्धि की एवं उनकी शिक्षा-संस्कृति का प्रचार करते हुए विधवा-विवाह का भी प्रचलन किया। कन्या शिक्षा और ब्रह्मचर्य का आर्य-समाज ने इतना अधिक प्रचार किया कि हिन्दी-प्रान्तों

में साहित्य के भीतर एक प्रकार की पवित्रतावादी भावना भर गयी और हिन्दी के कवि कामिनी-नारी की कल्पना मात्र से घबराने लगे।"[111]

रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य स्वामी विवेकानंद दोनों ने ही स्त्रियों के प्रति सम्मान और उदारता का परिचय दिया। उस समय समाज में स्त्रियों को केवल कामिनी के रूप में देखा जाता था, और उसे अनाचार फैलाने वाली माना जाता था। इस सन्दर्भ में अपने एक शिष्य की शंका का निरूपण करते हुए स्वामी विवेकानंद ने जो उत्तर दिया वह स्त्री के प्रति उनके दृष्टिकोण को दर्शाता है। वे कहते हैं "पता नहीं, इस देश में नारियों और नरों में इतना भेद क्यों किया जाता है। वेदांत तो यही सिखाता है कि सबमें एक ही आत्मा निवास करती है। तुम लोग नारियों की सदैव निंदा ही करते रहे हो, किन्तु, कह सकते हो कि उनकी उन्नति के लिए अब तक तुमने क्या किया है? स्मृतियाँ रचकर और गुलामी की कड़ियाँ गढ़कर पुरुषों ने नारियों को बच्चा जनने की मशीन बनाकर छोड़ दिया। नारियाँ महाकाली की साकार प्रतिमाएं हैं। यदि तुमने उन्हें ऊपर नहीं उठाया, तो यह मत सोचो कि तुम्हारी अपनी उन्नति का कोई अन्य मार्ग है। संसार की सभी जातियां नारियों का समुचित सम्मान करके ही महान हुई हैं। जो जाति नारियों का समुचित सम्मान करना नहीं जानती, वह न तो अतीत में उन्नति कर सकी, न आगे उन्नति कर सकेगी।"[112] उन्होंने माना कि प्रत्येक देश में स्त्री की पीड़ा एक जैसी है, बस उसके रूप और परिस्थितियाँ अलग-अलग हैं।

तत्कालीन समाजसुधारकों में से एक श्रीमती एनी बेसेंट ने 'थियोसोफिकल सोसाइटी' के माध्यम से भारत में स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया। इस प्रकार ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज और थियोसोफिकल सोसाइटी आदि सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय रहे। तत्कालीन समाजसुधारकों ने स्त्री की स्थिति को उन्नत बनाने का भरपूर प्रयास किया।

1857 की क्रांति को भारत के इतिहास में प्रथम स्वाधीनता संग्राम के रूप में देखा जाता है। इस क्रांति के द्वारा विदेशी पराधीनता से मुक्ति का एक महत्वपूर्ण प्रयास किया गया। लगभग इसी समय साहित्य क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चंद्र का पदार्पण हुआ। अपनी लेखनी के माध्यम से भारतेन्दुयुगीन रचनाकारों ने विदेशी पराधीनता से मुक्ति के साथ-साथ स्त्रियों के शोषण, दमन तथा उनके अधिकारों की पुरजोर वकालत की। यह बात ध्यान देने की है कि इस समय के रचनाकारों ने स्त्रियों को 'गृहस्थ धर्म' की शिक्षा देना ही उचित समझा। यह कार्य साहित्य की विविध विधाओं और पत्र-पत्रिकाओं के जरिए हुआ।

सर्वप्रथम स्त्री समस्याओं को लेकर पं. गौरीदत्त ने 'देवरानी जेठानी की कहानी' (1869 ई.) उपन्यास लिखा। उस समय स्त्रियों को पढ़ाने का रिवाज नहीं था। "गौरीदत्त ने अपनी कहानी में पढ़ी-लिखी देवरानी और अपढ़ जेठानी के व्यवहार और चरित्र का अंतर दिखाकर न केवल लड़के-लड़कियों को शिक्षा देने के लाभ दर्शाये हैं, वरन बहुत-सी सामयिक शिक्षाएं भी दी हैं जिनमें बदलते समाज के नए सामाजिक मूल्यों की झलक मिलती है।"[113] उस समय छोटी उम्र में विवाह का चलन था जिसके चलते अधिकांश लड़कियां छोटेपन में ही विधवा हो जाती थीं। लेखक ने आनुषंगिक कथाओं के माध्यम से बाल विधवाओं के पुनर्विवाह का समर्थन किया है।

1870 के दशक में स्त्री-शिक्षा के लिए दो और पुस्तकों की रचना हुई। पहली उर्दू में लिखी गई 'मिरातुल उरूस' (गृहिणी दर्पण) जिसे नजीर अहमद ने स्त्री-शिक्षा को ध्यान में रखते हुए लिखा था। दूसरी पुस्तक है अध्यापकद्वय मुंशी ईश्वरीप्रसाद और मुंशी कल्याण राय द्वारा लिखी गई 'वामाशिक्षक' (अर्थात दो भाई और चार बहनों की कहानी) "मुंशीद्वय ने अपनी पुस्तक आर्यों की लड़कियों के लाभ के लिए, सामाजिक कुचालों और पाखंडों से विमुख करने तथा सुचाल की शिक्षा देने के लिए लिखी।"[114] 'देवरानी जेठानी की कहानी' की भांति ही इसमें भी पढ़े-लिखे तथा अपढ़ चरित्रों के बीच के अंतर को दर्शाया गया है।

पढ़े-लिखे चरित्रों के माध्यम से स्त्री-शिक्षा का समर्थन, बाल-विवाह का विरोध, स्त्रियों को गहना पहनाने की कुप्रथा का विरोध आदि तत्कालीन ज्वलंत मुद्दों को उठाया गया है।

इसी दौर में स्त्री जीवन को केन्द्र बनाकर श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भाग्यवती' उपन्यास लिखा। "भाग्यवती इस पुस्तक की मुख्य कथानायिका है। सारी कथावस्तु उसी को केन्द्र में रखकर बुनी गई है। लेखक ने भाग्यवती के रूप में एक ऐसी नारी मूर्ति गढ़ी है जिस सांचे में वह अपने समय के स्त्री-समाज को ढालना चाहता था। वह परम्पराओं से जुड़ी भी है और साथ ही जिन परम्पराओं को बुद्धिसम्मत तथा शास्त्रसम्मत नहीं मानती, उनसे अलग हटकर चलने का साहस भी दिखाती है।"[115] इस प्रकार स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देते हुए इस उपन्यास के द्वारा उन्होंने विधवा विवाह की शिक्षा का प्रचार किया और विधवा विवाह का समर्थन किया है।

कुल मिलाकर इन तीन उपन्यासों (देवरानी जेठानी की कहानी, वामा शिक्षक, भाग्यवती) में नवजागरण के दौर में नए शहरी मध्यवर्ग तथा उसमें स्त्री की स्थिति का वास्तविक रूप देख सकते हैं। 1890 के दशक में ही लिखा गया भुवनेश्वर मिश्र कृत 'घराऊ घटना' उपन्यास भी इस दृष्टी से महत्वपूर्ण है कि इसमें सामान्य मध्यवर्गीय परिवार के घरेलू जीवन और एक औसत गृहिणी का बड़ा ही यथार्थवादी चित्रण किया गया है।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पुरुष लेखकों के साथ-साथ स्त्री लेखिकाओं ने भी अपनी कलम से स्त्री समस्याओं को अभिव्यक्त करना आरम्भ कर दिया था। यह अलग बात है कि न तो उस समय उनके लिए परिस्थितियां अनुकूल थीं और न ही इतिहास लेखकों ने उनके योगदान को प्रमुखता दी। "उस काल में श्रीमती प्रताप कुंवरि बाई (सन् 1816-1892), महारानी वृषभानु कुंवरि (सन् 1857-1906), श्रीमती तोट्टाकाट्टु इक्का वम्मा (सन् 1865-1916), पण्डिता रमाबाई डोंगरे (सन् 1858-1922), राजरानी देवी (सन् 1869-

1928), हेमंत कुमारी चौधरी, मल्लिका देवी आदि लेखिकाएं हिन्दी की सेवा कर रही थीं।"[116]

1882 ई. में ताराबाई शिंदे ने 'स्त्री पुरुष तुलना' नामक पुस्तक लिखी। जिसमें उन्होंने दोहरे मानदंडो पर आधारित समाज व्यवस्था में समानता के अधिकार की बात कही थी। उस समय इस पुस्तक का कड़ा विरोध हुआ था। लगभग इसी समय 'सीमंतनी उपदेश' नाम की एक पुस्तक किसी अज्ञात लेखिका द्वारा लिखी गयी थी। स्त्रियों में चेतना जाग्रत करने की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण पुस्तक है। पं. रमाबाई ने 'स्त्री धर्म नीति' तथा 'द हाई कास्ट हिन्दू वुमन' नामक पुस्तकें लिखीं। 'द हाई कास्ट हिन्दू वुमन' में उन्होंने भारतीय स्त्रियों की स्थिति को अभिव्यक्त किया है।

नवजागरण के दौर में स्त्री केन्द्रित अनेक पत्रिकाएँ भी निकलने लगी थीं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि अधिकांश पत्रिकाएँ स्वयं स्त्रियाँ सम्पादित कर रही थीं। "1909 में इलाहाबाद में पहली बार रामेश्वरी नेहरू ने प्रयाग महिला समिति का गठन किया और इसी के साथ एक गंभीर पत्रिका **स्त्री-दर्पण** निकालना शुरू किया। इस पत्रिका का एक अन्तरंग भाग **कुमारी दर्पण** नाम से छपता था जिसकी संपादिका रूप कुमारी नेहरू थीं। **स्त्री-दर्पण** हिन्दी प्रदेश में स्त्री-आंदोलन की सबसे प्रमुख पत्रिका बनी। स्त्रियों की समस्याओं को एक आंदोलनकारी ढंग से, इतनी गंभीरता और गहराई से, उठाने वाली पत्रिका उस समय कोई दूसरी न थी।"[117] स्त्रियों के शोषण और अत्याचार, परदा प्रथा, स्त्री शिक्षा, जैसे तमाम विषयों को केन्द्र बनाकर स्त्रियों द्वारा लिखी गई कविताएँ एवं कहानियाँ स्त्री-दर्पण पत्रिका में छापी जा रही थीं।

स्त्री-दर्पण के अतिरिक्त उस समय स्त्री संबंधी जो अन्य महत्वपूर्ण पत्रिकाएँ थीं उनमें प्रमुख हैं- 'गृहलक्ष्मी', बनारस से निकलने वाली 'आर्य महिला', अलीगढ़ से पंडित देवदत्त शर्मा द्वारा संपादित 'महिला सर्वस्व', 1922 में रामरिख सहगल और रामकृष्ण मुकंद

लघाटे के संपादकत्व में इलाहाबाद से निकलने वाली पत्रिका 'चाँद'। इसके अतिरिक्त 'सरस्वती' और 'माधुरी' में भी विश्व भर की अनेक स्त्रियों के विषय में जानकारी फोटो सहित छापी जाती थी। इसमें संदेह नहीं कि "स्त्रियों की जितनी पत्रिकाएँ साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के जमाने में निकली थीं उतनी पत्रिकाएँ आज भी नहीं निकलतीं।"[118]

साहित्य के अतिरिक्त अनेक महिला स्वयंसेवी संगठनों ने 19वीं सदी के आखिरी वर्षों में भारत के महिला आंदोलनों को और अधिक तेज धार दी। "पहली बार स्त्रियों ने स्त्रियों के स्वतंत्र संगठन कायम किये। 1886 में **स्वर्णकुमारी देवी** ने 'लेडिज एसोसिएशन' कायम किया। 1892 में पंडिता रमाबाई ने स्त्रियों की शिक्षा और रोजगार के लिए पूना में 'शारदा सदन' खोला। 1902 में रमाबाई रानाडे ने **हिन्दू लेडिज सोशल एंड लिटरेरी क्लब** और 1909 में पूना में **सेवा सदन** खोला।...कलकत्ते में 1905 में सुमिति देवी ने महिला समिति बनाई। 1908 में अहमदाबाद में गुजराती स्त्री मंडल और 1913 में मैसूर में महिला सेवा समाज बना। 1916 में पूना में भगिनी समाज कायम हुआ जो स्त्री आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण संगठन था। 1914 में एनी बेसेंट भारत के राष्ट्रीय आंदोलन की नेत्री के रूप में उभरीं। उन्होंने मारग्रेट काजिन के साथ मिलकर 1917 में स्त्रियों का पहला अखिल भारतीय संगठन **'वुमेन्स इण्डिया एसोसिएशन'** कायम किया।"[119] नवजागरण काल में मध्ययुग के सामंती समाज की अँधेरी गलियों से निकलकर अन्ततः चेतना का एक सूक्ष्म स्पंदन स्त्री जगत् में दिखाई पड़ने लगा।

इस प्रकार 19वी. शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विभिन्न समाजसुधारकों के प्रयासों से और 1857 की क्रांति के बाद साहित्यकारों तथा महिला संगठनों के द्वारा स्त्री-पुरुष दोनों की समान भागीदारी से नवजागरण काल में स्त्री समस्याओं के प्रति एक नयी चेतना और नये दृष्टिकोण का आभास मिलने लगा था।

ज. स्वतंत्रता आंदोलन में स्त्री प्रश्न

उन्नीसवीं सदी के उतरार्द्ध में भारत को उपनिवेश से मुक्त करने की कवायदें काफी जोर पकड़ रही थीं। अब तक हुए सुधार आंदोलनों का असर भी दिखाई पड़ने लगा था। एक ओर देश को अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त कराना था तो दूसरी तरफ परम्परावादी सामंती जीवन मूल्यों से भी मुक्ति की आवश्यकता थी। उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशकों में न केवल विभिन्न भाषाओं विशेष रूप से बंगला और मराठी में स्त्रियों का लेखन सामने आया बल्कि वे सामाजिक आयोजनों में भी सहभागिता लेने लगी थीं। ऐसे समय में पं. रमाबाई एक जुझारू व्यक्तित्व के रूप में उभरकर आईं। उन्होंने कांग्रेस के 'बम्बई सत्र' में कुछ अन्य महिला प्रतिनिधियों के साथ भाग लिया। इसी समय स्वर्ण कुमारी देवी (रविन्द्रनाथ टैगोर की चौथी पुत्री) ने विधवाओं और अनाथों की सहायता हेतु 'साखी समिति' स्थापित की। सरला देवी घोषाल ने 'भारती' पत्रिका के जरिए अंग्रेजों द्वारा भारतीय स्त्रियों का बलात्कार किए जाने का विरोध किया और भारतीय युवा वर्ग को चेताने का प्रयास किया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए बीसवीं शताब्दी के आरंभिक 40 वर्षों में हुए तमाम महत्वपूर्ण आंदोलनों में स्त्रियों की सक्रिय भागीदारी देखी जा सकती है। स्वदेशी आंदोलन, नमक सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा आंदोलन, असहयोग आंदोलन आदि में स्त्रियों ने पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर सहयोग दिया था। इन आंदोलनों ने 1947 में देश के आजाद होने तक की पूर्ण सुदृढ़ भूमिका का निर्माण कर दिया था।

सर्वप्रथम "सन् 1905-08 के दौरान बंगाल में चले स्वदेशी आंदोलन में बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय गतिविधियों में स्त्रियों की भूमिका की शुरुआत दिखाई पड़ती है।"[120] क्योंकि अंग्रेजों की कूटनीतिक चालें अब धीरे-धीरे राष्ट्रवादियों की समझ में आने लगी थीं। इसीलिए उन्होंने स्त्रियों की भागीदारी के प्रयास को समर्थन देने का मन बना लिया था। बंगाल,

पूना, पंजाब, लाहौर आदि स्थानों पर स्त्रियों ने स्वदेशी के समर्थन में सभाएं आयोजित कीं और घूम-घूमकर प्रचार कार्य भी किया।

स्त्रियों ने क्रांतिकारियों की भरपूर मदद की थी। उनके मध्य सूचनाओं के आदान-प्रदान और उन्हें अपने घर में शरण देने जैसे जोखिम भरे कार्य स्त्रियों द्वारा ही किए गए थे। वास्तव में 1910 से पूर्व स्त्रियों ने सभा आयोजित कर या प्रचार कर सुधारवादी नजरिए से अपनी भूमिका अदा करने का प्रयास किया था। लेकिन "सन् 1910 के बाद से उग्रराष्ट्रवादी स्त्रियाँ महिला अधिकारों के मुद्दे पर होनेवाले आंदोलनों में ज्यादा सक्रिय नजर आईं।"[121] कुमुदिनी मित्रा, सरला देवी आदि ऐसी ही स्त्रियाँ थीं।

सन् 1910-1920 के दशक में अनेक महिला संगठन अस्तित्व में आए। "बंगाल में बंग महिला समाज एवं अघोरीकामिनी नारी समिति, महाराष्ट्र में सतारा अबलोन्नति सभा, बंगलूर में महिला सेवा समाज, बनारस में भारत महिला परिषद तथा इलाहाबाद में प्रयाग महिला समिति जैसे स्थानीय एवं क्षेत्रीय संगठनों ने अखिल भारतीय संगठनों का समर्थन किया।"[122] इस तरह स्त्रियों ने ब्रिटिश सरकार के समक्ष भारतीय स्त्रियों के विभिन्न अधिकारों के सन्दर्भ में सीधे-सीधे जिरह करने का मन बना लिया था। "सन् 1910 में सरला देवी ने 'भारत स्त्री महामंडल' की स्थापना की। सन् 1917 में ठीक उसी समय जब सरोजनी नायडू के नेतृत्व में एक प्रतिनिधिमंडल स्त्रियों की दशा में सुधार की मांग करने की श्रृंखला के तहत मांटेग्यू तथा चेम्सफोर्ड की समिति से मिला, सरला देवी ने भारत स्त्री महामंडल की ओर से समिति के समक्ष अपना प्रतिनिधित्व प्रस्तुत किया।...प्रतिनिधिमंडल की मांग थी कि "स्त्रियों के लिए बेहतर शैक्षणिक सुविधाएं, उन्नत स्वास्थ्य तथा प्रसूति सेवाएँ और उनके भाइयों के समान ही वोट देने के अधिकार दिए जाएँ।" सरला देवी ने उसमें जोड़ते हुए कहा कि महामंडल की राय में सरकार को विधवाओं के लिए विशेष शिक्षा संस्थान खोलने चाहिए, हिन्दू पत्नियों तथा पुत्रियों के विरासत के अधिकारों की रक्षा करने

वाले कानून बनाने चाहिए तथा सरकार को यह देखना चाहिए कि विद्यालय निरीक्षण समितियों में विदेशी स्त्रियों के बजाय भारतीय स्त्रियों को स्थान दिया जाए।"[123] मैडम कामा, ऐनी बेसेंट और सरोजनी नायडू स्त्री शिक्षा के लिए सतत प्रयत्नशील रहीं। स्पष्ट है कि स्त्रियाँ अंग्रेजों के समक्ष अपनी मांगों को प्रखर रूप से पेश कर रही थीं।

असहयोग आंदोलन के दौरान बड़ी संख्या में एकत्र होकर स्त्रियों ने खादी को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया और शराब बिक्री के विरोध में भी प्रदर्शन किए। स्त्रियों के एक बड़े प्रतिनिधिमंडल ने 1921 के कांग्रेस अधिवेशन में भी भाग लिया था। लज्जावंती, लाडो रानी जुत्शी आदि महिलाएं 1920-21 के आंदोलन की कर्मठ राष्ट्रवादी थीं। गांधी जी के संचालन में प्रारम्भ हुए 'दांडी मार्च' अथवा 'नमक सत्याग्रह' (12 मार्च- 6 अप्रैल, 1930) के दौरान भी प्रारम्भ में स्त्रियों को शामिल नहीं किया गया था। लेकिन कमला देवी चट्टोपाध्याय ने गांधी जी से अनुरोध किया और कमला देवी के प्रयासों से अंततः कांग्रेस कमेटी को स्त्रियों को शामिल करना पड़ा। "वास्तविकता यह है कि इस आंदोलन से राष्ट्रवादी आंदोलन में बड़े पैमाने पर स्त्रियों की सहभागिता दिखाई पड़ी। नमक सत्याग्रह को आमतौर पर भारतीय स्वाधीनता के संघर्ष में पहली बार भारतीय स्त्रियों की व्यापक सहभागिता के रूप में याद किया जाता है।"[124] इस सत्याग्रह आंदोलन के दौरान "देश भर में सेविका संघ स्थापित हुए। जगह-जगह पिकेटिंग बोर्ड बनाये गये। नेताओं की गिरफ्तारी के बाद विभिन्न स्थानों पर महिलाओं ने सत्याग्रह का नेतृत्व संभाला। उत्तर प्रदेश में बेगम अब्दुल कादिर, स्वरूपारानी नेहरू, ऊमा नेहरू, सरला भदौरिया, कमला नेहरू, विजयलक्ष्मी पंडित, श्यामकुमारी नेहरू आदि आंदोलन में अग्रणी रहीं।...मुंबई से आंदोलन शुरू हुआ था, सबसे ज्यादा जोर भी यहीं था। पेरिन कैप्टेन, हंसा मेहता, कमला देवी चट्टोपाध्याय, दुर्गाबाई (देशमुख), लीलावती मुंशी, खुर्शीद बहन आदि यहाँ का नेतृत्व संभाल रही थीं। आंदोलन में सैकड़ों औरतों ने गिरफ्तारियां दीं।"[125] इस तरह 1930 के दशक में होने वाले विभिन्न आंदोलनों में स्त्रियों का सशक्त हस्तक्षेप रहा। पहले-पहल यह सोच कार्य

कर रही थी कि स्त्री होने के कारण उन्हें शारीरिक यातना नहीं झेलनी पड़ेगी लेकिन बाद में यह भ्रम पूरी तरह टूट गया और स्त्री सत्याग्रहियों को भी पुरुषों के समान ही यातनाएं झेलनी पड़ी थीं।

स्वाधीनता आंदोलन के दौर में गांधीजी ने स्त्रियों की पूर्ण भागीदारी की आवश्यकता पर जोर दिया था। जबकि इससे पहले स्त्रियों को किसी भी महत्वपूर्ण विषय पर पुरुष राष्ट्रवादियों के साथ विचार-विमर्श करने अथवा भाग लेने की अनुमति नहीं थी। गांधी जी का दृष्टिकोण इससे भिन्न था जैसा कि 'मधु किश्वर' ने अपने लेख 'Gandhi on women' में लिखा है कि - "गांधी ने स्त्रियों को सुधार और मानवतावाद की वस्तु के रूप में नहीं देखा बल्कि एक आत्म सचेत विषय के रूप में देखा जो चाहे तो अपने भाग्य की पैरोकार स्वयं बन सकती हैं। इस तरह से, गांधी ने 19 वी. शताब्दी के उत्तरार्द्ध के सुधार आंदोलन के बहुत से नेताओं के उस रवैये पर विराम लगा दिया जिसके अनुसार स्त्रियाँ, प्रबुद्ध पुरुषों द्वारा मानवीय व्यवहार में सुधार के लिए की जा रही कोशिशों की निष्क्रिय भोक्ता मात्र थीं।"[126]

यही कारण था कि स्त्रियाँ गांधी जी के राजनीतिक विचारों से बेहद प्रभावित थीं। गांधी ने भी स्त्रियों की आत्मबलिदानी और सहनशीलता की प्रवृति को अपने अहिंसक सिद्धांतों के सर्वथा अनुकूल पाया था। इसीलिए 'नागरिक अवज्ञा आन्दोलन' के दौरान स्त्रियों की जुझारू भूमिका की सराहना करते हुए उन्होंने कहा "भारतीय स्त्रियों ने परदा फाड़कर फेंक दिया और राष्ट्र के काम के लिए बाहर आ गईं। उन्होंने महसूस किया कि देश उनकी घरेलू देखभाल की जिम्मेदारी के अलावा कुछ और अधिक करने की मांग कर रहा था।"[127] इस प्रकार गांधी जी ने स्वाधीनता संघर्ष में स्त्रियों की भागीदारी सुनिश्चित करने का आवह्न तो किया लेकिन स्त्रियाँ स्वयं भी इसके लिए सतत प्रयासरत रहीं।

1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' में "सारे देश की हजारों स्त्रियाँ शामिल थीं जो भूमिगत रहकर समानांतर सरकारों के गठन में सहायता कर रही थीं।"[128] इसी दौरान द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण विदेशी सैनिकों द्वारा स्त्रियों के साथ बलात्कार की घटनाएं भी लगातार बढ़ रही थीं। ऐसे में संगठित की गई 'महिला आत्मरक्षा समितियां' भी अंततः स्वाधीनता संघर्ष से जुड़ गईं और स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए स्त्रियों का सहयोग और संघर्ष बराबर जारी रहा। वस्तुतः "सन् 1940 के दशक में क्षितिज पर स्वाधीनता का इन्द्रधनुष दिखाई दे रहा था और शायद यही कारण था कि स्त्रियों का आंदोलन पूरी तरह से स्वाधीनता आंदोलन में तब्दील हो गया और नारी मुक्ति के मुद्दे को भारत की स्वाधीनता के साथ जोड़कर देखा जाने लगा। माना जाने लगा कि स्वाधीनता के साथ ही पुरुष एवं स्त्री के मध्य मौजूद असमानताएं दूर हो जाएंगी तथा स्वतंत्र भारत में सबकुछ ठीक हो जाएगा।"[129]

लंबे संघर्ष के बाद सन् 1947 में भारत अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त हो गया। अब नये सिरे से एक लोकतांत्रिक सरकार का गठन किया जा रहा था। जिसमें पूरे स्वाधीनता संघर्ष की सहयात्री रही स्त्री नदारद थी। केवल एक-दो स्त्रियों की बात छोड़ दी जाय तो न ही राजनीतिक स्तर पर उन्हें किसी महत्वपूर्ण पद के लिए चुना गया और न ही सामाजिक, आर्थिक किसी भी प्रकार के निर्णयों में उसकी भागीदारी सुनिश्चित की गई। पुरुष राष्ट्रवादियों द्वारा स्त्रियों से किए गए तमाम वादे स्वतंत्रता के बाद खोखले साबित हुए। अंतत: स्त्रियों के हाथ लगा असंतोष और नये तरह का बंधन और गुलामी। इसीलिए समकालीन भारत में भी स्त्री प्रतिरोध की आवाजें लगातार गूंजती रही हैं। अपनी 'मुक्ति' और सुदृढ़ 'सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थिति' के लिए उनका संघर्ष जारी है।

झ. समकालीन भारत में स्त्री मुक्ति की आवाजें

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय संविधान का निर्माण हुआ। संविधान के तहत स्त्रियों को भी समानता और संपत्ति का अधिकार समान रूप से देने की बात कही गई। वैधानिक रूप से ऐसे ही अनेक अधिकारों को मंजूरी मिलने के बावजूद व्यावहारिक स्तर पर आज भी स्त्रियाँ उन अधिकारों से वंचित हैं। जिसके कारण स्त्रियों में उपजा व्यापक असंतोष आजादी के बाद के दशकों में देखा जा सकता है।

एक तरफ जहां स्त्रियाँ 'तेलंगाना आंदोलन' और उत्तराखंड के 'शराब विरोधी आंदोलन' में भाग ले रहीं थीं। वहीं दूसरी तरफ महाराष्ट्र के प्रसिद्ध 'शहादा आंदोलन' के दौरान स्त्रियों ने लिंग केन्द्रित मुद्दे को भी बखूबी उठाया। उन्होंने पति द्वारा पत्नी को पीटने की समस्या को प्रमुखता से उजागर किया था। "इस प्रकार शहादा आंदोलन शराब की बिक्री एवं शराबखोरी के विरोध से शुरू होकर पत्नी-उत्पीड़कों की पिटाई में तब्दील हो गया।"[130]

भारत में 'दहेज प्रथा' लम्बे अर्से से प्रचलित रही है। इस कुप्रथा के कारण अनेक नववधुओं को असमय ही अपनी जान गंवानी पड़ती है। यद्यपि शहादा आंदोलन के दौरान भी पत्नी उत्पीड़न के बिन्दु पर प्रमुखता से बल दिया गया था लेकिन बाद के आंदोलनों में यह मुख्य मुद्दा बन गया। "जब से दहेज प्रथा को हिंदुओं के यहाँ विस्तृत रूप से व्याप्त सामाजिक बुराई के रूप में देखा जाने लगा है। तभी से कुछ लोगों के बीच यह भ्रान्ति घर कर गई है कि यह बुराई केवल हिंदुओं में ही व्याप्त है गैर-हिंदुओं में नहीं। इस सन्दर्भ में यह बात ध्यान देने की है कि भारत में विवाह करने वाले मुसलमान, पारसी, ईसाई, यहूदी अथवा भारत में विवाह करने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर यह समान रूप से लागू होती है और दहेज से सम्बंधित किसी भी प्रकार के अपराध के लिए उन्हें दोषी करार दिया जा सकता है।"[131] दहेज हत्या रोकने के लिए सन् 1961 में 'दहेज विरोधी कानून' बनाया गया था। लेकिन व्यवहारिक रूप से वह बहुत कारगर नहीं हो पाया। नतीजतन "समकालीन नारीवादी

आंदोलन में दहेज के विरूद्ध प्रारम्भिक विरोध हैदराबाद में सन् 1975 में प्रगतिशील महिला संगठन द्वारा दर्ज कराया गया।...लगभग दो वर्षों की खामोशी के बाद दहेज के विरुद्ध नया आंदोलन दिल्ली में शुरू हुआ। यह आंदोलन इस बार महिलाओं के दहेज-उत्पीड़न पर केन्द्रित था, खासतौर से हत्या और आत्महत्या के लिए मजबूर करने के विरुद्ध था।"[132] इन आंदोलनों में सभी वर्ग की स्त्रियों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था फलस्वरूप आगे चलकर अनेक कानून भी बनाए गए; लेकिन आज भी समाज में दहेज के लिए लड़कियों को जलाए जाने और उत्पीड़ित करने का सिलसिला जारी है।

पुरुष द्वारा स्त्री को उपभोग की वस्तु समझने, हर मायने में कमतर आंकने का ही परिणाम है कि भारत में 'बलात्कार' जैसे संगीन अपराध आए दिन घटित होते रहते हैं। समकालीन नारीवादी आंदोलनों में 'बलात्कार' को एक प्रमुख मुद्दे के रूप में उठाया गया। महाराष्ट्र की सत्रह वर्षीय मथुरा और बागपत की माया त्यागी के साथ पुलिसवालों द्वारा किए गये बलात्कार के विरोध में व्यापक स्तर पर आंदोलन हुए। परिणामस्वरूप स्त्री संगठनों की तमाम कोशिशों के बाद आगे चलकर बलात्कार के विरोध में जो कानून का मसौदा बनाया गया उसमें हिरासत में हुए बलात्कार को "खूंखार अपराध की श्रेणी में रखा गया"[133] साथ ही "बलात्कार की अनेक किस्मों, मसलन सरकारी कर्मचारियों, मालिकों, वरिष्ठ अधिकारियों को विस्तार से परिभाषित किया गया तथा इसके साथ ही सामूहिक एवं गैंग बलात्कार को भी एकल बलात्कार की श्रेणी में शामिल कर दिया गया। कानून में हिरासत में हुए बलात्कार के लिए अनिवार्य रूप से दस वर्ष के कारावास का दंड निर्धारित किया गया और मुकदमे की सुनवाई कैमरे के सामने करने के साथ-साथ साक्ष्य प्रस्तुत करने का भार अभियुक्त पर डाल दिया गया।"[134] यद्यपि इस मसौदे को लेकर कई विवाद उत्पन्न हुए। तमाम मतभेदों के बावजूद सन् "1983 में एक लघु आकार में कानून पास कर दिया गया।"[135] इससे कई वर्ष पूर्व भारतीय दंड संहिता (1860) की धारा 375 में 'रेप' शब्द की कानूनी व्याख्या की जा चुकी थी। वस्तुतः भारत में "लिंग आधारित हिंसा की

समस्या बदतर होती जा रही है। नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो के आंकड़ों के अनुसार 2010 के बाद पूरे देश में औरतों के खिलाफ आपराधिक मामलों में 7.1 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। आंकड़ों के मुताबिक वर्ष 2011 में बलात्कार की 24,206 घटनाएं दर्ज की गईं। यानी बलात्कार की घटनाओं में पिछले वर्ष की तुलना में 9 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। जिसमें आधे से अधिक पीड़ित महिलाएं 18 से 30 वर्ष के आयु वर्ग की हैं।"[136]

एक बार पुनः 16 दिसम्बर 2012 को दिल्ली में हुए क्रूरतम 'निर्भया बलात्कार कांड' के बाद व्यापक स्तर पर दिल्ली के साथ-साथ पूरे देश में आंदोलन की लहर दिखाई दी। इस जघन्य कांड की अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी खूब आलोचना हुई। 22 दिसम्बर 2012 को न्यायिक जांच के लिए पूर्व मुख्य न्यायाधीश जे.एस.वर्मा की अध्यक्षता में एक कमेटी गठित की गई। कमेटी की रिपोर्ट के 90 प्रतिशत निष्कर्षों के आधार पर ही बाद में अपराधी कानून (संशोधन) अधिनियम, 2013 राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी के द्वारा घोषित किया गया था। "इस संशोधन में कुछ सकारात्मक बिन्दु जैसे तेजाब फेंककर हमला करना, यौन उत्पीड़न, अश्लील इशारा करना, पीछा करना और मानव तस्करी को अपराध अधिनियम के तहत भारतीय दंड संहिता, 1860 में शामिल किया गया है। औरतों के खिलाफ यौन उत्पीड़न के मामलों से निपटने के लिए पाँच विशेष फास्ट ट्रैक कोर्ट की स्थापना की गई है। साथ ही स्त्रियों की सहायता के लिए 1091 हेल्पलाइन नंबर भारत के विभिन्न शहरों में जारी किए गए हैं।"[137]

बलात्कार विरोधी कानून में हुए तमाम संशोधन और परिवर्तन के बावजूद व्यवहारिक स्तर पर उचित रूप से क्रियान्वयन न होने के कारण आम जनमानस में इस कानून को लेकर व्यापक असंतोष देखा जा सकता है। क्योंकि बलात्कार की शिकायत दर्ज करने वाली स्त्री को ही प्रथमतया कानूनी और सामाजिक अवहेलना झेलनी पड़ती है। अधिकांश मामलों

में मामूली सजा के बाद अभियुक्त बरी हो जाता है। इसलिए इस कानून के उचित क्रियान्वयन की आवश्यकता बनी हुई है।

वर्तमान में देश की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के प्रयास में स्त्री और पुरुष दोनों के श्रम की भूमिका महत्वपूर्ण है। दोनों के बीच पारिश्रमिक के भेदभाव को खत्म करने के लिए और "यह सुनिश्चित करने के लिए कि पारिश्रमिक में लिंग के आधार पर कोई भेदभाव न किया जा सके 1976 में समान पारिश्रमिक अधिनियम पारित किया गया था।"[138] प्राय: हम देखते हैं कि श्रमिक स्त्रियों और अधिकांश गैरसरकारी क्षेत्रों में स्त्री और पुरुष के पारिश्रमिक में भारी अंतर दिखाई पड़ता है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में अनेक महिला संगठन उभरकर सामने आए और उन्होंने स्त्री की समस्याओं को स्वर देने और उनकी स्थिति बेहतर बनाने की दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया। "समकालीन नारीवादी आंदोलन का पहला महिला संगठन प्रोग्रेसिव आर्गनाइजेशन ऑफ वीमेन के नाम से हैदराबाद में स्थापित किया गया।"[139] इस संगठन के तहत एकत्र हुई माओवादी स्त्रियों ने लिंग के आधार पर होने वाले शोषण के विरुद्ध आवाज उठायी। असंगठित क्षेत्र में काम करने वाली स्त्रियों की समस्याओं के संदर्भ में इला भट्ट ने 1972 में 'सेवा' (SEWA) की स्थापना की थी। "प्रगतिशील महिला संगठन (पीओडब्ल्यू) ने अपने घोषणा पत्र के जरिए स्त्रियों की सम्पूर्ण समस्याओं के विश्लेषण का प्रयास किया जिसने नारीवाद के उदय का आभास कराया।"[140] दलित स्त्रियों ने भी एकजुट होकर 'महिला समता सैनिक दल' नामक संगठन का निर्माण किया। इसके साथ ही दिल्ली में- 'सहेली', 'अंकुर', पुणे में 'पुरोगामी स्त्री संगठन', अहमदाबाद में 'जनवादी महिला मोर्चा', बम्बई में 'स्त्री मुक्ति संगठन', हैदराबाद में 'स्त्री शक्ति संगठन' आदि महिला स्वयंसेवी संस्थाओं की स्थापना हुई। स्त्रियों के हित को ध्यान में रखते हुए सरकार ने 1992 में 'राष्ट्रीय महिला आयोग' की स्थापना की। इस आयोग के द्वारा "महिलाओं के लिए दिए गए संवैधानिक

और कानूनी प्रावधानों की नियमित समीक्षा होती है, कानूनों में सुधार लाने व उन्हें अधिक प्रभावी बनाने के लिए सुझाव दिए जाते हैं, महिलाओं की समस्याओं को दूर करने में हर संभव मदद की जाती है जिनमें उनसे जुड़े मामलों की जांच भी शामिल है और सरकार को उन सभी मामलों में सलाह दी जाती है जो किसी न किसी रूप में महिलाओं से जुड़े होते हैं।"[141]

आज भी भारत में स्त्रियों की शिक्षा और स्वास्थ्य का स्तर, उन पर होने वाली घरेलू हिंसा, बलात्कार की बढ़ती घटनाएं, बड़े पैमाने पर स्त्रियों का व्यापार साथ ही सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पायदान पर उनकी बहुत कम उपस्थिति चिंता का विषय बने हुए हैं। यद्यपि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता की समकालीन भारत में स्त्री अधिकारों और स्त्रियों की विभिन्न समस्याओं के सन्दर्भ में समय-समय पर उठाई गई आवाजों और विभिन्न संस्थाओं और संगठनों के समेकित प्रयास से स्त्री से सम्बंधित कानून में समय-समय पर संशोधन होते रहे हैं। लेकिन संविधान में स्वतंत्रता, समानता और शोषण के विरुद्ध निहित कानून को वास्तविक जीवन में व्यापक फलक पर अमल में लाने के लिए आज भी कड़े प्रयासों की आवश्यकता है।

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

[1] स्त्री उपेक्षिता, प्रभा खेतान, पृ. 53

[2] वही, पृ. 50

[3] स्त्री उपेक्षिता, प्रभा खेतान, पृ. 56

[4] वर्तमान साहित्य, मार्च, 2010, सं. नमिता सिंह, लेख - 'नारी प्राचीन धर्म-ग्रंथ और इतिहास', में उद्धृत, पृ. 12

[5] वर्तमान साहित्य, मार्च, 2010, सं. नमिता सिंह, लेख - 'नारी : प्राचीन धर्म ग्रन्थ और इतिहास'- ऋतु अग्रवाल, पृ. 12

[6] वर्तमान साहित्य, मार्च, 2010, सं. नमिता सिंह, लेख - 'नारी: प्राचीन धर्म ग्रन्थ और इतिहास' - ऋतु अग्रवाल, पृ. 13

[7] वही, पृ. 16

[8] मनुस्मृति, टीकाकार डॉ. रामचन्द्र वर्मा शास्त्री , पृ. 114

[9] मनुस्मृति, टीकाकार डॉ. रामचन्द्र वर्मा शास्त्री, पृ. 334

[10] वर्तमान साहित्य, मार्च, 2010, सं. नमिता सिंह, लेख - 'नारी प्राचीन धर्म-ग्रंथ और इतिहास'- ऋतु अग्रवाल के लेख से उद्धृत, पृ. 14

[11] भारतीय विवाह संस्था का इतिहास, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाडे, पृ. 91

[12] ध्रुवस्वामिनी, जयशंकर प्रसाद, पृ.26

[13] वही, पृ. 25

[14] स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, रेखा कस्तवार, पृ. 65

[15] तद्भव, मार्च, 2001, सं. अखिलेश, लेख - '19वीं सदी में स्त्री चेतना और ताराबाई शिंदे' - वीरभारत तलवार, पृ.184

[16] "Gandhi urged women to 'come out' and join the struggle, continuously insisting that constructive work - spinning, wearing khadi, teaching and 'serving' - were as important as attending meetings." Gandhi, 'speech at women's conference, Sojitra (Gujarat)', collected works, XXVI, Ahmedabad, 1967, cited from - Social

movements in India, Edited by : M.S.A. Rao, Article -'The Women's Movement in India : Traditional Symbols and New Roles' - Geraldine H. Forbes, P. 366

[17] स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, में उद्धृत, रेखा कस्तवार, पृ. 75

[18] स्त्री उपेक्षिता, सीमोन द बोउवार, अनु. प्रभा खेतान, पृ. 49

[19] नारीवादी राजनीति संघर्ष एंव मुद्दे, सं. साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, लेख - 'पितृसत्ता पर एक नोट' - उमा चक्रवर्ती, में उद्धृत, पृ. 1-2

[20] उपनिवेश में स्त्री, प्रभा खेतान, पृ. 39

[21] स्त्री उपेक्षिता, सीमोन द बोउवार, अनु. प्रभा खेतान, पृ. 55

[22] नारीवादी राजनीति संघर्ष एंव मुद्दे, सं. साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, लेख - 'पितृसत्ता पर एक नोट' - उमा चक्रवर्ती, में उद्धृत, पृ. 2-3

[23] "While we may niggle over the balance of authority between the personalities of various households, one must remember that the entire culture supports masculine authority in all areas of life and - outside of the home-petmits the female none at all". SEXUAL POLITICS, KATE MILLETT, P. 35.

[24] स्त्री उपेक्षिता, सीमोन द बोउवार, अनु. प्रभा खेतान, में उद्धृत, पृ. 56-57

[25] वही, पृ. 55

[26] नारीवादी राजनीति संघर्ष एंव मुद्दे, सं. साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, लेख - 'पितृसत्ता पर एक नोट' - उमा चक्रवर्ती, पृ. 3

[27] हंस, अगस्त, 1993, सं. राजेन्द्र यादव, लेख- 'नारी और दलित : कुछ और मुद्दे' - प्रभा खेतान, पृ. 70

[28] परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति, फ्रेडरिख एंगेल्स, अनुवाद नरेश नदीम, पृ. 64

[29] हिन्दू महिलाओं के जीवन में धर्म का महत्व, श्रीमती प्रीती मिश्रा, पृ. 80

[30] हंस, नवम्बर, 2009, सं. राजेन्द्र यादव, लेख - 'परिवार-सत्ता और स्त्री-विमर्श'- अर्चना वर्मा, पृ. 9

[31] दुर्ग द्वार पर दस्तक, कात्यायनी, पृ. 42

[32] हंस, नवम्बर, 2009, सं. राजेन्द्र यादव, लेख - 'परिवार-सत्ता और स्त्री विमर्श'- अर्चना वर्मा, पृ. 9

[33] दुर्ग द्वार पर दस्तक, कात्यायनी, पृ. 42

[34] स्त्री: देह की राजनीति से देश की राजनीति तक, मृणाल पाण्डेय, पृ. 80

[35] वही, पृ. 82

[36] हंस, नवम्बर, 2009, सं. राजेन्द्र यादव, लेख - 'परिवार-सत्ता और स्त्री-विमर्श'- अर्चना वर्मा, पृ. 9

[37] वही, पृ. 9

[38] श्रृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, पृ. 117-118

[39] खुली खिड़कियां, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 113

[40] औरत के हक में, तसलीमा नसरीन, पृ. 75

[41] औरत की पीड़ा, डॉ. रेणुका नैयर, पृ. 14

[42] श्रृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, पृ. 120

[43] औरत के हक में, तसलीमा नसरीन, पृ. 25

[44] उत्तराधिकार बनाम पुत्राधिकार, अरविन्द जैन, पृ. 23

[45] दुर्ग द्वार पर दस्तक, कात्यायनी, पृ. 37

[46] उपनिवेश में स्त्री: मुक्ति कामना की दस वार्ताएँ, प्रभा खेतान, पृ. 32-33

[47] साक्षात्कार, अप्रैल, 2001, सं. आग्नेय, लेख- 'नारी अस्मिता के संघर्ष का यथार्थ : अतीत से आज तक : (समाज तथा साहित्य के स्फुट संदर्भ)'- शिवकुमार मिश्र, पृ. 46

[48] स्त्री उपेक्षिता, अनु. प्रभा खेतान, पृ. 321

[49] स्त्री-अस्मिता साहित्य और विचारधारा, सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, लेख - 'स्त्री विमर्श के नए आयाम' - जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृ. 381-382

[50] श्रृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, पृ. 89

[51] हिन्दू महिलाओं के जीवन में धर्म का महत्व, प्रीती मिश्रा, पृ. 1

[52] धर्म और समाज, डॉ. राधाकृष्णन, पृ. 127

[53] खुली खिड़कियाँ, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 19-20

[54] वही, पृ. 19

[55] औरत के हक में, तसलीमा नसरीन, में उद्धृत, पृ. 24

[56] वही, पृ. 25

[57] वही, पृ. 26

[58] वही, पृ. 26

[59] हिन्दू महिलाओं के जीवन में धर्म का महत्व, प्रीती मिश्रा, में उद्धृत, पृ. 112

[60] खुली खिड़कियाँ, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 21

[61] पक्षधर वार्ता, मई-दिसम्बर, 2008, सं. विनोद तिवारी, लेख- 'या देवी सर्वभूतेषु...(देवदासी प्रथा का इतिहासपरक सामाजिक विवेचन)'- गरिमा श्रीवास्तव, पृ. 167

[62] वही, पृ. 167-168

[63] वही, पृ. 175

[64] औरत के हक में, तसलीमा नसरीन, पृ. 84

[65] स्त्री-अस्मिता साहित्य और विचारधारा, सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, लेख - 'स्त्री विमर्श के नए आयाम' - जगदीश्वर चतुर्वेदी, में उद्धृत, पृ. 382

[66] स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन, मेरी वोल्सटनक्राफ्ट, पृ. 196

[67] साक्षात्कार, दिसम्बर-जनवरी, 2000-2001, पृ. 220

[68] वर्तमान संदर्भ, अगस्त, 2009, सं. संगीता आनन्द, लेख - 'उषा प्रियम्वदा और मन्नू भंडारी के लेखन में असमंजस दिखता है'- मैत्रेयी पुष्पा से स्नेहलता और शंकर की बातचीत, पृ. 81

[69] कथादेश, मार्च 2008, सं. हरिनारायण, लेख- 'स्त्री विमर्श से कहीं अधिक पुरुष विमर्श की जरूरत है'- मन्नू भंडारी, पृ. 34

[70] हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, सुमन राजे, पृ. 310

[71] Having drawn a distinction between sex and gender in the 1970s, feminists were largely willing to see gender as something to do with culture and sex as something to do with nature (biology). Law, Crime And Sexuality, Carol Smart, P. 80

[72] वर्तमान संदर्भ, अगस्त, 2009, सं. संगीता आनन्द, लेख- 'स्वप्न भी एक शुरुआत है'- राजीव रंजन गिरि, पृ. 12

[73] नारी शोषण: आईने और आयाम, आशारानी व्होरा, पृ. 260

[74] वसुधा, स्त्री मुक्ति का सपना, विशेषांक - 59-60, पृ. 60

[75] आजकल, मई, 2008, सं. सीमा ओझा, लेख - 'अपनी अस्मिता की खोज'- सुधा बी., पृ. 34

[76] वसुधा, अक्टूबर, 2003, पृ. 533

[77] वर्तमान संदर्भ, अगस्त, 2009, सं. सीमा ओझा, लेख - 'सिमोन द बोउआर की बात में आंशिक सच्चाई है' - अनामिका से भावना सिंह और ऋषिभूषण की बातचीत, पृ. 62-63

[78] द सेकेण्ड सेक्स, सिमोन द बोउआर, अनु. स्त्री उपेक्षिता, प्रभा खेतान, पृ. 36

[79] बधिया स्त्री, जर्मेन ग्रीयर, अनुवाद - मधु बी. जोशी, पृ. 60

[80] हंस, नवम्बर, 2009, सं. राजेन्द्र यादव, लेख - 'औरतें आधा मनुष्य हैं और आधा स्वप्न' - सोनी सिंह, पृ. 22

[81] औरत के हक में, तसलीमा नसरीन, पृ. 6

[82] स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, रेखा कस्तवार, पृ. 25

[83] श्रृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, पृ. 23-24

[84] स्त्रीत्व का मानचित्र, अनामिका, पृ. 9

[85] दुर्ग द्वार पर दस्तक, कात्यायनी, पृ. 89-90

[86] वही, पृ. 49

[87] स्त्रीत्व का मानचित्र, अनामिका, पृ. 43

[88] वही, पृ. 47

[89] नारीवादी राजनीति संघर्ष और मुद्दे, सं. निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, साधना आर्य, लेख - 'पश्चिम में नारी आंदोलन का उदय : संदर्भ और मुद्दे - अनुपमा राय, में उद्धृत, पृ. 60-61

[90] वही, पृ. 61

[91] दुर्ग द्वार पर दस्तक, कात्यायनी, पृ. 94

[92]वही, पृ. 95

[93] नारीवादी राजनीति संघर्ष और मुद्दे, सं. निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, साधना आर्य, लेख - 'पश्चिम में समकालीन महिला आंदोलन' - मेरी जॉन, पृ. 107

[94] स्त्रीत्व का मानचित्र, अनामिका, पृ. 105-106

[95] पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, रामशरण शर्मा, पृ. 64

[96]वही, पृ. 65

[97]वही, पृ. 218

[98] नारी शोषण आईने और आयाम, आशारानी व्होरा, पृ. 15

[99]वही, पृ. 17-18

[100] भारत का सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास-२, पी.एन.चोपड़ा, बी.एन.पुरी, एम.एन.दास, पृ. 39-40

[101] वही, पृ. 42- 43

[102] हंस, फरवरी, 2008, सं. राजेन्द्र यादव, लेख - 'सती प्रथा, भक्तिकाव्य और हिन्दी मानसिकता'- अनुराधा, पृ. 38

[103] हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियाँ, के.एम.अशरफ, अनु. डॉ. के.एस.लाल, पृ. 196- 197

[104] भारतीय इतिहास में मध्यकाल, इरफ़ान हबीब, संपादन और अनुवाद- रमेश यादव, पृ. 36

[105] भारत का सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास-२, पी.एन.चोपड़ा, बी.एन.पुरी, एम.एन.दास, पृ. 45

[106] स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, अनुवाद एवं संपादन- रमाशंकर सिंह 'दिव्यदृष्टि', पृ. 27

[107] संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह 'दिनकर', पृ. 467

[108] वही, पृ. 468

[109] स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, पृ. 48

[110] वही, पृ. 49

[111] संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह 'दिनकर', पृ. 477

[112] वही, पृ. 508

[113] प्रेमचन्द पूर्व के हिन्दी उपन्यास, ज्ञानचंद जैन, पृ. 34

[114] वही, पृ. 38

[115] वही, पृ. 64

[116] हिन्दी साहित्य का ओझल नारी इतिहास (1857-1947), नीरजा माधव, पृ. 39

[117] राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य कुछ प्रसंग: कुछ प्रवृतियाँ, वीरभारत तलवार, पृ. 126-127

[118] वही, पृ. 128

[119] वही, पृ.125-126

[120] स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, अनु. रमाशंकर सिंह दिव्यदृष्टि में उद्धृत, पृ. 95

[121] स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, अनु. रमाशंकर सिंह दिव्यदृष्टि, पृ. 120

[122] स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, अनु. रमाशंकर सिंह दिव्यदृष्टि, पृ. 122

[123] स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, अनु. रमाशंकर सिंह दिव्यदृष्टि में उद्धृत, पृ. 121

[124] स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, अनु. रमाशंकर सिंह दिव्यदृष्टि, पृ. 163

[125] इक्कीसवीं सदी की ओर, सं. सुमन कृष्णकांत, लेख- 'भारतीय स्त्रियों का मुक्ति आंदोलन'- डॉ. राजम नटराजन पिल्लै, पृ. 209-210

[126] "Gandhi saw women not as objects of reform and humanitarianism but as a self conscious subjects who could if they choose become arbiters of their own destiny. In this way, Gandhi represents a crucial break from the attitude of many of the leaders of the reform movements of the late nineteenth century, who tended to see women as passive recipients of more humane treatment through the initiative of enlightened male effort", EPW (Economic and Political weekly), xx no 40 oct 5,1985, 'Gandhi on women'- Madhu Kishwar, P. 1695

[127] स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, अनु. रमाशंकर सिंह दिव्यदृष्टि, में उद्धृत, पृ. 177

[128] स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, अनु. रमाशंकर सिंह दिव्यदृष्टि, पृ. 197

[129] वही, पृ. 198-199

[130] वही, पृ. 212

[131] "Since dowry is considered to be a widespread social evil among Hindus, there is a misconception among some that it applies only to hindus and does not apply to non-hindus. The fact of the matter is that it equally applies to Muslims, Parsis, Christians, Jews or to any and every person who performs his marriage in india, and is found guilty of any dowry offence." Women and Legal Protection, Paras Diwan and Peeyushi Diwan, P. 161

[132] स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, अनु. रमाशंकर सिंह दिव्यदृष्टि, पृ. 243-244

[133] वही, पृ. 270

[134] वही, पृ. 270

[135] वही, पृ. 272

[136] "The problem of gender-based violence is getting worse. National Crime Record Bureau statistics show crime against women increased by 7.1 percent nationwide since 2010. There has been a rise in the number of incidents of rape recorded too. In 2011, 24,206 incidents were recorded, a rise of 9 percents from the previous years. More than half of the victims are between 18 and 30 years of age." www.aljazeera.com/indepth/features/2012/12/2012/22991735307545.html

[137] "Some of the positive measures in these amendments included recognizing acid attacks, sexual harassment, voyeurism, stalking and trafficking of persons as criminal acts under the amendments to the Indian penal code, 1860. Five exclusive fast track courts were set up to deal with cases of sexual violence against women. Additionally a women's distress helpline number 1091 was launched in various Indian cities." http://www.freiheit.org/Aktuelle-Berichte/1804c27055i1p/index.html

[138] "The Equal Remuneration Act was passed in 1976 to ensure that there was no discrimination in pay on the grounds of sex only." Women's Rights, M.J Antony, P. 11

[139] स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, अनु. रमाशंकर सिंह दिव्यदृष्टि, पृ. 217

[140] वही, पृ. 217

[141] महिलाओं के अधिकार, आई.सी.पाण्डेय, श्याम नारायण प्रधान, रमेश पाण्डेय, पृ. 94

द्वितीय अध्याय : हिंदी उपन्यासों में स्त्री उपस्थिति

क. प्रेमचंद, जैनेन्द्र और यशपाल के उपन्यासों में स्त्री उपस्थिति

स्वातंत्रयोत्तर हिंदी उपन्यास लेखन में स्त्रियों ने अपने उपन्यासों के जरिए स्त्री 'शोषण' के विभिन्न पहलुओं और 'मुक्ति' की आकांक्षा को गंभीरता से उठाया है। लेकिन यह बात ध्यान देने की है कि स्वतंत्रता पूर्व प्रेमचंद, जैनेन्द्र और यशपाल ने अपने उपन्यासों में स्त्री जीवन की विभिन्न समस्याओं को उठाया था। पृष्ठभूमि के तौर पर उनके उपन्यासों को स्त्री मुक्ति की दिशा में 'नींव के पत्थर' के रूप में देखा जाना चाहिए। यद्यपि इनके उपन्यासों के अधिकांश स्त्री पात्र 'घर के बाहर' स्त्री की व्यथा-कथा को दर्शाते हैं जबकि समकालीन स्त्री लेखिकाओं ने स्त्री जीवन को 'घर के भीतर से बाहर तक' व्यापक फलक पर, प्रत्येक सूक्ष्म पहलू को रेखांकित करने का प्रयास किया है। फिर भी एक समय विशेष में इन लेखकों के उपन्यासों में स्त्री जीवन की सशक्त अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। प्रेमचंद के सेवासदन, निर्मला, गबन और गोदान, जैनेन्द्र के परख, सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी और यशपाल के दादा कामरेड, देशद्रोही, दिव्या, पार्टी कामरेड, झूठा-सच आदि उपन्यासों में स्त्री जीवन की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में स्त्री

प्रेमचन्द ने आजीवन सामन्ती व्यवस्था से मुक्त होने के लिए संघर्ष किया। अपने लेखन के जरिए उन्होंने तमाम सामाजिक समस्याओं को उजागर किया है। अपने उपन्यासों में उन्होंने स्त्री पात्रों के वास्तविक जीवन का यथार्थ चित्रण किया है। हिंदी साहित्य में सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के माध्यम से स्त्री जीवन की विविध समस्याओं जैसे- विधवा विवाह, बाल विवाह, अनमेल विवाह, दहेज प्रथा, वेश्या समस्या, स्त्री अशिक्षा, आर्थिक पराधीनता को अभिव्यक्ति दी थी। वास्तव में प्रेमचन्द नारी मुक्ति को पुरुष

वर्चस्व के संदर्भ में नहीं मानते है। वे स्त्री-पुरुष समानता व सहभागिता पर जोर देते हैं। विशुद्ध भारतीय स्त्री के विविध रूपों की झाँकी हम उनके उपन्यासों में देख सकते हैं। यद्यपि प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों में स्त्री पात्रों की भूमिका महत्वपूर्ण है। सेवासदन, निर्मला, गबन और गोदान के स्त्री पात्र अपनी रचना धर्मिता में विशेष महत्व रखते हैं। ये उपन्यास मूलतः स्त्री को, स्त्री जीवन की समस्याओं को केन्द्र में रखकर लिखे गये हैं। इस अध्याय के अंतर्गत स्त्रियों की विभिन्न समस्याओं की पड़ताल की गयी है।

सेवासदन - 'सेवासदन' का प्रकाशन सन् 1918 ई. में हुआ। यह प्रेमचन्द का पहला उपन्यास है। इस उपन्यास में उन्होंने तत्कालीन समाज में वेश्या समस्या को प्रस्तुत किया है। "प्रेमचन्द पूर्व हिंदी उपन्यासों में स्त्रियों के लिए पातिव्रत्य को अपरिहार्य मूल्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन उपन्यासों में जो स्त्रियाँ पातिव्रत्य का पालन नहीं करती हैं, उन्हें ईश्वरीय दण्ड मिलता है। सेवासदन में प्रेमचन्द ने पहली बार पति से विद्रोह करने वाली और प्रतिक्रिया में वेश्यावृत्ति अपना लेने वाली स्त्री के प्रति सहानुभूति व्यक्त की है। सेवासदन की सुमन को कोई जबरदस्ती वेश्या नहीं बनाता, वह स्वयं वेश्यावृत्ति अपनाती है। सामाजिक मजबूरियाँ उसे वेश्या बनाती हैं। वह वेश्या बनकर अपने पति से ही नहीं, पूरे समाज से प्रतिशोध लेती है। वेश्या के रूप में भी सुमन सदन को अपने प्रेमजाल में फँसने से रोक कर अपने सामाजिक विवेक का परिचय देती है। यह भी उसका समाज के मुख पर एक तमाचा ही है। उसके वेश्या बन जाने पर समाज का प्रबुद्ध वर्ग, विशेषकर आर्यसमाज सक्रिय होता है। उसका पति भी पश्चाताप करता है। आर्यसमाज के नेता बिट्ठलदास उसके उद्धार के लिए एड़ी-चोटी का दम लगा देते हैं। सुमन उनसे बातचीत के क्रम में पूरे समाज को बेनकाब कर देती है। यह प्रेमचन्द की क्रान्तिकारी सामाजिक दृष्टि का परिचायक है। प्रेमचन्द ने पातिव्रत्य को नारी चरित्र का एकमात्र मूल्य स्वीकार नहीं किया है। पति, घर और समाज से सुमन का विद्रोह शोषित और दलित नारी का, पुरुष समाज से विद्रोह का

प्रतीक है। सुमन के चरित्र के माध्यम से प्रेमचन्द ने विवश नारी की समाज से टकराव की कहानी कहने का प्रयत्न किया है।"[1]

माना जाता रहा है कि 'वेश्या' एक ऐसी स्त्री है जो स्वतंत्र जीवन व्यतीत करती है। किन्तु इस स्वतंत्र जीवन का एक दूसरा क्रूर सच यह भी है कि वह स्त्री जो वेश्यावृत्ति अपना चुकी है उसे हमारा शुद्धतावादी समाज दुबारा स्वीकार नहीं करता है। चाहे एक विशेष समय में उसके वेश्या बनने के पीछे सामाजिक-आर्थिक कारण जो भी रहे हों। जैसा कि "सेवासदन में स्त्रियों के वेश्यावृत्ति अपनाने के मूल में तिलक-दहेज की प्रथा, पति द्वारा पत्नी की उपेक्षा, उसके प्रति अविश्वास और क्रूर व्यवहार तथा समाज की उपेक्षा और असहानुभूति को कारण माना गया है।"[2] कारण कई हो सकते हैं किन्तु समाज की मुख्य धारा में पुनः शामिल होकर सम्मानित जीवन जीने का उसके पास कोई विकल्प नहीं रह जाता है। किन्तु प्रेमचन्द ने वेश्याओं के सुधार के लिए 'सेवासदन' की स्थापना का विकल्प ढूँढ़ा है। यद्यपि यह विकल्प कोई सशक्त विकल्प नहीं है फिर भी हमें तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही इस पर विचार करना चाहिए। वास्तव में प्रेमचन्द का उद्देश्य समाज में व्याप्त वेश्या समस्या पर विचार करना था। 'सेवासदन' उपन्यास के संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार - "इसकी मुख्य समस्या भारतीय नारी की पराधीनता है। इस प्रधान समस्या के साथ-साथ अन्य छोटी-बड़ी समस्याएँ भी गुम्फित हो गयी हैं। 'दहेज की समस्या', 'अनमेल विवाह', 'झूठी नैतिकता, 'सामाजिक रूढ़ियाँ', 'पुलिस वर्ग के कारनामे' आदि अनेक प्रश्न बीच-बीच में उठते रहे हैं। मुख्य समस्या 'वेश्या जीवन में सुधार का समाधान लेखक ने सेवासदन की स्थापना में ढूँढ़ा है।"[3]

निर्मला - सुमन जहाँ पति की दासी बनने के स्थान पर स्वाभिमानी बनकर वेश्या जीवन अपना लेती है वहीं निर्मला की स्थिति सुमन से भिन्न है। 'निर्मला' में प्रेमचन्द ने 'दहेज और अनमेल विवाह' की समस्या पर विचार किया है। दहेज देने की सामर्थ्य न होने के कारण निर्मला का विवाह वृद्ध किन्तु आर्थिक रूप से सम्पन्न तोताराम से कर दिया जाता है। उसे अपने समवयस्क तीन पुत्रों की माता बनकर रहना पड़ता है। ''प्रेमचन्द ने दहेज प्रथा को केन्द्र में रखकर सशक्त उपन्यास की रचना की है। 'निर्मला' किसी भी मध्यवर्गीय परिवार की शोभा हो सकती थी। दहेज के अभाव में उसे एक अधेड़ व्यक्ति से बंधना पड़ा जो उसका कल्पना- पुरुष नहीं हो सकता था। अन्तर्मन से न चाहने पर भी निर्मला को प्रेम का अभिनय करना पड़ता है। वह दुहरा जीवन व्यतीत करती है। मंसाराम के प्रति उसमें सहज आकर्षण है। मुंशी तोताराम का अपराधबोध उन्हें शंकालु बनाता है। यही शंका पूरे परिवार को विनष्ट कर देती है।''[4] अनमेल विवाह के कारण निर्मला को आजीवन कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ता है। वस्तुतः यह उपन्यास दहेज प्रथा के कारण होने वाले अनमेल विवाह की नाटकीय स्थितियों का चित्रण करता है।

'निर्मला' उपन्यास के अन्य स्त्री पात्र हैं- कल्याणी, निर्मला, कृष्णा और रंगीली। निर्मला में सहनशीलता व दब्बूपन है किन्तु अन्य स्त्री पात्र प्रतिकूल स्थितियों को नकारते भी दिखाई देते हैं। निर्मला जीवन की घटनाओं को भाग्य का लिखा मानकर स्वीकार कर लेती है, संघर्ष नहीं करती है। 'रंगीली' थोड़ा-बहुत पढ़ी-लिखी है। वह दहेज लेने या देने के विरूद्ध है। इसी उपन्यास की एक अन्य पात्र है 'सुधा'। उसके ससुराल आते ही उसके पति की मृत्यु हो जाती है। किन्तु वह अपने कर्तव्य का निर्वाह करती है। प्रेमचन्द ने उसे आदर्श नारी के रूप में चित्रित किया है। वह निर्मला से कहती है ''ऐसे सौभाग्य से मैं वैधव्य को बुरा नहीं समझती। दरिद्र प्राणी उस धनी से कहीं अधिक सुखी है जिसे उसका धन साँप बनकर काटने दौड़े। उपवास करना आसान है, विषैला भोजन करना उससे कहीं मुश्किल।''[5]

निश्चित ही प्रेमचन्द ने 'निर्मला' उपन्यास के माध्यम से उस समय की ज्वलंत समस्या को लोगों के सामने रखा। निर्मला के माध्यम से उन्होंने सम्पूर्ण स्त्री समाज के कष्टमय जीवन को उजागर करने का सफल प्रयास किया है।

गबन - 'गबन' में प्रेमचन्द ने नारी की आभूषणप्रियता का बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। समय के साथ 'जालपा' का गहनों के प्रति आकर्षण कम होता जाता है। परिस्थितियाँ उसे 'चन्द्रहार' के संकीर्ण दायरे से निकालकर देशप्रेम तथा मानवप्रेम की विस्तृत भूमि पर पहुँचा देती हैं। वस्तुतः 'गबन' में प्रेमचन्द ने जालपा के चरित्र से नारी मुक्ति के दो रास्तों पर प्रकाश डाला है। पहला है आर्थिक आत्मनिर्भरता का। जालपा के आभूषण-प्रेम का कारण भले ही उसकी बाल्यकाल की परिस्थितियाँ थीं, पर प्रेमचन्द उससे सामान्य निष्कर्ष निकालते हैं कि स्त्री के लिए कामकाज के मार्ग बन्द कर देने पर उसके मन में आभूषणों के प्रति विशेष आसक्ति पैदा होती है। आर्थिक पराधीनता के कारण स्त्री को अपनी हर छोटी-बड़ी आवश्यकता की पूर्ति के लिए पुरुष की तरफ देखना पड़ता है। यह आर्थिक निर्भरता ही उसकी सामाजिक पराधीनता का कारण है। प्रेमचन्द ने लिखा है कि " "औरत कमा नहीं सकती, इसलिए उसकी यह दुर्गति है।" विधवा होने के बाद जालपा आर्थिक रूप से ग्रस्त होकर इसी सत्य का अनुभव करती है।...नारी मुक्ति की दूसरी दिशा प्रेमचन्द सामाजिक जागरुकता और सक्रियता में खोजते हैं। अपने 'स्व' के बन्द दायरे में सिमट कर रहने वाली स्त्री के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। उसके लिए जरुरी है कि वह अपने व्यक्तिगत हितों को समाज-हित में समर्पित करे। सरकारी गवाह बनकर क्रान्तिकारियों को सजा कराने पर वह अपने पति रमानाथ को धिक्कारती हुई कहती है, "तुम्हें अपने को मनुष्य कहने का कोई अधिकार नहीं है।" उसके इस तेजस्वी रूप के सम्बन्ध में डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं, "जालपा भारत का उगता हुआ नारीत्व है।...वह एक नयी आग है, जो झूठी संस्कृति के कागजी फूलों को नष्ट कर देती है।" "[6] जालपा निर्मला की तरह

परिस्थितियों से समझौता नहीं करती है अपितु संघर्ष करती है। प्रेमचन्द के विद्रोहिणी नारी पात्रों में उसका अग्रणी स्थान है।

'गबन' की दूसरी नारी पात्र है 'रतन' जो निर्मला की भाँति ही अनमेल विवाह और फिर विधवा जीवन का दंश झेलती हुई अन्त में मृत्यु को प्राप्त हो जाती है। 'रतन' के माध्यम से प्रेमचन्द ने समाज में विधवा स्त्री की दुर्गति का बड़ा ही हृदयविदारक वर्णन किया है।

यद्यपि 'गबन' उपन्यास के ये स्त्री पात्र सर्वत्र समझौतावादी न होकर विद्रोही हैं। सामाजिक शोषण और रूढ़ियों का विरोध भी करते हैं। किन्तु उनका संघर्ष उन्हें आत्मनिर्भर व सक्षम स्त्री के रूप में सफल नहीं बना पाता है। प्रेमचंद के अधिकांश स्त्री पात्र आदर्शवाद की ओर ही झुके दिखाई पड़ते हैं।

गोदान - प्रेमचंद समाज में स्त्रियों की स्थिति से असंतुष्ट थे। चाहे वह स्त्री किसी भी वर्ग की हो। गोदान में मालती के अतिरिक्त अधिकांशतः किसान वर्ग की स्त्रियों का ही चित्रण हुआ है। इन स्त्रियों में धनिया, सिलिया, झुनिया, पुनिया, मुन्नी आदि हैं। उपन्यास की केन्द्रिय स्त्री पात्र है 'धनिया'। "धनिया के संघर्षों में वर्ग-संघर्ष की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। इसीलिए धनिया की लड़ाई दुहरी लड़ाई है। एक ओर वह गाँव के मुखियाओं और दरोगा से लड़ती है, दूसरी ओर होरी से।"[7] वह चाहती है कि होरी जमींदारों के समक्ष अपने हक की लड़ाई लड़े। उसके हृदय में शोषकों, सामन्तों व समाज के ठेकेदारों के प्रति तीव्र विद्रोह है। होरी का भाई गाय को जहर देकर भाग गया है। पुलिस होरी के भाई के घर की तलाशी लेना चाहती है किन्तु होरी को इसमें अपनी मर्यादा का हनन लगता है। वह दरोगा को पैसे देकर मामले को रफा-दफा करना चाहता है। इस पर धनिया उसे फटकारते हुए कहती है- "घर में तलाशी होने से इसकी इज्जत जाती है। अपनी मेहरिया को सारे गाँव के सामने लतियाने से इसकी इज्जत नहीं जाती।"[8] एक स्थान पर जब मातादीन को बेधरम किया जाता है तो होरी इसको गलत मानता है। किन्तु धनिया होरी की इस धारणा का विरोध

करती है और सिलिया चमारिन का संदर्भ रखते हुए कहती है "अच्छा रहने दो बड़े न्यायी बनते हो। इसको मतई ने बेधरम किया तब तो किसी को बुरा नहीं लगा। अब जो मतई बेधरम हो गये, तो क्यों बुरा लगता है ? क्या सिलिया का धरम-धरम ही नहीं।"[9] धनिया स्त्री-पुरुष समानता की पक्षधर है। परिस्थितियाँ चाहे कितनी भी कठोर क्यों न हों वह बेबाकी से अपना पक्ष रखती है। झुनिया, सिलिया भी इसी निम्न वर्ग की युवतियाँ हैं। झुनिया सामाजिक दुर्व्यवस्था की शिकार एक विधवा युवती है जिसे गोबर भगाकर ले आता है और धनिया बिरादरी की परवाह किए बिना झुनिया को पनाह देती है। सिलिया एक दलित युवती है इस कारण वह 'दलित' और 'स्त्री' होने का दोहरा अभिशाप झेलती है।

केवल निम्न वर्ग की स्त्रियाँ ही पुरुष वर्चस्व का शिकार नहीं हैं बल्कि उच्चवर्ग की स्त्रियाँ जैसे मालती, गोविन्दी, मीनाक्षी भी पितृसत्ता की ज्यादतियों को झेलती हैं। गोविन्दी अपने पति की ज्यादतियों का शिकार है। मीनाक्षी के पिता रायसाहब जानबूझकर अपनी पुत्री का विवाह दुराचारी व्यक्ति से कर देते हैं क्योंकि वह उनकी बराबर की हैसियत वाला है। किन्तु इसका दुष्परिणाम मीनाक्षी को ही भोगना पड़ा। अंततः वह अपने पति से तलाक ले लेती है। मालती इंग्लैण्ड से डॉक्टरी पढ़कर आयी है। वह अपने पूरे परिवार की जिम्मेदारी संभालती है। वह शिक्षित और जागरुक होने के साथ-साथ आधुनिक तौर-तरीकों से भी भली-भाँति परिचित है। वह पुरुष मानसिकता को भी बखूबी समझती है। वह समय-समय पर रायसाहब, मेहता, खन्ना आदि से प्रतिवाद भी करती है। वह पुरुष वर्चस्व को स्वीकार न कर समानता की पक्षधर है। मालती के आधुनिक भावबोध से सम्पन्न तीक्ष्ण और प्रखर विचारों को अधिकांश आलोचकों द्वारा नकारात्मक ढ़ंग से ही आंका गया है। लेकिन मैत्रेयी पुष्पा ने सभी आलोचकों से इतर गोदान के स्त्री पात्रों को बिल्कुल भिन्न दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। स्वतंत्र और आत्मनिर्भर समझी जाने वाली मालती के संदर्भ में वह लिखती हैं कि "जीत तो आपकी मालती भी नहीं रही है जो तितली की तरह आजाद है और मनमानी उड़ान भरती दिखती है। बस वह मेहताओं जैसे समाज-सुधारकों के

द्वारा बुद्धि-विलास का भ्रम पाल बैठी है, नहीं तो असलियत कहीं तक उसके भी सामने है कि मेहता जैसे आदमी इस्तेमाल की नीति में विश्वास रखते हैं। वे मांस खाते हैं, मगर हड्डियाँ गले में नहीं लटकाते। वे अपने व्यवहार में एक ही वक्त में दो औरतों का अन्यायपूर्ण इस्तेमाल करते हैं कि घूमने-फिरने और मौज-मजे के लिए आवारा औरत हो और परिवार के लिए धर्मपत्नी। हमारी गांव की भाषा में पहली का नाम पुरुषों ने रखैल और दूसरी का नाम जोरू रखा है।"[10] वास्तव में "मालती के चरित्र के पीछे प्रेमचन्द का भयंकर द्वंद्व यह है कि सामन्ती गुलामी में फँसी स्त्री की समस्यायों का पूर्ण समाधान बुर्जुआ समाज में नहीं देखते। वे गुलामी से निकली स्त्री को आधुनिकतावाद के दलदल में नहीं फँसने देना चाहते हैं। विकास की इस दिशा को वे गलत मानते हैं इसलिए प्रेमचन्द मालती के व्यक्तित्व में तोड़-मरोड़ करके उसमें गरीबों के प्रति मानवीयता और मातृत्व का समावेश करते हैं। इस प्रकार एक ऐसी स्त्री के निर्माण की ओर संकेत करते हैं जो सामन्ती शोषण से मुक्त है और जिसकी सामाजिक हैसियत 'वस्तु' के रूप में नहीं है। इस कार्य में वह कितने सफल हैं, कितने असफल यह अलग प्रश्न है। मालती के चारित्रिक विकास द्वारा प्रेमचन्द ने सामन्ती शोषण से मुक्त औरत के सामने बुर्जुआ समाज द्वारा फेंकी गयी चुनौतियों और उनसे संघर्ष की जरुरत को स्पष्ट किया है।"[11]

वस्तुतः "गोदान अकेले किसान की संघर्ष-गाथा नहीं है, वह स्त्री की संघर्ष-गाथा भी है। धनिया के साथ कोई बड़ी घटना नहीं हुई। आधी उम्र में ही झुर्रियां दिखने लगीं वह कांति चली गयी, जिससे होरी सम्मोहित था। पर आवाज में दम था। सत्ता, सूदखोर और पंडितों की, पुलिस प्रशासन की भी ऐसी-तैसी कर सकती थी। गोबर-झुनिया के बीच का अवैध प्रेम और विवाह, मातादीन पंडित और सिलिया चमाइन का प्रेम - ऐसे कई प्रसंग हैं, जो परम्परा को महज रीति मानकर संतुष्ट नहीं हैं, वे परम्परा में सेंध लगाते हैं और स्त्री को मुक्त करते हैं।"[12]

जैनेन्द्र के उपन्यासों में स्त्री उपस्थिति

परख - जैनेन्द्र का पहला उपन्यास 'परख' सन् 1929 ई. में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास में कुल चार पात्र हैं- कट्टो, सत्यधन, बिहारी और गरिमा। सत्यधन एक शिक्षित एवं आदर्शवादी युवक है। वह वापस अपने गाँव आकर रहने लगता है। कट्टो उसी गाँव की एक बाल विधवा है। वह सत्यधन से पढ़ने आया करती है। दोनो में प्रेम का सूत्र विकसित होने लगता है। इसी प्रीति के चलते 'कट्टो' स्वयं को सधवा मानकर श्रृंगार सामग्री खरीद लाती है। दूसरी तरफ सत्यधन का मित्र है 'बिहारी'। जो सम्पन्न परिवार से है, उसकी बहन है 'गरिमा'। बिहारी के पिता गरिमा का विवाह सत्यधन से करना चाहते हैं। सत्यधन भी गरिमा के परिवार की सम्पन्नता से प्रभावित होकर उससे विवाह कर लेता है। कट्टो का विवाह भी बिहारी से हो जाता है। यह सम्बन्ध दैहिक न होकर आत्मिक है। बिहारी के पिता अपनी सारी सम्पत्ति बिहारी के नाम कर जाते है। अंततः आत्मिक सम्बन्ध में बँधे कट्टो व बिहारी अलग-अलग रहने लगते हैं और सत्यधन को अपने प्रति हीनता का आभास होता है।

इस उपन्यास के माध्यम से लेखक ने विधवा के पुनर्विवाह की समस्या पर विचार किया है साथ ही प्रेम करने की स्वतंत्रता पर भी विचार किया है। "परख की कट्टो वस्तुतः भारतीय समाज की ऐसी उपेक्षिता बाल विधवा है जो सदियों से सामाजिक घृणा का भार ढोती रही है। हिन्दू समाज में व्याप्त इस दुराचार का प्रतिकार और एक विश्लेषणात्मक विकल्प की संरचना में जैनेन्द्र ने आधुनिक हिंदी उपन्यासों की परम्परा में वस्तुतः पहली बार उसे प्रेम करने की आजादी दी और बाल सुलभ चापल्य में ही नागरिक जिम्मेदारियों का तीखा अहसास भी दिया।"[13]

ऐसे समय में जब समाज में किसी विधवा बालिका के सौभाग्य पर पूरी तरह से प्रश्न चिह्न लगा हुआ था, जैनेन्द्र ने अपने इस उपन्यास के माध्यम से बाल-विधवा के प्रेम व

विवाह के अधिकारों की बात को प्रमुखता से उजागर किया है। उपन्यास में एक स्थान पर लेखक ने लिखा है "यह विधवा है, कम नसीब। लड़की जान गई है, वह विधवा है, कम नसीब भी होगी। लेकिन फिर हँसते-खेलने, भागने-कूदने का अधिकार वह क्यों नहीं रखती, यह वह नहीं समझ पाती।"[14]

वास्तव में "इस उपन्यास का तब हिंदी जगत में स्वागत इसलिए हुआ कि इसके लेखक ने उस नायिका के माध्यम से एक सामान्य विधवा के जीवन में दिखने वाले अभावों और दुःखों को एक सर्वथा नये कोण से प्रस्तुत किया था। यह नवीनता थी प्रेम की स्वतंत्रता के प्रति लेखक के नैतिक आग्रह की। सत्यधन और कट्टो में प्रेम होता है, पर विवाह नहीं। लेखकीय धारणा के अनुसार प्रेम आत्मदान है और इसलिए कट्टो का सौभाग्य इसी में है कि वह सत्यधन की खुशी की राह खोल दे। वह सत्यधन और गरिमा के बीच से हट जाती है - चूड़ियाँ, टिकुली की डिबिया, कंघा-शीशा आदि को लेकर बुना गया स्वप्न गरिमा को भेंट कर देती है। जैनेन्द्र प्रेम की भावनात्मक स्वतंत्रता को ही मान्यता देते हैं, उससे आगे नैतिक-विधान को चुनौती नहीं देते।"[15]

सुनीता - जैनेन्द्र के उपन्यास 'सुनीता' का प्रकाशन सन् 1934 ई. में हुआ था। इसके प्रकाशन के साथ ही जैनेन्द्र एक मौलिक और सशक्त उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित हो गए थे। सुनीता और श्रीकांत पति-पत्नी हैं। हरिप्रसन्न श्रीकांत का पुराना मित्र है। वह एक क्रांतिकारी है। एक दिन दिल्ली में अकस्मात् श्रीकांत की भेंट हरिप्रसन्न से हो जाती है और वह उसे अपने घर ले आता है। श्रीकांत अपनी पत्नी सुनीता के जरिए हरि की घर-गृहस्थी बसाने का प्रयत्न करता है। वह सुनीता को निरंतर प्रोत्साहित करता है कि वह हर तरह से हरि को प्रसन्न रखे। सुनीता श्रीकांत की हिदायतों का पूरा ख्याल रखती है। श्रीकांत की अनुपस्थिति में एक रात हरिप्रसन्न सुनीता को क्रांतिकारियों की बैठक का नेतृत्व करने के लिए निर्जन जंगल में ले जाता है। वहां पुलिस का खतरा भांप लेने पर वे दोनों दूर ही रुक

जाते हैं। हरि सुनीता के समक्ष कामेच्छा व्यक्त करता है। सुनीता निर्वसन हो जाती है और हरि से स्वयं को समूचा पा लेने का निमंत्रण देती है। हरि इस घटना से सर्वथा पराभूत हो जाता है। भोर होने पर वे दोनों घर लौट आते हैं। पति द्वारा अपने मित्र की यौन कुंठा के निराकरण के लिए अपनी पत्नी से आग्रह किया जाना बड़ा अटपटा लगता है। ऐसा जान पड़ता है मानो, श्रीकांत और हरि जैसे पितृसत्ता के वाहक पुरुष अपने-अपने जीवन में व्याप्त असंतोष और कुंठा को समाप्त करने के लिए सुनीता का इस्तेमाल कर रहे हैं। लेकिन इसे जैनेन्द्र का क्रान्तिकारी कदम माना जा सकता है कि जिस 'स्त्री देह' के प्रश्न पर स्वातंत्र्योत्तर लेखन में लगातार बहस बनी रही उस 'देह' के पक्ष को जैनेन्द्र ने 'सुनीता' के जरिए बहुत सहज ढंग से प्रस्तुत कर दिया था। 'यौन मुक्तता' की बात जैनेन्द्र नहीं करते इसीलिए "राजेन्द्र यादव को शिकायत रही कि 'सुनीता' में घर के भीतर तो स्त्री मुक्ति है किन्तु यौन संबंधों की मुक्ति दिखाने से लेखक कतराने लगा।"[16] जबकि हरिप्रसन्न और सुनीता कहीं-न-कहीं एक-दूसरे के प्रति आकर्षण अनुभव करते हैं। इस सन्दर्भ में उपन्यास लेखन के समय और सामाजिक परिदृश्य को ध्यान में रखा जाना आवश्यक है। फिर भी अंत में सुनीता का अपने पति के पास वापस लौट आना यह साबित करता है कि बाहर से पूर्णत: क्रान्तिकारी विचारों से पूर्ण दिखाई पड़ने वाला यह उपन्यास अंततः भारतीय समाज में विवाह संस्था के महत्व को एक बार पुनः स्थापित करता है। वास्तव में "जैनेन्द्र नारी को प्रेम और त्याग की महिमामयी मूर्ति रखना चाहते हैं और यह होती मूर्ति ही है- निष्प्राण।"[17] स्त्रियों के आत्मबलिदान की यह प्रवृति उनके अन्य उपन्यासों में भी देखी जा सकती है। यह उल्लेखनीय है कि 'सुनीता' में जिस यूटोपियन कथा का ताना-बाना जैनेन्द्र बुनते हैं वह अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद स्त्री-पुरुष संबंधों के एक नए रूप को उजागर करता है।

त्यागपत्र - जैनेन्द्र का तीसरा और सर्वाधिक प्रसिद्ध उपन्यास 'त्यागपत्र' 1937 ई. में प्रकाशित हुआ था। उपन्यास की 'प्रारम्भिक' नामक प्रस्तावना में इसे चीफ जज सर एम.

दयाल जी के स्वर्गवास के बाद उनके कागजों में मिली अंग्रेजी पाण्डुलिपी का हिंदी अनुवाद बताया गया है। इस उपन्यास में "मृणाल के अभिशप्त जीवन की कथा कही गयी है। मृणाल भाई के संरक्षण में बड़ी होती है। उसके प्रति भाभी का व्यवहार कठोर है। वह अपने भतीजे 'प्रमोद' से स्नेह करती है। स्कूल पढ़ते समय उसे अपनी सहेली 'शीला' के भाई से प्रेम हो जाता है। यह संबंध जब प्रकट होता है तो भाभी उसे बुरी तरह पीटती हैं। मृणाल का विवाह एक अधेड़ व्यक्ति से कर दिया जाता है। पति के प्रति सत्य की पूर्ण निष्ठा रखते हुए मृणाल अपने पूर्व प्रसंग को प्रकट कर देती है। पति उसे घर से बाहर निकाल देता है। एक कोयले का व्यापारी उस पर अनुरक्त होकर भगा ले जाता है। वासना की पूर्ति हो जाने पर वह भी मृणाल को छोड़कर चला जाता है। मृणाल अस्पताल में एक बच्ची को जन्म देती है जो दस महीने के भीतर ही मर जाती है। मृणाल अंततः समाज के निम्न स्तर के लोगों के बीच पहुँच जाती है और घातक रोग से पीड़ित होकर यंत्रणामय जीवन व्यतीत करती है। प्रमोद उसे लेने जाता है। वह उससे उन असहाय और पतित लोगों की सेवा के लिए धन की माँग करती है और लौटने से इन्कार कर देती है। प्रमोद उसकी सहायता नहीं कर पाता है। कई वर्षों तक पीड़ा और व्यथा सहने के बाद मृणाल का अन्त हो जाता है। प्रमोद को इतना गहरा धक्का लगता है कि वह जजी से त्यागपत्र देकर विरक्त हो जाता है।"[18]

'त्यागपत्र' में अनमेल विवाह की समस्या को भी उठाया गया है, जो उस समय समाज की एक बड़ी समस्या थी साथ ही नैतिकता, स्त्री, प्रेम, विवाह आदि प्रसंगों पर भी सूक्ष्मता से विचार किया गया है। "मृणाल के लिए प्रेम और स्वाभिमान का प्रश्न, घर-परिवार के भीतर अपनाये जाने का प्रश्न जिन्दगी से बड़ा प्रश्न है। वह जिन लोगों के बीच है उनके मन में उसके लिए क्या जगह है ? उससे वे कितना प्रेम करते हैं ? किस तरह प्रेम करते हैं? यही उसके जीवन की कसौटी बनता है। खतरा उठाकर भी प्रेम करने की प्रवृत्ति उसमें लड़कपन से है। स्कूल में जब गणित के अध्यापक की नाराजगी शीला पर उतरने को है तो

वह स्वयं दोष अपने ऊपर ले लेती है और अध्यापक द्वारा मार स्वयं खाती है। शीला के भाई के प्रति सहज आकर्षण के कारण वह रोज स्कूल के बाद उसके घर जाने लगती है। इसके लिए बहुत बड़ी कीमत भी चुकाती है - (1) भाभी द्वारा बेंतों से बेतहाशा मार, जो प्रमोद का भी दिल हिला दे, (2) पढ़ाई-लिखाई बंद, (3) घरेलू कामकाज की शुरुआत, (4) घोर मानसिक वेदना जिसने हंसी को हमेशा के लिए विदा कर दिया (5) जल्दबाजी में किया गया बेमेल और अपात्र व्यक्ति से अकरूण विवाह और उसके बाद.....?"[19]

मृणाल की यह कहानी उस समय लिखी गई जब भारतीय समाज तमाम परिवर्तनों के बीच से गुजर रहा था। स्त्री-विमर्श की प्रखर गूँज जैनेन्द्र के इस उपन्यास में भी दिखाई पड़ती है। "अस्सी वर्ष पहले लिखे गये इस उपन्यास को आज जब हम डिकंस्ट्रक्ट करते हैं, लेखक की भाषा को आज के सन्दर्भों में विखंडित करते हैं, आज की मनोभूमि का, आज के नये विमर्श और आज के भारतीय समाज की परिस्थितियों के संदर्भ में उसका विश्लेषण करते हैं तो हमें यह उपन्यास काफी यथार्थ और मर्मस्पर्शी प्रतीत होता है। मृणाल की मनोव्यथा, उसके भटकाव, उसका आत्मविश्वास, उसका स्वाभिमान और और सहन करने की उसकी शक्ति हमें कहीं न कहीं भीतर तक झकझोरती है। एक मृणाल नहीं हजार-हजार मृणाल हमें अपने आसपास दिखाई देती हैं।"[20] 'मृणाल' के माध्यम से जैनेन्द्र ने सामाजिक संरचना के दुहरे मापदण्डों को उजागर किया है। यद्यपि जैनेन्द्र ने स्त्री के आत्मसंघर्ष और असंतोष को तो सूक्ष्मता से उभारा है किन्तु यहाँ भी अंततः आत्मदान को ही स्त्री की श्रेष्ठता के रूप में प्रतिपादित किया है।

'कल्याणी' का प्रकाशन 1939 ई. में हुआ। 'कल्याणी' भी मृणाल की भाँति ही पुरुष की यंत्रणा भोगती है। यद्यपि वह सुशिक्षित और सक्षम है। वह अर्थोपार्जन भी करती है किन्तु स्वावलम्बी होते हुए भी वह स्वतंत्र नहीं है। जैनेन्द्र ने स्त्री जीवन की इस समस्या को तो उठाया है किन्तु कहीं भी प्रतिरोध का प्रादुर्भाव दिखाई नहीं पड़ता है।

एक लम्बे अंतराल के बाद जैनेन्द्र ने 'सुखदा' उपन्यास की रचना की। इसके बाद सन् 1953 में 'विवर्त' का प्रकाशन हुआ। " 'सुखदा' में और आगे 'विवर्त' में ऐसे ही समर्पणशील पत्नी को सिर्फ प्रेम से पाना चाहने वाले पतियों को मान दिया गया है। इन उपन्यासों की विशेषता स्त्री-पुरुष की समस्या को इस कोण से ज्यादा तीव्रता के साथ प्रस्तुत करने में है"[21] 'सुखदा' में प्रेम की पीड़ा को दर्शाया गया है। 'विवर्त' में भुवनमोहनी के माध्यम से स्त्री के आत्मबलिदान को ही प्रमुखता दी है। 'व्यतीत' (1953) उपन्यास में भी जयन्त और अनीता के माध्यम से प्रेम और विवाह की समस्या को उठाया गया है। प्रेम की कुण्ठा व अंत में पुरुष को मुक्त करने के लिए स्त्री का आत्मदान इस उपन्यास में भी देखा जा सकता है।

इसके अनन्तर जैनेन्द्र के 'जयवर्धन' (1956 ई.), 'मुक्तिबोध' (1965 ई.), 'अनन्तर' (1968 ई.), 'अनामस्वामी' (1974 ई.), 'दशार्क' (1983 ई.) आदि उपन्यास प्रकाशित हुए। इन उपन्यासों में किसी न किसी रूप में स्त्री-पुरुष संबंधों का चित्रण है और प्रेम की प्रमुखता दिखाई पड़ती है। उन्होंने रूढ़ परम्पराओं में पिसती स्त्री की यातना का चित्रण किया है और विवाहेतर जीवन में भी नर-नारी में प्रेम के निषेध की भावना को कम किया है। "पं. नन्ददुलारे वाजपेयी की दृष्टि में जैनेन्द्र का रचनात्मक साहित्य 'एक रोमानी कल्पना का प्रयोगमात्र' बनकर रह गया है। यह स्थिति उनके परवर्ती उपन्यासों में भी देखी जा सकती है। 'अनन्तर' की 'अपराजिता' और 'दशार्क' की 'रंजना' भी प्रेम और अहिंसा के दर्शन को ही चरितार्थ करती हैं। 'अनामस्वामी' की 'वसुन्धरा' भी आत्मपीड़न के मार्ग पर ही चलती है किन्तु इसकी चरितार्थता उसके जीवन में नहीं दिखाई देती।"[22] उपन्यास का अंत होते-होते जैनेन्द्र समझौतावादी हो जाते हैं। यह समझौता सदैव स्त्री पात्र के माध्यम से ही होता है जो उपन्यास को अविश्वसनीय और परम्परावादी बना देता है। यद्यपि जैनेन्द्र के विचारों और समझौतापरस्त निष्कर्षों से असहमति व्यक्त की जा सकती है। किन्तु अपने समय के अनुरूप और परिस्थितियों के संदर्भ में उनकी उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण हैं।

यशपाल के उपन्यासों में स्त्री उपस्थिति

यशपाल हिंदी के सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यासों में जनसामान्य की समस्याओं का विस्तृत वर्णन हुआ है। उनके उपन्यासों के प्रमुख स्त्री पात्रों में 'शैल' (दादा कामरेड), 'चन्दा' (देशद्रोही), 'दिव्या' (दिव्या), 'गीता' (पार्टी कामरेड), 'सोमा' (मनुष्य के रूप), 'तारा' (झूठा सच), 'बिनी' (बारह घण्टे) और 'उषा' (तेरी मेरी उसकी बात) महत्वपूर्ण हैं। इन पात्रों के माध्यम से ही यशपाल की स्त्री दृष्टि पर यहाँ विचार किया जायेगा।

दादा कामरेड - 'दादा कामरेड' का प्रकाशन स्वतन्त्रतापूर्व सन् 1941 ई. में हुआ। यह मूलतः एक राजनीतिक उपन्यास है। इस उपन्यास की प्रमुख स्त्री पात्र शैलबाला लाला ध्यानचन्द की पुत्री है। वह हरीश की मित्र है और उसकी सहायता करती है। वह पढ़ी-लिखी है, काँग्रेस के लिए काम करती है और क्रान्तिकारियों का साथ देती है। वस्तुतः वह एक प्रगतिशील स्त्री है।

शैल आत्मविश्वास से पूर्ण स्त्री है। प्रेम में वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता को महत्वपूर्ण मानती है। उसके जीवन में पाँच पुरुष आते हैं, किन्तु वह किसी को भी अपना जीवनसाथी नहीं बनाती है, कारण यह कि वह एकाधिकार की भावना से दूर रहना चाहती है। "नारी जाति की गुलामी शैल बर्दाश्त नहीं करती। स्त्री को पुरुष की सम्पत्ति बनकर रहना उसे पसंद नहीं। बी. एम. ने उससे कहा था 'हो रहो किसी की या कर लो किसी को अपना'। इस उपदेश की आलोचना करते हुए शैल हरीश से कहती है...'किसी की हो' रहने या किसी को अपना बना लेने का मतलब क्या ? किसी को अपना बनाने का मतलब भी किसी का हो जाना ही है, जहाँ स्त्री का अपना कुछ शेष नहीं रह जाता। यदि स्त्री को किसी न किसी की बनकर रहना ही है तो उसकी स्वतंत्रता शायद इसी बात की है कि स्त्री एक बार अपना मालिक चुन ले परन्तु गुलाम उसे जरूर बनना है।"[23]

शैल परम्परागत नैतिक मान्यताओं की प्रखर विरोधी है। वह "कामविषयक किसी भी परम्परागत नैतिक मूल्य को स्वीकार नहीं करती। वह एक साथ कई व्यक्तियों से प्रेम करने में कोई अनैतिकता नहीं देखती पर ज्यों ही उसका कोई प्रेमी उसके शरीर पर एकाधिकार कायम करने की कोशिश करता है, वह उसका त्याग कर देती है।"[24]

"शैल एक बागी नायिका है। नारी को क्रीत दासी बनाकर रखने वाले पूँजीवादी नीति नियमों को उसने तोड़ दिया है। वह आधुनिक युग की नई मान्यताओं को स्थापित करती हुई प्राचीन मान्यताओं पर कुठाराघात करती है। यही उसका साहस है। सही उसकी चारित्रिक विशेषता है।"[25] शैल अपनी मित्र यशोदा को स्वतंत्रता और निर्णय-सम्पन्नता के सन्दर्भ में समझाते हुए कहती है ''अब तक स्त्रियाँ रहीं हैं मर्दों के व्यक्तिगत इस्तेमाल की चीज। यदि वह अपने व्यक्तित्व को अलग से खड़ा करने की जरा भी चेष्टा करेंगी तो जरूर उठेंगी, लेकिन थोड़े दिन बाद नहीं.....हिम्मत करो। पुरुषों को सहने का अभ्यास होना चाहिये कि स्त्रियाँ भी अपना व्यक्तित्व रखती हैं।''[26]

उपन्यास की दूसरी सशक्त स्त्री पात्र है 'यशोदा'। वह एक सामान्य मध्यवर्गीय परिवार की स्त्री है। वह शादीशुदा है। पति अमरनाथ के मना करने पर भी वह राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेती है और क्रान्तिकारी हरीश की सहायता करती है। वह स्त्री के सामाजिक शोषण का विरोध करती है और आन्दोलन में पूर्ण सहभागिता दर्ज कराती है।

वास्तव में " 'दादा कामरेड' राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष के चित्रण के साथ समाज में व्याप्त नारी विषयक मान्यताओं के विरूद्ध विद्रोह के स्वर मुखरित करता है। शैल और यशोदा के रूप में हमें ऐसे नारी चरित्र मिलते हैं जिसमें समाज से, अपने परिवेश से संघर्ष और विद्रोह करने का साहस है।"[27]

देशद्रोही - इस उपन्यास का प्रकाशन सन् 1943 ई. में हुआ। इस उपन्यास की प्रमुख स्त्री पात्र है 'चंदा' जो राजाराम की पत्नी है। चंदा की बहन 'रोज' का पहला पति है भगवानदास

खन्ना। पति द्वारा सदैव उपेक्षित होने वाली चंदा आगे चलकर कम्यूनिस्ट खन्ना की ओर आकर्षित होती है। ''राजाराम अपने कारोबार में हमेशा व्यस्त रहता है और जीवन में खालीपन का अनुभव करने वाली चन्दा खन्ना की ओर झुकती है। खन्ना उसकी बहुत कद्र करता है। दोनों एकान्त में समय बिताते हैं और ऐसा सन्तोष पाते हैं जो यौन संबंधों से बहुत ऊँचा है। खन्ना चन्दा की गोद में सिर रखता है, बातें चलती हैं परन्तु दोनों के मानसिक भावों में उदात्तता है, पवित्रता है। खन्ना की दृष्टि से 'चन्दा में माँ की ममता, सखी का सौहार्द और भक्त की श्रद्धा थी ही'।"[28]

चन्दा का पति उस पर शंका करता है। यद्यपि चन्दा और खन्ना का रिश्ता पवित्र है तथापि वह समाजमान्य नहीं हो सकता। चन्दा का पारिवारिक जीवन टूट जाता है। "देशद्रोही में भी यशपाल खतून, डॉ. खन्ना, राजदुलारी, राज, चंदा आदि के संबंधों के चित्रण द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि पुरुष द्वारा नारी पर आरोपित 'पवित्रता' का मूल्य और सतीत्व की धारणा एक साजिश है। स्त्री को एक ही व्यक्ति के उपभोग की वस्तु मानने की परम्परागत अवधारणा को यशपाल स्वीकार नहीं करते हैं।"[29]

वस्तुतः "नारी के प्रति पूँजीवादी दृष्टिकोण को उजागर करने के लिए यशपाल ने राजाराम और चंदा जैसे पात्रों की सृष्टि की है। राजाराम का मत है - 'पाप-पुण्य कुछ भी नहीं। जिसको कोई धर्म कर्म न मानना हो वह कम्युनिस्ट बन जाए। स्त्रियों को कम्युनिस्ट होना अच्छा लगेगा ही। न कोई बंधन, न किसी का डर, न किसी का लिहाज, जब जिससे मन बहला, उसके साथ चल दिए।' पुण्य और धर्म के विराट शब्दों के आड़ में राजाराम की पीढ़ी स्त्री की समस्त स्वतंत्रताओं को निगल कर उन्हें पैर की जूती का अस्तित्व प्रदान करती हैं। स्त्रियों की यह दशा भारत में ही नहीं हर मजहब प्रधान, पूँजीवादी व्यवस्थाओं सामन्ती देशों में यही दशा है।"[30]

दिव्या - 'दिव्या' उपन्यास की सम्पूर्ण कथा बौद्धकालीन परिवेश को लेकर बुनी गयी है। दिव्या द्विजकुल की कन्या है। वह सागल राज्य के धर्मस्थ देवशर्मा की प्रपौत्री है। वह सफल नृत्यागंना है। अपने मोहक नृत्य के कारण मधुपर्व के अवसर पर हुई प्रतियोगिता में उसे 'सरस्वती पुत्री' की उपाधि प्राप्त हुई। वह द्विजकुल की होने के बावजूद भी दास-पुत्र पृथुसेन से प्रेम करती है और विवाह पूर्व ही गर्भवती हो जाती है। दिव्या और पृथुसेन का विवाह नहीं हो पाता है और दिव्या तिरस्कृत होती है। उसे नगर छोड़ना पड़ता है। वह दासी बनती है और अनेक यंत्रणाओं को झेलती है। "जीवन के यथार्थ का स्वीकार दिव्या करती है। स्त्री का भोग्या रूप दिव्या इन शब्दों में व्यक्त करती है- जो भोग्य बनने के लिए उत्पन्न हुई है, उसके लिए अन्यत्र शरण कहाँ ? उसे सब भोगेंगे ही। भय किससे नहीं ? क्या तात से भय नहीं ? महापितृव्य से भय नहीं ? वे मुझे आर्य रूद्रधीर को देना चाहते थे। मैंने स्वेच्छा से पृथुसेन को आत्मसमर्पण किया, उसका फल यह है।"[31]

उसके बाद वह बौद्ध संघ में शरण लेना चाहती है। किन्तु उसे प्रवेश की अनुमति नहीं मिलती है। क्योंकि संघ के नियमों के अनुसार स्त्री को पिता, पुत्र और पति की अनुमति के बिना प्रवेश नहीं मिलता है। केवल वेश्या को संघ में प्रवेश की अनुमति है क्योंकि वह स्वतंत्र है। इसी क्रम में दिव्या एक नर्तकी के घर पहुँचती है और अंततः एक नृत्यागंना अंशुमाली के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करती है। इसी क्रम में जब दिव्या एक सफल नृत्यागंना के रूप में सागल पहुँचती है तो उसे 'जनपद कल्याणी' के पद पर आसीन किये जाने का कड़ा विरोध वर्णाश्रम धर्म सर्मथकों द्वारा होता है। क्योंकि वर्णाश्रम धर्म के अनुसार एक ब्राह्मण कन्या को इसकी अनुमति कदापि नहीं है। दिव्या ब्राह्मण आचार्य रुद्रधीर के विवाह प्रस्ताव को ठुकरा देती है। अपने पूर्व प्रेमी पृथुसेन जो कि अब बौद्ध भिक्षु बन चुका है, के द्वारा संघ में शरण लेने के आमंत्रण को भी अस्वीकार कर देती है। चार्वाक मारिश प्रस्ताव रखते हुए कहते हैं कि "वह संसार के धूलि-धूसरित मार्ग का पथिक है। उस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान

चाहता है। वह नश्वर जीवन में संतोष की अनुभूति दे सकता है।...सन्तति की परम्परा के रूप में मानव को अमरता दे सकता है।"[32] दिव्या इस प्रस्ताव को सहज स्वीकार कर लेती है।

पार्टी कामरेड - यह सन् 1946 के आम चुनाव और नाविक विद्रोह को आधार बनाकर लिखा गया उपन्यास है। उपन्यास की पृष्ठभूमि पूर्ण रूप से राजनीतिक है। गीता इस उपन्यास की नायिका है। वह कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यकर्ता है। पद्मलाल भावरिया बम्बई शहर का नामी गुण्डा है जो गीता की ओर आकर्षित होता है और अंततः गीता के प्रभाव से उसका चरित्र पूर्णतः परिवर्तित हो जाता है और वह भी कम्यूनिस्ट बनकर आजादी के आन्दोलन में भाग लेता है।

गीता दृढ़ विश्वासी होने के साथ-साथ स्त्री के सम्मान और स्वतंत्रता की प्रबल पक्षधर है। उसके अनुसार "इस देश में बिना जाने-बुझे पुरुष को पति रूप में स्वीकार कर लेना क्या स्त्री का आत्मसम्मान है ? कोई स्त्री विवश हो वेश्या बनती है कोई विवश हो पतिव्रता.....। सेलिंग वन्स कम्पनी (अपनी संगति का मूल्य वसूल करना ?) पास बैठकर दिल बहलाना या कमर में हाथ डानने देना ? प्रयोजन वही है। क्या है स्त्री भी ? उसका मूल्य पुरुष को संतोष देने में ही है ? यदि अपने संतोष के लिए वह कुछ करे तो मैं उसे बुरा नहीं कहूँगी।"[33]

गीता पार्टी का अखबार बेचकर चंदा इकट्ठा करती है। वह एक साहसी स्त्री है। उसकी चिन्ता मुख्यतः सामाजिक समस्याओं को लेकर है। वह पुरुषों द्वारा स्त्रियों की गुलामी का स्पष्ट विरोध करती है। दूसरी तरफ "गीता के राजनीतिक विचार भी प्रगतिशील हैं। इतनी अधिक जनसंख्या वाला जनतंत्र भारतवर्ष छोटे से देश इंग्लैण्ड के अधीन क्यों है, यह प्रश्न उसे सताता है। उसका मत है कि मजदूरों-किसानों को अपना मेम्बर चुनने का अधिकार हो। अंग्रेज जैसे ऊपर से अफसर बनाकर भेज देते हैं वैसे ही कांग्रेस भी अपनी राय का आदमी ऊपर से लाद देती है। किसान मजदूरों का हक नहीं देखा जाता। एकता के बारे में गीता का

विचार बड़ा तथ्यपूर्ण है- एकता सबके संतुष्ट होने से ही हो सकती है। किसी को दबाने से थोड़े ही एकता होगी?"[34]

गीता यशपाल के उपन्यासों की सशक्त नारी पात्रों में से एक है। वह प्रगतिशील विचारों और सामाजिक चेतना से सम्पन्न नारी है। यशपाल ने गीता के चरित्र-चित्रण में पूर्णतः सफलता पायी है। डॉ. सरोज बजाज के अनुसार " 'पार्टी कामरेड' जितना ताजा तथा यथार्थवादी उस समय था उतना ही आज भी है।"[35]

मनुष्य के रूप - इस उपन्यास में स्त्री जीवन की विविध समस्याओं का चित्रण हुआ है। नायिका सोमा को पिता द्वारा बेचा जाना, उसका विवाह के नवें महीने में ही विधवा हो जाना, ससुराल वालों का असहनीय जुल्म, उसे बेचने की योजना बनाना, इस गुप्त योजना के बारे में जानने के बाद सोमा का धनसिंह (जो उससे सच्चा प्रेम करता है) के साथ भाग जाना, पुलिस द्वारा धनसिंह और सोमा को पकड़ लिया जाना, थाने में सोमा को शराब पिलाकर उस पर बलात्कार किये जाने जैसी अनेक घटनाएं घटित होती हैं। सोमा के जीवन में घटित होने वाली इन विविध घटनाओं के दौरान सोमा के बदलते रूप ही 'मनुष्य के रूप' है।

घर से भागने के बाद सोमा के जीवन में धनसिंह, जगदीश, ड्राइवर बरकत, सुतलीवाला जैसे अनेक पुरुष क्रमशः आते गये। ड्राइवर बरकत तो उसे बम्बई ले जाकर वेश्या बनाना चाहता था। किन्तु अंततः वह फिल्मी दुनिया में 'पहाड़न' नाम से प्रवेश करती है, जहाँ उसे शोहरत, पैसा, सम्मान सब मिलता है। फिल्मी दुनिया में सफल होने पर उसका जीवन बदल जाता है। उसने जीवन के हर मोड़ पर अपने स्त्री होने का मूल्य चुकाया। सोमा की कहानी एक स्त्री के जीवन संघर्ष की असीम कहानी है। त्रिभुवन सिंह के अनुसार ''इस उपन्यास के अन्दर 1942 के आन्दोलन में किए गए पुलिस अत्याचारों, कामुक पुरुषों की स्त्रियों के प्रति कुचेष्टाओं तथा पूँजीपतियों की अनैतिकता आदि के सजीव चित्र खींचे गए हैं।''[36]

झूठा सच (भाग 1 और 2) - 'झूठा सच' उपन्यास की प्रमुख स्त्री पात्र है 'तारा'। तारा गरीब घर की एक शिक्षित स्त्री है। दहेज देने के लिए पैसा न होने के कारण उसका विवाह उसकी इच्छा के विरूद्ध विधुर सोमराज से कर दिया जाता है, जबकि वह एक मुसलमान युवक असद से प्रेम करती है। यहाँ तक कि वह समाज की परवाह किए बगैर असद के साथ भागने के लिए भी तैयार है किन्तु असद उसका साथ नहीं देता है। वह आत्महत्या करने का प्रयत्न करती है किन्तु असफल होती है।

सोमराज तारा के साथ क्रूर व्यवहार करता है। विवाह की रात है, हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो जाता है और तारा सोमराज का घर छोड़कर भाग जाती है। इसी दौरान गुण्डा नब्बू उसका बलात्कार करता है। उसे हाफिज झायत अली के घर में कुछ दिनों के लिए आश्रय मिलता है। इसके बाद उसे रिफ्यूजी कैम्प में छोड़ दिया जाता है। चूँकि तारा इस कैम्प की सबसे शिक्षित लड़की है इसीलिए मिसेज अग्रवाल उसे अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए कहती है। वहीं नरोत्तम नाम के युवक की सहायता से तारा को सरकारी कार्यालय में नौकरी मिलती है। आगे चलकर वह सेन्ट्रल सेक्रेटरिएट सर्विस में चुनी जाती है। वह नारी कल्याण केन्द्र की अध्यक्ष के रूप में भी कार्य करती है।

तारा के समक्ष नरोत्तम, नित्यानन्द तिवारी, मेजर कपूर जैसे अनेक पुरुष विवाह का प्रस्ताव रखते हैं किन्तु वह इंकार कर देती है। अंततः वह प्राणनाथ से विवाह करती है। प्राणनाथ उसके जीवन की सारी हकीकत जानकर भी उसे स्वीकार करता है। तारा आत्मविश्वास और साहस से परिपूर्ण स्त्री है। अपने लम्बे संघर्षमय जीवन के बाद भी वह स्वाभिमानी, स्पष्ट विचारों वाली प्रगतिशील स्त्री है।

तारा के माध्यम से यशपाल ने अनमेल विवाह, असफल प्रेम और बलात्कार जैसी समस्याओं को उजागर किया है। तारा में जीने का साहस है। वह अपने ध्वस्त हो चुके जीवन को फिर से सँवारने में सफल होती है। "तारा यशपाल की सबसे समर्थ सृष्टि है।

'झूठा सच' के दूसरे भाग के करीब-करीब सभी पात्र तारा के सम्पर्क में आते हैं और उससे प्रेरणा प्राप्त करते हैं। परिश्रम, प्रतिभा, व्यवहारकुशलता, सहिष्णुता, साहस तथा दृढ़ता आदि गुणों के सहारे तारा न केवल सफलता प्राप्त करती है बल्कि परमपूज्या भी बन जाती है।"[37]

बारह घण्टे - बारह घण्टे विधवा बिनी और विधुर विजय फेण्टम की कथा है। उन दोनों की भेंट उस समय होती है जब वे दानों कब्रिस्तान में अपने-अपने जीवन साथियों की समाधि में पुष्प अर्पित करने आये हैं। दोनों की परिस्थितियाँ एक जैसी हैं और यही कारण है कि वे दोनों एक-दूसरे के करीब आते हैं। वे दोनों आजीवन एक साथ रहने का निर्णय लेते हैं। यह सम्पूर्ण घटनाक्रम 12 घण्टे के भीतर होता है। बिनी फेण्टम के बारे में अपनी मौसेरी बहन जेनी और बहनोई पामर को बताती है। पर वे बिनी के इस व्यवहार को अनैतिक बताते हैं। परम्परागत विधान से हटकर पुनर्विवाह का फैसला किए जाने पर जेनी उसे अपशब्द तक कह देती है।

यशपाल ने स्त्री-मुक्ति को ध्यान में रखते हुए बिनी के चरित्र को समझने का आग्रह किया है। वे लिखते हैं "पाठकों से अनुरोध है कि बिनी को प्रेम अथवा दाम्पत्य निष्ठा निबाह न सकने का कलंक देने का निर्णय करते समय बिनी के व्यवहार को केवल परम्परागत धारणाओं और संस्कारों से ही न देखें। उसके व्यवहार को नर-नारी के व्यक्तिगत जीवन की आवश्यकता पूर्ति की समस्या के रूप में तर्क तथा अनुभूति के दृष्टिकोण से, मानव जीवन में व्याप्त प्रेम की प्राकृतिक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में भी देखें।"[38]

यशपाल ने बिनी को एक ऐसे चरित्र के रूप में वर्णित किया है जो साहस के साथ परम्पराओं और रूढ़ वर्जनाओं का विरोध करती है और यथार्थ के धरातल पर विचार कर निर्णय लेती है। जबकि जेनी, परम्पराओं व चली आ रही मान्यताओं के अनुसार जीने वाली स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है। यशपाल यथार्थ स्थिति को महत्व देते हैं। वस्तुतः उन

परम्पराओं का क्या महत्व जो व्यक्ति को नितान्त अकेला, असहाय और असहज जीवन जीने के लिए बाध्य कर दें।

तेरी मेरी उसकी बात - इस उपन्यास की नायिका उषा प्रगतिशील नारी है। वह ईसाई होते हुए भी अपने माता-पिता के विरूद्ध जाकर हिन्दू युवक से विवाह करती है। पति के संशयी व्यवहार से त्रस्त होकर वह उसे भी त्याग देती है। वह परम्पराओं और रूढ़ियों का सदैव ही विरोध करती है। एक तरफ वह अंग्रेजों द्वारा देश के शोषण व दूसरी तरफ पुरुषों के द्वारा स्त्री के शोषण दोनों से मुक्ति का प्रयास करती है। "राष्ट्र को देखते वह क्रांतिकारिणी है, समाज के लिए विद्रोही, सहयोगियों के लिए प्रेरकशक्ति, पति के लिए पहेली और पुत्र के लिए शुद्ध माता है। बावजूद एक ऐंग्लोइंडियन बुद्धिजीवी परिवार में जन्म लेने और पालित होने के कारण आयी आधुनिकता के उषा को उन समस्त विडम्बनाओं से गुजरते हुए अपने राष्ट्रीय व्यक्तित्व को निखार देना पड़ा जो सामान्य नारी के सन्दर्भ में 'पति' और 'विवाह' नामक सड़ी संस्थाओं के इर्द-गिर्द हमारे भारतीय समाज में उभरती है।"[39]

उषा स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर है। वह सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर स्त्री मुक्ति की आकांक्षी है। पति, परिवार, धर्म व सामाजिक स्तर पर विद्रोह करने वाली उषा को यशपाल ने प्रत्येक स्तर पर नारी मुक्ति की आंकाक्षी स्त्री के रूप में समस्त दुर्बलताओं और सबलताओं के साथ चित्रित किया है, न कि केवल आदर्श चरित्र के रूप में।

ख. स्वातंत्र्योत्तर पुरुष लेखकों के उपन्यासों में स्त्री चेतना

'स्त्री' के जीवन संदर्भों को केंद्र में रखकर पुरुष उपन्यासकारों द्वारा अनेक उपन्यासों की रचना हुई है। स्वतंत्रता से पूर्व प्रेमचंद, जैनेन्द्र और यशपाल ने अपने उपन्यासों में स्त्री जीवन के बहुविध उत्पीड़न को रेखांकित करने का प्रयास किया था। इसी क्रम में नागार्जुन ने 'रतिनाथ की चाची' (1948 ई.), 'बलचनमा' (1952 ई.), 'नई पौध' (1953 ई.), में विधवा

जीवन की मर्मान्तक पीड़ा झेलती स्त्रियों, अनमेल विवाह और बाल विवाह की भेंट चढ़ा दी जाने वाली लड़कियों के विवश जीवन का चित्रण किया है। भैरव प्रसाद गुप्त ने 'गंगा मैया' (1952 ई.), 'सती मैया का चौरा' (1959 ई.) उपन्यासों में सामंती जीवन मूल्यों की शिकार स्त्री का चित्रण करने के साथ ही सभी वर्ग की स्त्रियों के विडंबनापूर्ण जीवन का अंकन किया है।

"इसी दशक में रेणु ने 'मैला आँचल' (1954 ई.) में लक्ष्मी के चरित्र के रूप में मठों में महंतों द्वारा स्त्री के देह-शोषण का रोमांच पैदा करने वाला अंकन किया है। लक्ष्मी के चरित्र में भी रूपान्तरण होता है, पर उसके पास कोई विकल्प नहीं है। गनेश की नानी के रूप में किसी असहाय स्त्री को 'डायन' घोषित कर उस पर किए जाने वाले अमानवीय अत्याचार का चित्रण भी बहुत मार्मिक है।...अमृतलाल नागर कृत 'बूंद और समुद्र' (1956 ई.) तथा 'अमृत और विष' (1966 ई.) में सामंती मूल्यों में जकड़ी नारी की विवशता, घुटन, कुंठा, उत्पीड़न और उससे मुक्ति के लिए उनके संघर्ष का चित्रण हुआ है। उन्हीं के 'नाच्यो बहुत गोपाल' (1978 ई.) में स्त्री के देह-शोषण और दलित स्त्री की नारकीय जिन्दगी का चित्रण किया गया है।"[40]

इन प्रबुद्ध रचनाकारों के स्त्री विषयक दृष्टिकोण को विस्तार देते हुए समकालीन पुरुष लेखकों ने अपने उपन्यासों में 'स्त्री जीवन' की सशक्त अभिव्यक्ति की है। इन लेखकों में राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, भीष्म साहनी, शैलेष मटियानी, कमलेश्वर, मनोहर श्याम जोशी, गोविन्द मिश्र, विष्णु प्रभाकर, सुरेन्द्र वर्मा प्रमुख हैं। इनके उपन्यासों में स्त्रियाँ कहीं अपने अस्तित्व और अस्मिता की तलाश के लिए संघर्षरत दिखाई पड़ती हैं तो कहीं समझौतापरस्त। कुछ समकालीन उपन्यासकारों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासकारों में राजेन्द्र यादव ने अपने उपन्यास 'सारा आकाश' (1960 ई.) में असफल दाम्पत्य जीवन का चित्रण किया है। गोपाल राय के शब्दों में "सारा आकाश में मध्यवर्गीय परिवारों में नववधुओं को दी जाने वाली यातना का चित्रण किया है।"[41] मोहन राकेश ने 'अँधेरे बंद कमरे' (1961 ई.) में नायिका नीलिमा के नृत्यांगना बनने की कहानी कही है। महत्वाकांक्षी होने के कारण उसका दाम्पत्य जीवन भी तनावपूर्ण हो जाता है। वस्तुतः नीलिमा का व्यक्तित्व उस 'अँधेरे बंद कमरे' की तरह है जहां वह कोई निर्णय नहीं ले पाती है। न वह समर्पण कर पाती है न ही संबंधविच्छेद। मोहन राकेश के अन्य उपन्यास 'न आने वाला कल' (1968 ई.) की नायिका बाना नौकरी शुदा और स्वतंत्र चेता आधुनिक नारी है। मुक्त यौन संबंध रखने में उसे कोई परहेज नहीं है। किसी एक पुरुष के साथ विवाह कर घर बसाना उसे बंधन लगता है। इस प्रकार उपन्यास में संबंधों के टूटने की स्थिति और आधुनिक जीवन शैली की अनिश्चितता को व्यक्त किया गया है।

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास लेखकों में भीष्म साहनी का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने स्त्री जीवन का अंकन मुख्यतः 'कड़ियाँ' (1970 ई.), 'बसंती' (1980 ई.), 'कुंतो' और 'नीलू नीलिमा नीलोफर' (2000 ई.) उपन्यासों में किया है। 'कड़ियाँ' में उन्होंने परम्परा और आधुनिकता के संस्कारों के बीच झूलते पति-पत्नी के संबंध का वर्णन किया है। 'बसंती' में दिल्ली की एक झुग्गी-झोपड़ी में पली लड़की के निरंतर जीवन संघर्ष के अनेक चित्र हैं। 'नीलू नीलिमा नीलोफर' में नीलू नामक मुस्लिम लड़की और नीलिमा नामक हिन्दू लड़की अपने से अलग धर्म के लड़के से प्रेम करती हैं। लेखक ने हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक समस्या के अनेक चित्र बड़ी गहनता से अंकित किए हैं।

शैलेश मटियानी ने 'चिट्ठीरसेन' (1961 ई.), 'चौथी मुट्ठी' (1961 ई.), 'मुख सरोवर के हंस' (1962 ई.), 'एक मूठ सरसों' (1962 ई.), आदि उपन्यासों के माध्यम से पहाड़ी अंचल की स्त्रियों के कठोर श्रम भरे जीवन और दैहिक शोषण का यथार्थ अंकन किया है। पंकज

बिष्ट ने 'उस चिड़िया का नाम' (1989 ई.), और क्षितिज शर्मा ने 'उकाव' में पहाड़ी अंचल की स्त्री के जीवन संघर्ष को अभिव्यक्त किया है।

कमलेश्वेर ने 'डाक बँगला' (1959 ई.), 'काली आंधी' (1974 ई.), 'तीसरा आदमी' (1976 ई.) में आधुनिक परिदृश्य में स्त्री-पुरुष संबंध में आर्थिक निम्नता के कारण दरकते रिश्तों का वर्णन किया है। स्त्री सन्दर्भ को 'काली आंधी' में बखूबी चित्रित किया गया है। नायिका मालती राजनीति में सफलता के उच्च शिखर तक पहुँच जाती है। पति भी उसका प्रोत्साहन करता है और पूर्ण सहयोग देता है। किन्तु वह राजनीति के दावपेंच में इस प्रकार उलझ जाती है कि वह स्वयं को विभाजित महसूस करने लगती है। यह उपन्यास मुख्यतः आधुनिक स्त्री के कार्यशील जीवन में घर और बाहर सामंजस्य बिठाने की समस्या को प्रस्तुत करता है।

मनोहर श्याम जोशी अपनी बेबाक लेखन शैली के लिए चर्चित रहे हैं। उनका उपन्यास 'हमजाद' (1996 ई.) "भारत में आजादी के आस-पास उभरी मध्यवर्गीय युवा पीढ़ी की महत्वाकांक्षाओं और यौन कुंठाओं की विक्षिप्तता की हद तक बीभत्स, भयावह और अमानवीय होने और होते चले जाने की अंतहीन (सामाजिक और नैतिक) नरक यात्रा है। यहाँ पुरुष ('पशु' और 'पिशाच') अपनी वासना की तृप्ति और व्यावसायिक सफलता के लिए स्त्री को सिर्फ साधन (वस्तु, माल, रखैल या कॉलगर्ल) समझ उसका उपयोग और दुरूपयोग करता या उसे तिरस्कृत करता चला जाता है।"[42] वास्तव में "इस उपन्यास में हैवानियत अपनी चरम सीमा पर है, स्त्री-पुरुष शुद्ध मादा-नर के रूप में हैं, धोखाधड़ी, हेराफेरी, लूटपाट, अपहण, बलात्कार, अनियंत्रित सेक्स का अपने पूरे नंगेपन में चित्रण हुआ है।"[43]

समकालीन उपन्यासकारों में विष्णु प्रभाकर बहुचर्चित उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यास 'कोई तो' (1980 ई.) का कथानक एक मध्यवर्गीय परिवार में लड़की की स्थिति को बयां करता है। "इस उपान्यास का प्रमुख स्वर चुनौती का है कि आधुनिक नारी में परंपरागत

नारी संहिता को नकारने, आर्थिक स्वावलंबन के साथ स्वतंत्र जीवन जीने, अथवा अपना जीवन साथी स्वयं चुनने या अविवाहित जीवन व्यतीत करने तथा पुरुष मानसिकता को चुनौती देने का साहस होना चाहिए।"[44] उनके दूसरे उपन्यास 'अर्धनारीश्वर' (1993 ई.) में बलात्कार से पीड़ित स्त्रियों की मनोवैज्ञानिक स्थिति का अंकन किया गया है। नायिका सुमिता बलात्कार पीड़ित स्त्रियों पर शोध कर रही है इस दौरान वह जिन पीड़ित औरतों से मिलती है उनकी मानसिक और सामाजिक स्थिति जानकर वह विचलित हो जाती है। वास्तव में विडंबना यह है कि बलात्कार का दंश हर तरह से स्त्री को ही भोगना पड़ता है। इस प्रकार लेखक ने समाज द्वारा निर्धारित एकतरफा मानदंडों और नारी नियति का विश्लेषण करने का प्रयास 'अर्धनारीश्वर' में किया है।

सुरेन्द्र वर्मा कृत 'मुझे चाँद चाहिए' (1993 ई.) उपन्यास में एक मध्यवर्गीय परिवार की महत्वाकांक्षी लड़की सिलबिल के कलाकार वर्षा वशिष्ट बनने की संघर्ष गाथा है। वर्षा प्रतिकूल जीवन स्थितियों में भी आत्मनिर्भरता हासिल करने की जद्दोजहद जारी रखती है। उसके माध्यम से लेखक ने अपने अस्तित्व की सार्थकता को प्रमाणित करने की चाह रखने वाली एक स्त्री के घर के भीतर और कार्यक्षेत्र में आने वाले उतार-चढ़ाव का बड़ा सटीक वर्णन किया है।

स्वातंत्रयोत्तर पुरुष लेखकों में गोविन्द मिश्र ने 'तुम्हारी रौशनी में' (1985 ई.), गिरिराज किशोर ने 'चिड़ियाघर' (1968 ई.), यात्राएँ (1971 ई.), दो (1974 ई.) और 'तीसरी सत्ता' (1982 ई.), मदन दीक्षित ने 'मोरी की ईंट', भगवान सिंह ने 'शुभ्रा' (2000 ई.), प्रदीप सौरभ ने 'मुन्नी मोबाईल', रणेंद्र ने 'ग्लोबल गाँव के देवता' में आधुनिक सन्दर्भों में स्त्री जीवन के विविध पक्षों का बड़ा यथार्थ वर्णन किया है। इन उपन्यासों में स्त्री जीवन की विडम्बना और यातना के चित्र ही नहीं हैं अपितु पितृसत्ता द्वारा निर्मित जीवन

स्थितियों से उबरकर बाहर निकल आने की जबरदस्त कोशिशों के अनेक प्रसंगों का भी बखूबी वर्णन किया गया है।

ग. स्वातंत्र्योत्तर महिला उपन्यासकारों के स्त्री केन्द्रित प्रमुख उपन्यास

स्त्री लेखन का अपना एक अलग पक्ष है। स्त्री के सन्दर्भ में पुरुष लेखन से इतर स्त्री का लेखन उसके द्वारा भोगे हुए जीवन की सूक्ष्म तहों का अंकन है। ऐसे जीवन सत्यों का निदर्शन जिनसे वह ताउम्र रूबरू होती है। आज पुरुष लेखन के बरक्स स्त्री लेखन साहित्यिक जगत में चर्चा का प्रमुख विषय बना हुआ है।

लगभग सौ वर्ष पहले बंगमहिला (राजेन्द्र बाला घोष) की 'दुलाईवाली' से हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में महिलाओं की भूमिका की सुगबुगाहट शुरू हो जाती है। स्वतंत्रता के पूर्व "हिंदी की सर्वप्रथम उपन्यास लेखिका बनने का गौरव निर्विवाद रूप से उषा देवी मित्रा को प्राप्त है। कई विद्वानों ने एकमत होकर यह स्वीकार किया है।"[45] स्वातंत्र्योत्तर महिला उपन्यासकारों का जो वर्ग हिंदी साहित्य के परिदृश्य में उभरा है, उन्होंने स्त्री जीवन के विभिन्न रूपों को बड़ी संजीदगी से अपने लेखन में उद्घाटित किया है। इन लेखिकाओं में कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, मन्नू भण्डारी, ममता कालिया, मंजुल भगत, मेहरुन्निसा परवेज, शिवानी, नासिरा शर्मा, मृदुला गर्ग, राजी सेठ, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, चित्रा मुद्गल, गीतांजलि श्री, अलका सरावगी, चंद्रकांता, अनामिका, कमल कुमार, शरद सिंह आदि प्रमुख हैं। जिन्होंने सदियों से शोषित-दमित स्त्री के जीवन से संबंधित विभिन्न मुद्दों को अपने उपन्यासों में दृढ़ता से उठाया है।

कृष्णा सोबती समकालीन स्त्री लेखिकाओं में प्रमुख हैं। उन्होंने 'मित्रो मरजानी' (1967 ई.), 'दिलोदानिश' (1993 ई.), 'सूरजमुँखी अंधेरे के' (1972 ई.) और 'डार से बिछुड़ी' उपन्यासों में स्त्रियों से संबंधित मुद्दों को उठाया है। 'दिलोदानिश' उपन्यास में महक के माध्यम से पितृसतात्मक समाज में बार-बार छली गई स्त्री की पीड़ा और आकांक्षा को

अभिव्यक्त किया गया है। 'सूरजमुँखी अंधेरे के' में बचपन में बलात्कार का दंश झेलने वाली स्त्री की कहानी है। उपन्यास में बलात्कार की घटना के कारण स्त्री जीवन पर उसके मनोवैज्ञानिक प्रभाव का अंकन किया गया है।

उषा प्रियंवदा ने 'पचपन खंभे लाल दीवारे' (1961 ई.), 'रुकोगी नहीं राधिका' (1967 ई., 'शेषयात्रा' (1984 ई.) और 'अंतर्वशी' (2000 ई.) उपन्यासों के माध्यम से आधुनिक स्त्री के अकेलेपन, भटकाव और त्रासद जीवन स्थितियों का अंकन किया है। उनके उपन्यासों के स्त्री पात्र चाहे भारत में रह रहे हों या विदेश में निरंतर संघर्षशील चेतना से युक्त दिखाई पड़ते हैं। 2007 ई. में प्रकाशित 'भया कबीर उदास' उपन्यास में उन्होंने ब्रेस्ट कैंसर की समस्या को उठाया है। वर्तमान में पूरे विश्व में स्त्रियों को बड़ी तादात में होने वाला 'ब्रेस्ट कैंसर' रोग चिंता का विषय बना हुआ है। इस विषय पर किसी लेखिका द्वारा हिंदी में लिखा गया यह पहला उपन्यास है।

मंजुल भगत ने 'अनारो' (1977 ई.), 'बेगाने घर में' (1978 ई.), 'खातुल' (1983 ई.), 'तिरछी बौछार' (1984 ई.) उपन्यासों में स्त्री जीवन की विविध छवियाँ अंकित की हैं। महानगरीय जीवन में स्त्री की स्थिति को उन्होंने 'लेडीज क्लब' (1976 ई.) में दर्शाया है। उनके अधिकांश "नारी पात्र मुख्यतः मध्यवर्गीय परिवारों में चौका-बर्तन या नौकरी करने वाले वर्ग से सम्बद्ध हैं।...मंजुल भगत के लेखन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे नारी-पात्रों के शोषण को ही नहीं उनके स्वाभिमान को भी महत्व देती हैं।"[46]

मेहरुन्निसा परवेज ने 'आँखों की दहलीज' (1969 ई.), 'उसका घर' (1972 ई.), 'कोरजा' (1977 ई.), 'अकेला पलाश' (1981 ई.) उपन्यासों के माध्यम से निम्नमध्यवर्गीय मुस्लिम और ईसाई स्त्री जीवन की त्रासदी का अंकन किया है। "प्रेम, विवाह, तलाक, पतियों का निकम्मापन, जीने के लिए अवांछित स्थितियों का स्वीकार"[47] आदि विषयों पर बड़े मार्मिक ढंग से उन्होंने लेखनी चलायी है।

ममता कालिया के स्त्री केन्द्रित प्रमुख उपन्यास हैं- 'बेघर' (1971 ई.), 'प्रेम कहानी' (1980 ई.), 'लड़कियां' और 'एक पत्नी के नोट्स' (1997 ई.)। 'बेघर' में उन्होंने पितृसत्ता द्वारा स्त्री के लिए तय 'पवित्रता' और 'कुँवारेपन' की कसौटी पर करारा प्रहार किया है। 'प्रेम विवाह' में अपनी इच्छा से किए गये प्रेम और समाज द्वारा स्वीकृत विवाह के बीच तुलना की गयी है। 'एक पत्नी के नोट्स' लघु आकार का उपन्यास है। जिसमें सामंती मूल्यों का वाहक पति अपनी पत्नी को हर हाल में अपने अधीन रखना चाहता है। लेकिन पत्नी स्वतंत्र जीवन जीना चाहती है। यह उपन्यास मध्यवर्गीय सुशिक्षित परिवार में स्त्री की घुटन का चित्रण करता है।

शिवानी ने बड़ी संख्या में उपन्यास लिखे हैं। 'चौदह फेरे' (1965 ई.), 'कृष्णकली' (1968 ई.), 'भैरवी' (1969 ई.), 'विषकन्या' (1970 ई.), 'स्वयंसिद्धा', 'रथ्या' (1977 ई.), किशुनली' (1979 ई.) आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। "शिवानी के नारी पात्र विद्रोह भी करते हैं और परिस्थितियों से ऊपर उठने की कोशिश भी किन्तु अपने चारित्रिक संगठन में अविश्वसनीय प्रतीत होते हैं। शिवानी की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वे अपने उपन्यासों में आधुनिक जीवन के खुरदुरे, जटिल और चुनौती भरे यथार्थ को महत्व नहीं देतीं। इसलिए लोकप्रियता के बावजूद प्रथम श्रेणी की लेखिकाओं में उन्हें स्थान नहीं मिल सका।"[48]

मृदुला गर्ग ने आधुनिक स्त्री, विशेष रूप से अभिजातवर्गीय स्त्री के जीवनानुभवों को अपने उपन्यासों 'उसके हिस्से की धूप' (1975 ई.), 'वंशज' (1976 ई.), 'चित्त्कोबरा' (1979 ई.), 'अनित्य' (1980 ई.), 'मैं और मैं' (1984 ई.), 'कठगुलाब' (1996 ई.) और 'मिलजुल मन' के जरिए अभिव्यक्त किया गया है। 'उसके हिस्से की धूप' में परंपरागत मूल्यों को नकारनेवाली आधुनिक स्त्री के प्रेम त्रिकोण को दर्शाया गया है। 'चित्तकोबरा' में यौन कुंठा के परिमार्जन को केंद्रीय विषय बनाया गया है। 'कठगुलाब' में सदियों से शोषित,

दमित और अपने ही लोगों द्वारा बलात्कार जैसी क्रूर पीड़ा को झेलती स्त्री के जीवन संघर्ष को प्रस्तुत किया गया है।

नासिरा शर्मा के 'शाल्मली' (1987 ई.) और 'ठीकरे की मंगनी' (1989 ई.) उपन्यास मुख्यतः स्त्री जीवन पर केन्द्रित है। 'शाल्मली' उपन्यास की मुख्य पात्र शाल्मली एक पढ़ी-लिखी और नौकरीपेशा युक्त उच्च पदाधिकारी है। पति-पत्नी के बीच दाम्पत्य संबंधों में आए तनाव के बावजूद शाल्मली वैवाहिक सम्बन्ध के भीतर अपने अस्तित्व को बनाए रखते हुए अपनी मुक्ति का मार्ग ढूंढती है। 'ठीकरे की मंगनी' में उन्होंने 'महरुख' के माध्यम से रुढ़िवादी मुस्लिम परिवार के रीति-रिवाज, रहन-सहन, सामाजिक विसंगतियों एवं विश्वविद्यालयी जीवन की आंतरिक सच्चाइयों का बखूबी वर्णन किया है।

प्रभा खेतान के उपन्यासों में स्त्री पहचान की तड़प एवं बेचैनी स्पष्टतः देखी जा सकती है। 'आओ पे पे घर चलें' (1990 ई.), 'छिन्नमस्ता' (1993 ई.), 'अपने-अपने चेहरे' (1994 ई.), 'पीली आँधी' (1996 ई.) में उन्होंने स्त्री जीवन की त्रासदी के विभिन्न चित्र अंकित किए हैं। 'छिन्नमस्ता' की नायिका प्रिया अपने घर में यौन शोषण का शिकार बनती है । बावजूद इसके वह पुरुष वर्चस्ववादी समाज में अपनी एक अलग पहचान बनाती है। 'आओ पे पे घर चलें' में अमेरिकी स्त्रियों के जीवन की व्यथा-कथा अभिव्यक्त की गई है। 'पीली आँधी' में अकालग्रस्त मारवाड़ी परिवार के कलकत्ता पलायन और फिर तमाम संघर्षों के बाद व्यापार कुशलता अर्जित करने का वर्णन किया गया है। प्रमुख स्त्री पात्र सोमा परम्परागत नारी मूल्यों को नकारती हुई आधुनिक स्त्री की बदली हुई सोच और बदली हुई जीवन-शैली को व्याख्यायित करती है। निश्चित ही यह प्रभा खेतान का श्रेष्ठ उपन्यास है।

मैत्रेयी पुष्पा ने अपने उपन्यासों में अंचल विशेष की ग्रामीण स्त्री के अनेक चित्र खींचे हैं। उन्होंने 'स्मृति दंश' (1990 ई.), 'बेतवा बहती रही' (1993 ई.), 'इदन्नमम' (1994 ई.), 'चाक' (1997 ई.), 'अल्मा कबूतरी' (2000 ई.), 'अगनपाखी' (2001 ई.), 'कही इसुरी फाग'

(2004 ई.), 'गुनाह बेगुनाह' में स्त्री जीवन के विविध पक्षों को उजागर किया है। उनके उपन्यासों में विधवा समस्या, बलात्कार, सामंती मूल्यों में जकड़े परिवार, जातीयता का दंश झेलती स्त्रियों की व्यथा-कथा का वर्णन हुआ है। मुख्य बात यह है कि सभी स्त्री पात्र अंततः अपने अस्तित्व, अस्मिता और अधिकारों के लिए पितृसत्ता के समक्ष चुनौती बनकर खड़ी नजर आतीं हैं।

चित्रा मुद्गल ने 'एक जमीन अपनी' (1990 ई.) उपन्यास में विज्ञापन जगत में होने वाले स्त्री-शोषण की सफल अभिव्यक्ति की है। 'आवाँ' उपन्यास में ट्रेड यूनियन की राजनीति और श्रमिक तथा मजदूर स्त्रियों के जीवन के अनेक रूपों का वर्णन किया गया है। यह उपन्यास अपने विस्तृत फलक में उच्च वर्ग, मध्य वर्ग और निम्न वर्ग से ताल्लुक रखने वाली स्त्रियों के आधुनिक जीवन संत्रासों को अपने में समेटे हुए है।

सूर्यबाला कृत 'मेरे संधिपत्र', 'सुबह के इन्तजार तक' (1980 ई.), 'अग्निपंखी' (1984 ई.) उपन्यासों में निम्नमध्यवर्गीय परिवारों में स्त्री की स्थिति का बड़ा सूक्ष्म चित्रण किया गया है। उन परिवारों के भीतर स्त्रियों के त्रासद जीवन, रूढ़ियों और परम्पराओं को ढोते चले जाने की विवशता और निम्न आर्थिक स्थिति का बड़ा ही तर्कसंगत वर्णन लेखिका ने किया है।

गीतांजलि श्री के उपन्यासों का कथ्य और शिल्प दोनों ही नवीनता लिए हुए हैं। अब तक उनके चार उपन्यास 'माई' (1993 ई.), 'हमारा शहर उस बरस' (1998 ई.), 'तिरोहित' (2001 ई.) और 'खाली जगह' (2006 ई.) प्रकाशित हुए हैं। 'माई' सामंती ढांचे के भीतर रहने वाली दादी, माई और सुनैना जैसी तीन पीढ़ी की स्त्रियों की कथा है। यहाँ समय और परिस्थितियों के अनुरूप स्त्री जीवन में संघर्ष के सब के अलग-अलग तरीके हैं। इसलिए इसे "तीन पीढ़ियों की नारी-चेतना की कथा भी कह सकते हैं।"[49] 'तिरोहित' में गीतांजलि श्री ने स्त्री जीवन से सम्बंधित बिलकुल नए मुद्दे को उठाया है। 'बच्चो' और 'ललना' नामक

स्त्री पात्रों की कथा के जरिए 'स्त्री समलैंगिकता' के मुद्दे को हिंदी उपन्यास साहित्य में चित्रित करने वाला संभवतः यह पहला उपन्यास है। नए विषयों को लेकर और लीक से हटकर लिखने का प्रयास करने के कारण ही गीतांजलि श्री ने अपनी अलग पहचान बनाई है।

अलका सरावगी के उपन्यास 'कलि कथा वाया बाईपास' (1998 ई.) की विशेष चर्चा हुई है। इसमें कथा नायक तो किशोर बाबू हैं किन्तु इसके साथ ही मारवाड़ी परिवार के सम्पन्नतायुक्त ऊपरी दिखावे के भीतर एक विधवा स्त्री के स्याह जीवन सन्दर्भों का बड़ा मार्मिक वर्णन किया गया है। इनके अन्य उपन्यास 'शेष कादम्बरी' (2001 ई.), 'कोई बात नहीं' (2004 ई.) और 'एक ब्रेक के बाद' (2008 ई.) में भी स्त्री जीवन के अलग-अलग पक्षों पर प्रकाश डाला गया है।

पिछले 40 वर्षों में स्त्री जीवन की विभिन्न समस्याओं को अभिव्यक्ति देने वाले उपन्यासों में दीप्ति खण्डेलवाल के उपन्यास 'प्रिया', 'कोहरे', 'वह तीसरा', 'प्रतिध्वनियाँ', कृष्णा अग्निहोत्री कृत 'कुमारिकाएं', 'अभिषेक', 'निलोफर', 'बात एक औरत की', 'टपरेवाली', 'बित्ता भर की छोकरी' आदि। राजी सेठ के 'तत्-सम' और 'निष्कवच', कांता भारती कृत 'रेत की मछलियाँ, चन्द्रकान्ता कृत 'अपने-अपने कोणार्क', निरुपमा सोवती के उपन्यास 'पतझड़ की आवाजें', 'मेरा नरक अपना है', 'दहकन के पार', वीणा सिन्हा रचित 'पथप्रज्ञा', मधु कांकरिया कृत 'खुले गगन के लाल सितारे', 'सलाम आखिरी', 'पत्राखोर' और 'सेज पर संस्कृत' प्रमुख हैं। इन लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में स्त्रियों की आर्थिक दुर्दशा, सांप्रदायिकता का प्रभाव, स्त्री जीवन में धर्म की भूमिका, विधवा जीवन की विडंबनाओं, यौन शोषण, पितृसत्ता द्वारा निर्धारित जड़ मूल्यों को तोड़ने जैसे कई मुद्दों पर गहन विचार-विमर्श प्रस्तुत किया है।

21वीं शताब्दी के प्रथम दशक में उपन्यास लेखन के क्षेत्र में नए हस्ताक्षर के रूप में कई लेखिकाओं का पदार्पण हुआ है। जिनमें नीरजा माधव, सुधा अरोड़ा, अनामिका, शरद सिंह, कविता, नीलेश रघुवंशी, रजनी गुप्त, जया जादवानी, अल्पना मिश्र, जयश्री रॉय और कावेरी प्रमुख हैं। नीरजा माधव ने 'अभी ठहरो अंधी सदी' में वेश्या जीवन की समस्या, 'यमदीप' में परंपरागत मूल्यों की वाहक आधुनिक स्त्री के जीवन संघर्ष और 'तेभ्यः स्वधा' में विस्थापन का दंश झेलती स्त्री के जीवन को केंद्रीय विषय के रूप में चुना है।

सुधा अरोड़ा के उपन्यास 'यहीं कहीं था घर' (2010 ई.) में एक परंपरावादी मध्यवर्गीय पंजाबी परिवार की लड़की 'विशाखा' के जीवन का चित्रण है। विशाखा को पुरातनपंथी रीति-रिवाजों के स्थान पर आधुनिकता तर्कसंगत लगती है। वह अपनी माँ और बहन की तरह दब्बू और आज्ञाकारी नहीं बनना चाहती है। वह अपना जीवन अपनी शर्तों पर स्वयं लिए गए निर्णय के अनुसार जीना चाहती है। वास्तव में यह उपन्यास आज की स्त्री के जीवन में परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व को अभिव्यक्त करता है।

कमल कुमार का उपन्यास 'मैं घूमर नाचूँ' (2010 ई.) आधुनिक युग में भी राजस्थान में व्याप्त रूढ़ियों और अंधविश्वासों का बड़ा मार्मिक लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है। "इस उपन्यास की कहानी 'पेराडाइम शिफ्ट' की अर्थात औरत के सशक्तिकरण की कहानी है। उपन्यास में राजस्थान की जीवन-पद्धति, जीवन दृष्टि और मान्यताओं का निर्वाह करता समाज है। उपन्यास की नायिका कृष्णा इन्हीं सबके बीच अपने लिए नई राह बनाती है।"[50]

अनामिका ने 'दस द्वारे का पींजरा' (2008 ई.) और 'तिनका तिनके पास' (2008 ई.) उपन्यासों की रचना की है। 'दस द्वारे का पींजरा' दो परिच्छेदों में विभक्त एक महागाथा है। एक परिच्छेद में पंडिता रमाबाई और दूसरे परिच्छेद में ढेलाबाई की कहानी है। भारतीय इतिहास में स्त्री अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाली जुझारू महिला रमाबाई के जीवन और संघर्ष का प्रमाणिक वर्णन लेखिका ने किया है। साथ ही ढेलाबाई के जरिए

वेश्या जीवन को दर्शाया है। 'तिनका तिनके पास' में एक स्त्री है जो अपनी निम्न आर्थिक स्थिति और मजबूरियों के कारण वेश्यावृत्ति का कार्य करती है और उन्हीं पैसों से उच्च शिक्षा ग्रहण करती है। यह बात महत्वपूर्ण है कि वेश्यावृत्ति करने के बावजूद वह अपनी 'मुक्ति' का, अपने जीवन को सुदृढ़ बनाने का मार्ग इन्हीं विपरीत परिस्थितियों के बीच ढूंढती है।

शरद सिंह के अब तक दो उपन्यास 'पिछले पन्ने की औरतें' (2009 ई.) और 'कस्बाई सिमोन' (2012 ई.) प्रकाशित हो चुके हैं। 'पिछले पन्ने की औरतें' में मध्यप्रदेश में रहने वाली 'बेड़िया समुदाय' की औरतों का वर्णन किया गया है। ये बेड़निया सदियों से दैहिक शोषण का शिकार रही हैं। वर्तमान में प्रत्यक्ष रूप से नाचना-गाना इनकी आजीविका का साधन है। किन्तु परोक्ष रूप से आज भी शोषण का सिलसिला जारी है। लेखिका ने इन विपन्न स्त्रियों के जीवन के अनेक स्याह पन्नों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। 'कस्बाई सिमोन' में लेखिका ने 'लिव इन रिलेशनशिप' (सहजीवन) के मुद्दे को उठाया है।

इसके साथ ही 'स्त्री चिंतन' को केंद्रीय विषय बनाकर लिखे गये उपन्यासों में अल्पना मिश्र कृत 'अंधियारे तलछट में चमका' (2014 ई.), रजनी गुप्त कृत 'कहीं कुछ और' (2002 ई.), 'किशोरी की आसमां' (2005 ई.), जयश्री रॉय कृत 'औरत जो एक नदी है', 'इकबाल', 'साथ चलते हुए', नीलाक्षी सिंह कृत 'शुद्धिपत्र', नीलेश रघुवंशी (2012 ई.) कृत 'एक कस्बे के नोट्स', कावेरी कृत 'मिस रमिया' (2007 ई.) और नताशा अरोड़ा कृत 'हिडिम्बा' प्रमुख है। साठ के दशक से लेकर अब तक लिखे गए इन उपन्यासों में जहाँ एक तरफ सदियों से पितृसत्ता द्वारा निर्धारित एकतरफा मानदंडों की मार झेलती स्त्री के शोषण दमन के अनेक प्रसंग वर्णित हैं वहीं दूसरी तरफ अपनी स्थिति के प्रति जागृत चेतना के विविध सोपानों से गुजरते हुए वह अपनी समस्याओं से संघर्ष करती हुई दिखाई पड़ती है। व्यवस्था से असंतोष और सामाजिक, राजनितिक, आर्थिक हर मायने में अपना

पक्ष प्रबल और स्पष्ट करने के लिए स्त्रियों द्वारा निरंतर किए जा रहे प्रयत्न के अनेक चित्र इन उपन्यासों में देखे जा सकते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

[1] हिंदी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृ. 128-129

[2] वही, पृ. 128

[3] हिंदी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, में उद्धृत, पृ. 545

[4] वही, पृ. 549

[5] प्रेमचन्द्र का कथा संसार, बदमसिंह रावत, पृ. 146

[6] संस्कृति, समाज और साहित्य, सं. डॉ. रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ, डॉ. उषा गोयल, लेख - 'प्रेमचंद की नारी' - डॉ. राधेश्याम शर्मा, में उद्धृत, पृ. 158-159

[7] स्त्री-विमर्श (पुरुष रचनाधर्मिता के विशेष संदर्भ में), डॉ. विनय कुमार पाठक, पृ. 132

[8] गोदान, प्रेमचन्द, पृ. 98

[9] वही, पृ. 217

[10]तबदील निगाहें, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 54

[11] स्त्री-विमर्श (पुरुष रचनाधर्मिता के विशेष संदर्भ में), डॉ. विनय कुमार पाठक, पृ. 135-136

[12] वागर्थ, जनवरी, 2006, सं. रविन्द्र कालिया, लेख - 'गोदान में स्त्री (उत्पीड़न और मुक्ति का आख्यान)' - परमानन्द श्रीवास्तव, पृ. 10

[13] परख एक विश्लेषण, ज्योतिष जोशी, परख (उपन्यास), पृ. 125-126

[14] परख, जैनेन्द्र, पृ. 25

[15] आधुनिक हिंदी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता, नवल किशोर, पृ. 52

[16] दस्तावेज 119, अप्रैल-जून, 2008, सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, लेख - 'स्त्री विमर्श के सन्दर्भ में जैनेन्द्र के तीन उपन्यास' - रीतारानी पालीवाल, में उद्धृत, पृ. 34

[17] आधुनिक हिंदी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता - नवल किशोर, पृ. 57

[18] हिंदी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, पृ. 706

[19] दस्तावेज, अप्रैल-जून 2008, सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, लेख - 'स्त्री विमर्श के संदर्भ में जैनेन्द्र के तीन उपन्यास' - रीतारानी पालीवाल, पृ. 37-38

[20] वही, पृ. 37

[21] आधुनिक हिंदी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता, नवल किशोर, पृ. 59

[22] हिंदी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, पृ. 711

[23] हिंदी के मार्क्सवादी उपन्यासों की नायिकाएँ, डॉ. एच्. जी. सालुंखे, पृ. 90

[24] हिंदी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृ. 184

[25] हिंदी के मार्क्सवादी उपन्यासों की नायिकाएँ, डॉ. एच्. जी. सालुंखे, पृ. 92

[26] दादा कामरेड, यशपाल, पृ. 138

[27] हिंदी उपन्यास: जनवादी परम्परा, सम्पादक - कुँवरपाल सिंह, अज विसारिया, लेख - 'यशपाल के उपन्यास वर्ग-चेतना और नारी-मुक्ति के प्रसंग' - राजीवलोचन नाथ शुक्ल, पृ. 86

[28] हिंदी के मार्क्सवादी उपन्यासों की नायिकाएँ, डॉ.एच्. जी. सालुंखे, पृ. 93

[29] हिंदी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृ. 184

[30] यशपाल व्यक्तित्व और कृतित्व, सं. रामव्यास पाण्डेय, श्रीनिवास शर्मा, लेख - 'यशपाल : समाज और इतिहास की जनवादी पड़ताल' - प्रदीप सक्सेना, पृ. 59

[31] हिंदी के मार्क्सवादी उपन्यासों की नायिकाएँ, डॉ. एच.जी.सालुंखे, पृ. 96

[32] दिव्या, यशपाल, पृ. 214

[33] हिंदी के मार्क्सवादी उपन्यासों की नायिकाएँ, डॉ. एच.जी.सालुंखे, पृ. 102

[34] हिंदी के मार्क्सवादी उपन्यासों की नायिकाएँ, डॉ. एच्. जी. सालुंखे, पृ. 104

[35] हिंदी उपन्यास : जनवादी परंपरा, सं. कुँवरपाल सिंह, अज विसारिया, लेख - 'यशपाल के उपन्यास वर्ग-चेतना और नारी-मुक्ति के प्रसंग - राजीवलोचन नाथ शुक्ल, में उद्धृत, पृ. 89-90

[36] हिंदी उपन्यास:जनवादी परम्परा, सं. कुँवरपाल सिंह, अज विसारिया, लेख - 'यशपाल के उपन्यास वर्ग-चेतना और नारी-मुक्ति के प्रसंग - राजीवलोचन नाथ शुक्ल, में उद्धृत, पृ. 90

[37] हिंदी के मार्क्सवादी उपन्यासों की नायिकाएँ, डॉ. एच्. जी. सालुंखे, पृ. 116

[38] हिंदी उपन्यास:जनवादी परम्परा, सं. - कुँवरपाल सिंह, जय विसारिया - 'यशपाल के उपन्यास वर्ग-चेतना और नारी-मुक्ति के प्रसंग - राजीवलोचन नाथ शुक्ल, में उद्धृत, पृ. 93

[39] यशपाल व्यक्तित्व और कृतित्व, सं. रामव्यास पाण्डेय, श्रीनिवास शर्मा, पृ. 27

[40] हिंदी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृ.419

[41] हिंदी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृ.419

[42] औरत अस्तित्व और अस्मिता, अरविन्द जैन, पृ. 172

[43] हिंदी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृ. 366

[44] वही, पृ. 424

[45] हिंदी के समकालीन महिला उपन्यासकार, डॉ. एम. वेंकटेश्वर, पृ. 29

[46] हिंदी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, पृ. 265

[47] वही, पृ. 268-269

[48] वही, पृ. 260-261

[49] वही, पृ. 282

[50] मैं घूमर नाचूँ, कमल कुमार, फ्लैप से उद्धृत

तृतीय अध्याय : महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री चेतना (1980 से पूर्व)

हिन्दी में स्त्री लेखिकाओं द्वारा 1980 से पूर्व लिखे गए उपन्यास मुख्यतः स्वातंत्र्योत्तर भारत की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था से मोहभंग की स्थिति को दर्शाते हैं। एक लोकतान्त्रिक सरकार के गठन के बावजूद देश की पचास प्रतिशत आबादी को न तो घर के बाहर लोकतंत्र हासिल हुआ और न ही घर के भीतर उनकी स्थित अच्छी थी। यदि 'मित्रो मरजानी' को छोड़ दिया जाय तो उस दौर के किसी अन्य उपन्यास में अपने हक के लिए स्त्रियों की मुखर अभियक्ति दिखाई नहीं पड़ती है। उस दौर में स्त्री लेखिकाओं द्वारा लिखे गये उपन्यासों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था और ऐसा भी नहीं लग रहा था कि स्त्री उपन्यास कोई विशेष बदलाव ला सकते हैं। अधिकांश स्त्री चरित्र 'बना दी गई' स्त्री छवि में बंधकर ही 'मुक्ति' का सपना देख रहीं थीं। चाहे वह 'आपका बंटी' की शगुन हो या फिर 'बेघर' की संजीवनी। महत्वपूर्ण बात ध्यान देने की यह है कि हिन्दी उपन्यास साहित्य के फलक पर स्त्री लेखन के जरिये 'स्त्री समस्याओं' और 'स्त्रियों में आ रही चेतना' का आभास दिखाई पड़ने लगा था। कृष्णा सोबती के उपन्यास 'मित्रो मरजानी' (1967 ई.), मन्नू भंडारी के उपन्यास 'आपका बंटी' (1971 ई.), ममता कालिया के उपन्यास 'बेघर' (1971 ई.) और मंजुल भगत के उपन्यास 'अनारो' (1977ई.) में स्त्री जीवन की सफल अभिव्यक्ति देखी जा सकती है।

क. प्रमुख उपन्यास :

मित्रो मरजानी- कृष्णा सोबती की रचना 'मित्रो मरजानी' पहले पहल एक लंबी कहानी के रूप में प्रकाशित हुई थी। बाद में सन् 1967 में इसका प्रकाशन एक उपन्यास के रूप में हुआ। 'मित्रो मरजानी' एक मध्यवर्गीय पंजाबी परिवार की कहानी है। गुरुदास और धनवंती के तीन बेटे बनवारी, सरदारी और गुलजारी हैं। बनवारी की पत्नी सुहागवंती सास-ससुर का

तहेदिल से सम्मान करती है और परिवार के प्रत्येक सदस्य का ध्यान रखती है। गुलजारी सबसे छोटा लड़का है। उसकी पत्नी फूलावंती अत्यंत झगड़ालू और स्वार्थी है। वह घर का कोई काम नहीं करती और अपने पति को भी उसके माता-पिता और परिवार से दूर कर देती है। गुलजारी के कारण ही गुरुदास का परिवार कर्ज के बोझ तले दब जाता है। गुलजारी ऋण ले लेकर अपनी पत्नी के गहने आदि बनाने में लगा देता है। सरदारी की पत्नी सुमित्रावंती यानी मित्रो ऐसे बुरे समय में अपने परिवार को इस कष्ट से उबारती है। मित्रो इस उपन्यास की केन्द्रीय पात्र है। उसके हृदय में किसी के लिए राग-द्वेष नहीं है, लेकिन वह स्वेच्छा से काम करती है, किसी की नहीं सुनती है, मुंहफट है और एकदम निडर है । "इस उपन्यास की चर्चा विशेष रूप से 'साहसी लेखन' के उदाहरण के रूप में हुई है, क्योंकि इसके पूर्व हिन्दी में किसी महिला कथाकार द्वारा स्त्री के स्वैराचार का इतने साफ और मुंहफट रूप में चित्रण नहीं हुआ था। सातवें दशक के पूर्व स्त्री लेखकों के लिए काम-व्यापार पर खुले रूप में लिखना हिम्मत का काम माना जाता था। कृष्णा सोबती ने यह हिम्मत दिखाई, इसलिए साहित्य जगत में उसकी चर्चा हुई।...इसमें पुराने मूल्यों को जीते हुए मध्यवर्गीय परिवार में एक विस्फोटक युवती की मुंहफट प्रतिक्रियाओं और उथल-पुथल मचा देने वाले आचरण का चित्रण किया गया है। इसमें मध्यवर्गीय पंजाबी परिवार की जीवन-शैली भी विश्वसनीयता के साथ प्रस्तुत हुई है। मित्रो मरजानी नीरस, बासी और अरुआई हुई मध्यवर्गीय संस्कृति के विरुद्ध सबकुछ दाँव पर लगा देने वाली स्त्री का विद्रोह है। यह स्त्री परंपरागत नारी संहिता से टकराती, जूझती और उसे ठेंगा दिखाती है।"[1]

मित्रो अपने जीवन की समस्याओं को लेकर बेबाक है। वह हर समस्या की चर्चा अपनी सास हो या फिर जेठानी सभी से खुलकर करती है। इस उपन्यास की भाषा भी एकदम ठेठ रूप में पात्र, परिवेश और परिस्थिति के अनुरूप है। मित्रो जैसे साहसी चरित्र का चित्रण कृष्णा जी ने आज से लगभग चार दशक पूर्व किया था। जिसे हिन्दी कथा साहित्य

में स्त्री लेखन का शुरुआती दौर कह सकते हैं। इस दृष्टि से यह उपन्यास बेहद महत्वपूर्ण और स्मरणीय है।

बेघर- ममता कालिया का उपन्यास 'बेघर' सन् 1971 ई. में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास में स्त्री की यौन शुचिता और 'कौमार्य' के मिथक को आधुनिक युवा पीढ़ी के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। मुंबई जैसे महानगर में रहने वाला और स्वयं को तथाकथित आधुनिक विचारों का वाहक मानने वाला उपन्यास का नायक परमजीत अपनी प्रेमिका संजीवनी को कौमार्य की कसौटी पर खरा नहीं पाता है और उससे संबंध विच्छेद कर लेता है। "विवशता की ही स्थिति में अपने कौमार्य की रक्षा न कर पाने का इतना बड़ा दंड सर्वथा अमानवीय ही माना जा सकता है।"[2] संजीवनी परमजीत की जड़ संवेदनहीन सोच को नहीं बदल पाती है और पुरुष सत्ता द्वारा निर्धारित कौमार्य की मार झेलती हुई अकेली छोड़ दी जाती है। वस्तुतः परंपरागत रूप से भारतीय समाज में यह सोच प्रचारित-प्रसारित की गई है कि "विवाहपूर्व नारी के कौमार्य की पहचान प्रथम समागम पर उसकी सीत्कार, चीख और रक्तस्राव की संदिग्ध कसौटियों से निर्धारित होती है और यदि किसी कारण वह इस कसौटी पर खरी नहीं उतरती तो उसका शेष सारा जीवन नरककुंड बन जाता है। बेघर के केन्द्र में यही विषय है।"[3] संजीवनी से संबंध विच्छेद कर परमजीत रमा से विवाह करता है। जो उसके रूढ़ संस्कारगत विचारों के अनुकूल 'कुवांरी' और पवित्र है। रमा मानसिक धरातल पर बेहद संकीर्ण और जड़ है। रमा और परमजीत के विचार, जीवन-शैली आदि में कोई मेल नहीं है। उन दोनों में आजीवन कोई सामंजस्य नहीं बन पाता है। परमजीत स्वयं को भावात्मक और मानसिक धरातल पर अकेला पाता है। उसका मानसिक संघर्ष और अकेलापन ही अंततः उसकी मृत्यु का कारण बन जाता है।

आपका बंटी- मन्नू भंडारी कृत यह उपन्यास सर्वप्रथम 'धर्मयुग' पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था। तत्पश्चात् सन् 1971 में इसे पुस्तकाकार रूप दिया गया। 'आपका

बंटी' उपन्यास बहुचर्चित रहा है। इस उपन्यास में मन्नू जी ने पति-पत्नी के टूटते दाम्पत्य जीवन और फिर तलाकशुदा होने एवं उनके शिशु बालक 'बंटी' पर इस पूरे घटनाचक्र का पड़ने वाला असर अंकित किया है। बंटी के माता-पिता तलाक के बाद दूसरा विवाह कर पुनः नई शुरुआत करते हैं। किन्तु यह सम्पूर्ण घटनाचक्र कई परतों में गुंथा हुआ है। जो बेहद सूक्ष्म और जटिल है। वास्तव में "दाम्पत्य संबंध का विघटन और नये सिरे से, नए संबंध बनाकर, जीने का आग्रह आधुनिक जीवन की एक सच्चाई है, पर इस स्थिति की जटिलता तब चुनौतीपूर्ण और त्रासद हो जाती है जब इसके बीच कोई संवेदनशील बाल संतान आ खड़ी होती है। मन्नू भंडारी ने इस आधुनिक जटिल स्थिति का गहरी संवेदनशीलता और तीखे यथार्थबोध के साथ अंकन किया है। इस स्थिति की मूल संवेदना तो बंटी की पीड़ा ही है जो अपने माता-पिता के संबंध विच्छेद और उनके नए सिरे से दाम्पत्य संबंध शुरू करने के कारण अनचाहे अस्तित्व में परिणत हो गया है, पर तलाकशुदा पति-पत्नी के नए संबंधों की मांग और संतान के प्रति संवेदनशीलता के तनाव का अंकन भी गहरी मनोवैज्ञानिक समझ के साथ किया गया है।"[4] मेरा उद्देश्य 'आपका बंटी' उपन्यास के तहत मूलतः स्त्री पक्ष को उजागर करना है। शकुन से तलाक के बाद अजय तुरंत विवाह कर लेता है, किन्तु स्त्री होने के नाते शकुन के लिए स्थितियां इतनी आसान नहीं हैं। लेखिका ने एक तलाकशुदा स्त्री की स्थिति, अकेलेपन, संतान के प्रति उसके उत्तरदायित्व और दुबारा विवाह करने पर आने वाली समस्याओं का वर्णन करते हुए पितृसत्ता के पूरे स्वरूप को उजागर करने का प्रयास किया है।

अनारो- मंजुल भगत कृत 'अनारो' सन् 1977 में लिखा गया एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में स्त्री जीवन के विभिन्न पहलुओं को केन्द्र में रखा गया है। उपन्यास की विषयवस्तु के केन्द्र में निम्नवर्गीय समाज में जीवन यापन करने वाली स्त्री 'अनारो' है। जैसे-जैसे महानगरों का विकास होता गया वैसे ही एक वर्ग तेजी से उभरकर सामने आया, जिसे हम निम्नवर्ग कहते हैं। अनारो इसी निम्नवर्ग की स्त्री है जो दिल्ली जैसे महानगर में

रहने वाले मध्यवर्गीय परिवारों में चौका-बर्तन, साफ-सफाई का काम करती है। उसकी कमाई से ही पूरे परिवार का खर्च चलता है। अनारो का पति नन्दलाल निकम्मा है। वह अनारो के पर ही आश्रित है। इतना ही नहीं वह अनारो को काम पर से घर देरी से लौटने पर मारता-पीटता भी है। अनारो के पूरे जीवन संघर्ष को इस उपन्यास में दर्शाया गया है। " 'अनारो' मंजुल भगत की एक सशक्त चरित्र-प्रधान औपन्यसिक कृति है। हिन्दी लेखिकाओं पर प्राय: इस आरोप को प्रक्षेपित किया जाता है कि उनमें उच्चवर्ग, मध्यवर्ग, निम्नमध्यवर्ग प्रभृति का चित्रण तो मिल जाता है, पर महानगरीय जीवन के कोढ़ से झोपड़पट्टी (स्लम्स) के अति निम्नवर्गीय जीवन को उन्होंने प्राय: अलिखित छोड़ दिया है। 'अनारो' इसका जवाब है। इसमें लेखिका ने देश की राजधानी दिल्ली में जो झुग्गी-झोपडियाँ हैं, उनमें रहने वालों के गर्हणीय जीवन का चित्रण किया है।"[5] इस उपन्यास के चित्रण में लेखिका ने महत्वपूर्ण सफलता अर्जित की है। "यह अंकन बहुत ही स्वाभाविक और संवेदना सम्पन्न है। लेखिका का इस जीवन का अवलोकन आश्चर्यजनक रूप से सूक्ष्म और सजीव है और उसे प्रस्तुत करने के लिए उसने उतनी ही जीवंत, उस वर्ग के अनुरूप बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है।"[6] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मंजुल भगत का यह उपन्यास कई अर्थों में महत्वपूर्ण है। इस उपन्यास में उस वर्ग की स्त्री का चित्रण है, जिस पर अब तक स्त्री लेखिकाओं का ध्यान नहीं गया था। इस दृष्टि से 'अनारो' एक महत्वपूर्ण उपन्यास है।

ख. उपन्यासों में पितृसत्ता

चूँकि हमारी समाज व्यवस्था पितृसतात्मक है इसलिए जीवन के प्रत्येक पहलू पर वह किसी न किसी रूप में हावी रहती है। 'मित्रो मरजानी' उपन्यास में कृष्णा सोबती ने पितृसत्ता के कतिपय रूपों को उजागर किया है। इस उपन्यास की यह विशेषता है कि नायिका मित्रो पितृसत्ता द्वारा स्त्री के लिए बनाये गये नियमों का उल्लंघन करती, उन्हें तोड़ती हुई बेखौफ़ नजर आती है।

मित्रो और उसके पति सरदारी के बीच आएदिन मारपीट होती रहती है। "सरदारी जो मित्रो के पास कभी-कभी जाता है, वह भी बाहर अन्य स्त्रियों पर आसक्त रहता है, और नित नए पड़ाव डालता रहता है। वस्तुतः मित्रो को संतुष्ट न कर पाने के कारण ही वह उसे जब-तब मारता-पीटता रहता है। अपनी मर्दानगी के जौहर बाहर दिखाता है क्योंकि वहां उसे किसी प्रकार की फजीहत की चिंता नहीं होती है।"[7] एक स्थान पर "उड़े-उड़े, बिखरे बालों में सौदाई-सी मँझली बहू सरदारी लाल से हाथ छुड़वाती थी और तहबंद कसे सरदारी पटक-पटक धौल जमाता था।"[8] जब कभी पति-पत्नी के बीच मारपीट की स्थिति आ जाती है तब यह व्यवहार पूर्णतः एकतरफा हो जाता है। क्योंकि पितृसत्तात्मक व्यवस्था के अनुसार पुरुष स्त्री से अधिकार में, समझ में और औहदे में हमेशा ऊँचा है इसलिए स्त्री उस पर हाथ नहीं उठा सकती। ऐसा करना अनैतिक है। मित्रो की सास जो परंपरागत रूढ़ संस्कारों से ग्रस्त है उसे ऐसी ही शिक्षा देती हुई कहती है "समित्रावंती, इसे जिद चढ़ी है तो तू ही आँख नीची कर ले। बेटी, मर्द मालिक का सामना हम बेचारियों को क्या सोहे?"[9]

पितृसत्ता ने स्त्री की स्वतंत्रता को कभी, किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया। घर की चहारदीवारी ही उसकी दुनिया मानी गई। इन नियमों ने स्त्री की इच्छाओं को, क्षमताओं को कहीं न कहीं बेहद सीमित कर दिया। किन्तु यह सब धीरे-धीरे इतनी सूक्ष्मता और प्यार से हुआ कि स्त्रियाँ समझ ही नहीं पाईं इसलिए मित्रो जब इन नियमों को तोड़ती है तो सुहाग उससे कहती है "देवरानी, बहू-बेटियों के लिए तो घर-गृहस्थी की रीति ही लच्छमन की लीक। जाने-अनजाने फलांगी नहीं कि..."[10] स्पष्ट है कि परिवार के मान-सम्मान की जिम्मेदारी स्त्रियों पर ही मानी जाती है। और स्त्रियाँ भी इन मान्यताओं को बखूबी स्वीकार करती हैं।

स्त्री को प्रकृति ने खूबसूरत वरदान के रूप में प्रजनन की क्षमता प्रदान की है। कई बार उसकी यही क्षमता उसे दोषों के कटघरे में आसानी से ला खड़ा करती है। वैज्ञानिक

शिक्षा के अभाव में यह जाने बिना की स्त्री या पुरुष दोनों में से किसी एक में भी दोष होने पर गर्भधारण नहीं हो सकता मित्रो की सास बार-बार मित्रो से ही गर्भ धारण के संदर्भ में प्रश्न करती है सरदारी से नहीं। धनवंती जब सरदारी की सेहत के सन्दर्भ में बनवारी से पूछती है तो सबकुछ जानते हुए भी सारा दोष वह मित्रो पर ही मढ़ देता है। "बनवारी ने माँ से आँखें नहीं मिलाई। गला खँखारकर कहा- सरदारी में दोष नहीं अम्मा! यह जरनैली नार छोटे-मोटे मर्द के बस की नहीं।"[11]

पितृसत्तात्मक व्यवस्था के तहत अपने अधिकारों वह भी विशेष रूप से दैहिक अधिकारों की मांग करने वाली मित्रो जैसी स्त्रियों के चरित्र को संदेह की दृष्टी से देखा जाता है। पुरुष की कमियों और स्त्री के प्रति उसके उपेक्षित आचरण पर कोई अंगुली नहीं उठाई जाती है। यही कारण है कि मित्रो की सास और जेठानी मित्रो को नैतिक शिक्षाएं देती रहती हैं।

बेघर- ममता कालिया ने 'बेघर' उपन्यास में पितृसत्ता द्वारा निर्धारित 'कौमार्य' के मिथक को बेहद संजीदगी से 'संजीवनी' के माध्यम से प्रस्तुत किया है। उपन्यास का नायक परमजीत अपनी प्रेमिका संजीवनी को विवाह पूर्व प्रथम समागम के अवसर पर अक्षतयौवना न पाने पर बदहवास हो उठता है। "परमजीत को तकलीफ हुई, बेतरह तकलीफ, यह जानके कि वह पहला नहीं था। बदहवासी मिटते ही यह बात उसे पत्थर की तरह लगी। लड़कियों के कुँवारेपन की पहचान उसने चीख-पुकार और खून से सम्बद्ध की थी। आरम्भिक विरोध के बाद संजीवनी उसे प्रस्तुत मिली और बाधाहीन। इस समय अपने बदन में यह अहसास लिये वह संजीवनी को घूरता बैठा था। उसे गुस्सा नहीं आ रहा था, खीझ भी नहीं पर वह हार गया था। वह संजीवनी को अपनी दुनिया में पूरी तरह समा चुका था, उसने कतई नहीं सोचा था कि संजीवनी की उससे अलग एक व्यक्तिगत दुनिया रही होगी जिसका भागीदार कोई और रहा होगा।...वह दुर्घटनाग्रस्त आदमी की तरह सन्न बैठा रहा। संजीवनी को देख-

देखकर वह चकित हो रहा था। वही लड़की थी, बिल्कुल वही पर कितनी अलग लग रही थी। इतनी थोड़ी दूर पर बैठे हुए भी वह मीलों दूर जा पड़ी थी।"[12] संजीवनी की बात सुने बिना ही आधुनिक पीढ़ी के प्रतीक रूप में प्रस्तुत परमजीत की शिराओं में तमाम मध्ययुगीन पितृसत्तात्मक रूढ़िग्रस्त संस्कार जाग उठते हैं। यह जाने बिना कि यह किसी अप्रिय घटना के कारण हो सकता है और यह भी कि इसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है वह संजीवनी को हमेशा के लिए छोड़ देता है।

"वस्तुतः हमारे समाज में अक्षतयौवना या लड़की की कौमार्यावस्था के संबंध में अनेक भ्रान्त धारणाएं सुशिक्षित लोगों में भी पायी जाती है। लड़की की योनी में एक हल्का सा झीना पर्दा होता है जिसे कुमारीपटल या झिल्ली (मेडन-हैड) कहते हैं। इसके संबंध में वैज्ञानिक कामशास्त्रीय ग्रंथों में निम्नलिखित विवरण मिलता है- 'देयर आर-एण्ड हैव बीन इन द कोर्स ऑफ टाइम - मेनी पिक्युलियर आइडियाज अटेच्ड टू मेडनहेड्स एण्ड देयर डीफ्लोवरिंग, व्हेन डीफ्लोवरिंग टेक्स प्लेस (व्हीच इस रेरली डिफिकल्ट) देयर इज युजअली ए लिटिल ब्लीडिंग बीकाज ए स्लाईट ब्रीक अकर्स इन द म्युकोस मेम्ब्रेन. इन सर्टन पीपल्स द कस्टम हेज एक्सीस्टेड आफ डिस्प्लेयिंग द ब्राइडल शीट ड्यूली स्टेंड विथ ब्लड आफ्टर ब्राइडल नाईट एज प्रूफ देट द ब्राइट हेज नॉट सेक्सुअल इंटरकोर्स बीफोर।"[13]

यह परमजीत की मानसिक संकीर्णता और कुंठा ही है कि संजीवनी के प्रति अपने प्रेम को केवल शारीरिक स्तर तक ही रख पाता है। यह पितृसत्तात्मक विचार ही है कि एक स्त्री का अस्तित्व, उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व पुरुष के बिना संभव ही नहीं है। परमजीत आखिरी मुलाकात में संजीवनी से बिल्कुल उघड़े रूप में अपनी यौन आकांक्षाएं प्रकट करते हुए कहता है "अकेले में तुम्हारे तलुवे सहलाकर, तुम्हारे बाल खोलकर, तुम्हारा ब्लाउज मसलकर तुम्हें एक ही पल में लड़की से औरत बना दूंगा, संजी!"[14] उसकी ऐसी बातें सुनकर "संजीवनी सिर से पैर तक काँप गई। सिहरते हुए उसने खिड़की से बाहर देखा।

बाहर बारिश थी और अँधेरा, जो उतने ही रहस्यमय और आकर्षक थे जितना परमजीत। उसे लगता था, उसे परमजीत को मना करना चाहिए कि वह उससे इतनी उघड़ी बातें न करे पर वह उसके आगे परास्त हो गयी थी। वह इन बातों से इतनी सम्मोहित थी कि उसका मन हुआ वह परमजीत का हाथ पकड़ उस भींगे अँधेरे को चीर भागती चली जाये। परमजीत ने अपनी बातें उसके कपड़ों के अंदर तक पहुँचा दी थीं।"[15]

कौमार्य का यह मिथक पितृसत्ता द्वारा केवल स्त्रियों के संदर्भ में ही निर्धारित किया गया है जिसे उसकी पवित्रता व अच्छे चरित्र का द्योतक माना गया है। कौमार्य के इस प्रतिमान को अनेक ग्रंथों ने सशक्त आधार प्रदान किया और पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने इस पर मुहर लगाई। जबकि कौमार्य की इस रूढ़िवादी अवधारणा का स्त्रियों से कोई संबंध नहीं है। पुरुष सत्ता द्वारा निर्धारित कौमार्य की इस अवधारणा को निश्चित रूप से स्त्रियों को प्रताड़ित करने के एक माध्यम के रूप में सदियों से दुष्प्रचारित किया जाता रहा है।

पितृसत्तात्मक सोच का ही परिणाम है कि परमजीत प्रेम के लिए स्वछंद रूप से संजीवनी का चुनाव करता है। किन्तु विवाह करने के लिए परंपरागत रूढ़ हो चुकी कौमार्य की अवधारणा को ध्यान में रखते हुए रमा से विवाह का प्रस्ताव स्वीकार कर लेता है। "बहरहाल, प्रेम जो सामाजिक मान्यताओं के अतिक्रमण के लिए सबसे शक्तिशाली उत्प्रेरक की भूमिका निभाता है, परमजीत की मानसिक गुत्थी के लिए नाकाफी साबित होता है। पहले ही धक्के में परमजीत के होश ठिकाने आ जाते हैं। कोई और एडवेंचर करने के बजाये घर की कामना के वशीभूत होकर वह अपने माँ-बाप की पसंद की हुई एक लड़की से शादी कर लेता है और उसे लेकर बम्बई आ जाता है। जल्दी ही वह दो बच्चों का बाप बन जाता है, मोटा बीमा करा लेता है और खासा बैंक-बैलेंस बना लेता है।"[16]

स्त्रियों की मानसिक समझ की तुलना में उनके शारीरिक सौंदर्य को हमेशा से ही अधिक तवज्जो दी जाती रही है। स्त्री की बाह्य बुनावट के संदर्भ में अनेक मिथक या यूँ

कहूँ कि विभिन्न प्रतिमान पुरुष सत्ता द्वारा ही निर्धारित किए जाते रहे हैं। मसलन वह लम्बी हो, गोरी हो और उसके प्रत्येक अंग की बनावट आकर्षित कर सकने में समर्थ हो। उपन्यास में पितृसत्ता के इस दृष्टिकोण को शील रिपेयर कम्पनी के एजेण्ट सुधारकर शिन्दे के माध्यम से उद्घाटित किया गया है "आजकल शिन्दे समय के उस टुकड़े में पड़ा था जब उसे शादी की जरूरत महसूस होने लगी थी। उसके माँ-बाप ने पूना में कई लड़कियां देखी थीं। पर वह इस नतीजे पर पहुँचा था कि जो लड़कियां उसके माँ-बाप को पसंद थीं, वे उसे नहीं। उन लड़कियों के अगर दाँत बाहर निकले हुए नहीं होते तो छाती अंदर दबी होती और अगर छाती अंदर दबी नहीं होती तो ब्लाउज पर पसीने के छापे होते। अगर इन तीनों में से कोई भी नुक्स न होता तो उनकी आवाज गीदड़ों-जैसी होती।...दरअसल वह ऐसी लड़की चाहता था जैसी अखबार के विज्ञापन-चित्रों में होती थी। उसका ख़याल था, लोग उसकी पत्नी के बारे में ऐसी राय रखें जैसी फिल्म अभिनेत्रियों के बारे में रखते हैं।...स्कूटर के अगले पहिये जितना जूड़ा, ब्लीच किए हुए रोम और मस्करा से काली पलकें लिये। शिन्दे के दिमाग पर विज्ञापनों का बहुत असर था।"[17] शिन्दे की अपनी पत्नी के सन्दर्भ में यह मानसिकता पुरुष समाज व्यवस्था और उस व्यवस्था को संचालित करने वाले तमाम ग्रंथों की देन है, जिनमें एक स्त्री अप्रतिम बाह्य सौंदर्य से युक्त अप्सरा के रूप में पुरुष के मनबहलाव का एक साधन, एक उपभोग की वस्तु मात्र है। उसकी बौद्धिकता या वैचारिकता का कोई महत्व नहीं आंका जाता है।

पितृसत्ता की देन एक शब्द है 'मैं'। यह 'मैं' मुख्यत: पुरुष अहं और पुरुष वर्चस्व को ही रूपायित करने के लिए प्रयोग होता रहा है। चूँकि अधिकांश नियम पुरुषों द्वारा निर्धारित किए गए इसलिए पुरुष 'मैं' की ही प्रधानता रही है। स्त्री सदैव दोयम दर्जे पर रही। स्त्री के संदर्भ में पुरुष ने स्वयं को सदैव निर्णायक की भूमिका में, हर्ता-कर्ता के रूप में रखा। विजया के संदर्भ में वालिया का यह कथन इस बात की पुष्टि करता है "और यह लड़की, समझती क्या है अपने को। जब दफ्तर में आयी थी, हाथों में नसें चमकती थीं।

शकल देखकर लगता था, हफ्तों से रोटी नहीं खाई है। मैंने रेनोवेट करके रख दिया इसे। वरना इसमें है क्या, इसके दाँत तक अपने नहीं हैं। ओठ से बाहर लटकते थे। मैंने सारा डैन्चर बदलवाया। मुझे जवाब देती है। इसे पता नहीं है मैं ही-मैन हूँ। मेरे आगे औरत औरत रहेगी।"[18] वास्तव में "वालिया की जिन्दगी में 'मैं' के अलावा बाकी सब उपसर्ग थे। उनका बस इतना महत्व था जितना कुर्सी या कुकर का। वह कहना चाहता था कि जो भी आदमी एक औरत को बिस्तर पर संतुष्ट कर सकता है वह ही-मैन है।"[19] स्त्री-पुरुष को मनुष्य से इतर 'स्त्री' और 'पुरुष' जैसे दो अलग-अलग खांचों में ढालने की प्रक्रिया पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था के आगमन के साथ ही शुरू हो गई थी। वालिया और परमजीत उसी पुरुष वर्चस्ववादी व्यवस्था के वाहक पात्र हैं।

आपका बंटी- मन्नू भंडारी ने अपने उपन्यास 'आपका बंटी' में पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था के तहत एक तलाकशुदा स्त्री के जीवन और संघर्ष का सजीव अंकन किया है। शकुन और अजय के बीच विवाह के प्रारंभिक दिनों से ही एक-दूसरे के प्रति कोई खास समझ नहीं बन पाई "शुरू के दिनों में ही एक गलत निर्णय ले डालने का एहसास दोनों के मन में बहुत साफ होकर उभर आया था, जिस पर हर दिन और घटना ने केवल सान ही चढ़ाई थी। समझौते का प्रयत्न भी दोनों में एक अंडरस्टैंडिंग पैदा करने की इच्छा से नहीं होता था, वरन् एक-दूसरे को पराजित करके अपने अनुकूल बना लेने की आकांक्षा से। तर्कों और बहसों में दिन बीतते थे और ठंडी लाशों की तरह लेटे-लेटे दूसरे को दुखी, बैचेन और छटपटाते हुए देखने की आकांक्षा में रातें। भीतर ही भीतर चलने वाली एक अजीब ही लड़ाई थी वह भी, जिसमें दम साधकर दोनों ने हर दिन प्रतीक्षा की थी कि कब सामनेवाले की साँस उखड़ जाती है और वह घुटने टेक देता है।"[20] यद्यपि अहं का भाव दोनों में ही था किन्तु इस सबके कारण सबसे अधिक मानसिक यातना से शकुन को ही गुजरना पड़ा।

पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था के तहत एक तलाकशुदा पुरुष के लिए एक बार पुनः खुले रूप में संबंधों को तलाशने के तमाम विकल्प मौजूद रहते हैं। किन्तु अधिकांश स्त्रियों के लिए अपमान और अकेलेपन का एहसास कटु और तीव्र होता है। शकुन की स्थिति भी कुछ ऐसी ही थी "अजय के किसी के साथ संबंध बढ़ने की सूचना और फिर उसके साथ सैटल हो जाने की सूचना ने उसे कितना तिलमिला दिया था। अकेले रहने के बावजूद तब एक बार फिर नए सिरे से अकेलेपन का भाव जागा था, बहुत तीखा और कटु होकर। अपमान की भावना ने उस दंश को बहुत ज्यादा बढ़ा दिया था।"[21]

भारतीय समाज व्यवस्था में स्त्री को सदैव उदार हृदया, केवल दूसरों के लिए जीने वाली के रूप में प्रचारित-प्रसारित किया जाता रहा है। पिता, भाई, पति, पुत्र के अनुसार अपना जीवन ढालने में वह पूरी उम्र बिता देती है। इस नीति से इतर शकुन जब अपना अस्तित्व तलाशने की कोशिश करती है तो उसे वकील चाचा द्वारा समझाया गया नैतिकता का पाठ अनायास ही स्मरण हो आता है कि "तुम जानती हो, अजय बहुत इगोइस्ट भी है और बहुत पजेसिव भी। अपने आपको पूरी तरह समाप्त करके ही तुम उसे पा सको तो पा सको, अपने को बचाए रखकर उसे खोना ही पड़ेगा।"[22] यानी पुरुष का साथ पाने के लिए स्त्री द्वारा अपने 'स्व' को भुला दिया जाना ही उचित और नैतिक माना गया है।

एक तरफ पुरुष को वंश का वाहक ठहराया गया है, इसीलिए वंश को चलाने और कुल की प्रतिष्ठा को बनाए, बचाए रखने के नाम पर उसका पुनर्विवाह समाज द्वारा स्वीकार्य ही नहीं बल्कि एक सामान्य सी बात भी मानी जाती है। वहीं दूसरी तरफ वर्तमान में भी एक तलाकशुदा या विधवा स्त्री का पुनर्विवाह समाज में लगभग अस्वीकार्य है। अजय से अलग हो जाने, उसके द्वारा पुनर्विवाह कर लिए जाने के लंबे समय बाद शकुन तमाम उलझनों से गुजरते हुए जब अंततः डॉ. जोशी से विवाह करने का फैसला लेती है तो उसे अनेक सामाजिक टीका-टिप्पणियों और आपत्तियों से गुजरना पड़ता है। उसके लिए नौकरी

करना दूभर हो जाता है। “उसके और डॉ. के संबंध की बात शहर के एक खास तबके में फैल गई थी और एक दिन कॉलेज के मैनेजर ने जिस तरह आकर पूछा था तो वह समझ नहीं पायी थी कि बात केवल जानने मात्र के लिए ही पूछी जा रही है या कि जानी हुई बात को एक हल्की सी भर्त्सना और हिकारत के साथ उस तक वापस पहुँचाया जा रहा है।”[23] स्त्री पुरुष के बीच ऐसे दोहरे मानदंड सदियों से लागू रहे हैं।

स्त्री को निर्णय लेने का अधिकार न देना, उसे परनिर्भर बनाना भी स्त्री को गुलाम बनाने का एक प्रमुख हथकंडा रहा है। पितृसत्ता ने स्त्री के भीतर ऐसे संस्कारों को रचाया-बसाया कि वह जीवन के हर मोड़ पर पुरुष को अपना सबसे बड़ा संबल माने। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के बावजूद शकुन भी इसका अपवाद नहीं है। “अब तो हर बात के लिए वह डॉ. पर इस कदर निर्भर करने लगी है कि लगता है, एक कदम भी डॉ. के बिना चल नहीं सकेगी। औरत कहीं की कहीं पहुँच जाए, फिर भी पुरुष का साथ उसके लिए कितना जरूरी है...पर वह साथ हो, सही अर्थों में।”[24]

आज भी हमारे देश में स्त्री आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर, निर्णय लेने में सक्षम होने के बावजूद अधिकांश जगहों पर पितृसत्ता द्वारा थोपी गई मान्यताओं की शिकार हो ही जाती है। शकुन इसका एक उम्दा उदाहरण है। “सामाजिक परिवर्तन, सांस्कृतिक बदलाव, प्रजातान्त्रिक मूल्यों और व्यक्ति के मानवीय अधिकारों की लगातार बढ़ती जनचेतना, शिक्षा और प्रसार के तकनीकी दौर में क्या परिवार को पुरानी पुरुषसत्ताक के निरंकुशता को बनाए-बचाए रखकर बनाया-बचाया जा सकता है? सामंती परिवार सत्ता से प्रजातान्त्रिक राजसत्ता (आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक) तक में शकुन की आज भी क्या स्थिति, सम्मान और अधिकार हैं? विवाह से विच्छेद तक के निर्णयों में उसका अपना निर्णय कहां और कितना है? एक संबंध से मुक्त होने की विवशता से लेकर दूसरे संबंध में बांधने की मजबूरी के पीछे स्त्री कितनी अपमानित, आहत और असहाय है? इसका सिर्फ अनुमान ही

लगाया जा सकता है। विवाह संस्था में जब तक पत्नी और पुत्र, पति की संपत्ति माने और समझे जाते रहेंगे, तब तक, उफ्फ करते ही बंटी को अंततः 'हॉस्टल' भेज दिया जाएगा और शकुन को 'पागलखाने'। एक सुरंग से दूसरी सुरंग वैसा ही 'अन्धकार' वैसा ही 'अकेलापन'।"[25]

शकुन को कभी पति तो कभी पुत्र के कारण आजीवन समझौते करने पड़ते हैं। वह न चाहते हुए भी आजीवन दूसरों के लिए जीने पर मजबूर कर दी जाती है। एक आत्मनिर्भर, स्वतंत्रचेता स्त्री की यह परिणति पितृसत्ता की सघन बुनावट का ही परिणाम है।

अनारो- 'अनारो' उपन्यास में पितृसत्ता के अनेक रूप दिखाई पढ़ते हैं। एक तरफ तो वह पुरुषों के माध्यम से प्रकट हुआ है और दूसरी तरफ महिलाएं भी उसकी वकालत करती हुई दिखाई देती हैं। पुरुष सत्तात्मक समाज व्यवस्था होने के कारण पितृसत्ता की जड़े काफी गहरी हैं। इसे एकदम से उखाड़ फेंकना मुश्किल है। अनारो भी इसी व्यवस्था में रह रही है। वह साहसी है। अपने दम पर पूरे परिवार का भरण-पोषण करती है। लेकिन भारतीय संस्कारों में ऐसी बंधी है कि उससे बाहर नहीं निकल पाती है। उसका पति नन्दलाल निकम्मा है। दिनभर जुआ खेलता है। कठिन परिस्थितियों में उसे अकेला छोड़ कर घर से भाग जाता है। इतना सब होने के बावजूद अनारो उसे कुछ बुरा नहीं कहती है, बल्कि उसके कथनों से ऐसा स्पष्ट होता है कि जैसा भी है पर है वह उसका पति परमेश्वर। अनारो दिन-रात परिश्रम करती है फिर भी वह अपने पति नन्दलाल से पिटती है। इस पर अनारो पितृसत्ता की जड़ों को और मजबूत करती हुई दिखाई देती है। वह कहती है "पर गंजी के बाप की भी एक ही रौनक है। ऐसा लगता तो है कि घर में कोई जी रहा है। अब तो चाहो काम पर से साँझ ढले लौटो, पर कोई टोकने वाला नहीं। नहीं तो भला क्या मजाल है जो छह के बाद घर पहुँचू और गंजी का बाप जूता लेकर सिर पर सवार न हो जाय! कोई

अपना हो तो, कहे-सुनेगा न! और अपना तो मारेगा भी तो छाँव में ही गिरेगा।"[26] अनारो नन्दलाल के प्रति कटु नहीं हो पाती है बल्कि आत्मीयता का भाव ही प्रकट करती है।

भारतीय संस्कारों में ऐसा माना जाता है कि कोई भी मंगल कार्य पति के बगैर नहीं किया जा सकता है। पति चाहे कितना भी निकम्मा और निठल्ला क्यों न हो। औरत कितना भी अपने पैरों पर खड़ी हो जाए, आत्मनिर्भर हो जाए पर पति के बिना वह कोई मंगल कार्य नहीं कर सकती है। यह सारे नियम-कायदे-कानून पुरुष सत्तात्मक समाज द्वारा निर्मित किये गये हैं। अनारो भी इन्हीं संस्कारों वाले समाज में रह रही एक भारतीय नारी है। वह भी पितृसत्तात्मक समाज द्वारा निर्धारित की गई इस सोच से मुक्त नहीं है। गंजी की शादी के अवसर पर वह नन्दलाल को लेने बम्बई जाती है। वह कहती है कि "पर अब तो बिरादरी वाले भी टोकने लगे कि गंजी ब्याह लायक हो गयी। छोटे काम तो सलटा ले गयी अनारो, अब यह इत्ता बड़ा कारज तो गंजी के बाप को ही आकर थामना पड़ेगा।"[27] चाहे कुछ भी हो जाए पितृसत्ता समाज में इस तरह हावी है कि उससे बाहर निकलना मुश्किल है। अनारो में वह ताकत है कि वह अपनी बेटी का ब्याह खुद संभाल लेती है। उसका खर्च खुद उठा सकती है, बल्कि उठाती भी है। लेकिन इतना कुछ होने के बाद भी वह यह सबकुछ अकेले नहीं कर सकती। उसे पति का साथ चाहिए। आखिर पगड़ी तो पुरुष ही पहन सकता है। स्त्री को पगड़ी पहनने का अधिकार समाज ने प्रदान नहीं किया है। सारा दायित्व स्त्री स्वयं उठाती है परन्तु कोई भी महत्वपूर्ण कार्य के लिए उसे पति के साथ की जरूरत पड़ती है। समाज के लोगों द्वारा इस तरह के सामाजिक नियम निर्धारित किये गये हैं कि उनसे मुक्त होना एक सामान्य स्त्री के लिए अत्यंत मुश्किल है। अनारो भी उन्हीं स्त्रियों में से एक है। वह स्वयं इन सबसे बाहर नहीं निकलना चाहती है। पितृसत्ता के खिलाफ नहीं बल्कि वह पितृसत्ता के साथ है। उसके कथनों से हमें यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि अनारो भारतीय संस्कारों में बंधी, रूढ़ीगत नियमों का पालन करती हुई स्त्री है।

पितृसत्ता समाज में अनेक रूपों में काम करती है। उसका एक रूप हमें इस प्रकार दिखाई देता है। शादी के अवसर पर प्राय: सभी घरों में माँ, बुआ, मौसी, दादी, ताई इत्यादि के द्वारा लड़की को नसीहतें दी जाती हैं कि जैसा भी हो वह उसके पति का घर है। वहां उसी प्रकार उसे रहना पड़ेगा। इसी प्रकार के संस्कारों के बीच अनारो पली-बढ़ी है।14 वर्ष की आयु में जब अनारो की शादी होती है तब उसकी माँ और मौसी के द्वारा ऐसी ही नसीहतें दी जाती हैं। वह कहती हैं कि "खबरदार जो कोई फ़रियाद, शिकायत लेके मैके आयी। आदमी के पॉव धो-धोकर पीना होगा-रुलाये तो भी, हंसाये तो भी।"[28] यह है भारतीय समाज का एक अलग चेहरा। जहां महिलाएं खुद इस पितृसत्तात्मक व्यवस्था की पोषक हैं। सदियों से चली आ रही इस पितृसत्तात्मक व्यवस्था की जकड़बंदी से वह आज भी मुक्त नहीं हो पायीं हैं। वह इन्हीं नसीहतों को अपने अन्दर समेटे हुए चल रही हैं।

पितृसत्ता के अंदर स्त्री के शारीरिक सौंदर्य को महत्व दिया जाता है। अगर स्त्री सुंदर नहीं है तो उसे हेय दृष्टि से देखा जाता है। सुंदरता का यह पैमाना सदियों से पितृसत्ता के अंदर जड़ें जमाए बैठा हुआ है। नन्दलाल भी इससे अछूता नहीं है। नन्दलाल की शादी अनारो से हुई है। एक पत्नी के होते हुए भी नंदलाल दूसरी स्त्री 'छबीली' को अपने घर ले आता है। अनारो इसका विरोध करती है तो नन्दलाल कहता है कि "ससुरी! तेरी डेढ़ पसली की काठी और इतरा रही है गुलबदन की तरह! उसका बदन देखा है, कैसा गदराया है? रसभरी है रसभरी!"[29] यहाँ पर पुरुषवादी दृष्टिकोण को देखा जा सकता है जिसके तहत स्त्री के शरीर का सौंदर्य गुलबदन की तरह, गदराया हुआ और रसभरी जैसा होना चाहिए। वह स्त्री के मानसिक सौंदर्य को कोई महत्व नहीं देता है। स्त्री चाहे कितनी भी पढ़ी-लिखी हो, घर का सारा काम-काज करने वाली हो, पूरे परिवार का खर्च चलाती हो पर पितृसत्ता के मापदण्डों के आधार पर वह पुरुष से निचले पायदान पर ही खड़ी दिखाई देती है। उसे हमेशा से शारीरिक और मानसिक रूप से कमतर आंका जाता रहा है। लेकिन आज स्थितियां बदल रही हैं। आज स्त्रियाँ पुरुषों के साथ ही नहीं बल्कि उनसे कहीं आगे बढ़कर

भी सामने आ रहीं हैं। वह आज बाहर निकल रही हैं, नौकरी कर रही हैं, पूरे परिवार का खर्च उठाती हैं साथ ही साथ बच्चों की देखभाल और पति की सेवा भी करती हैं। अनारो भी अपनी कमाई के बल पर पूरे परिवार का खर्च चलाती है किन्तु पितृसत्तात्मक व्यवस्था को यह कहाँ मंजूर है कि पत्नी पति का खर्च वहन करे। पुरुष इन स्थितियों के लिए तैयार ही नहीं होता है। वह अपनी स्त्री को हमेशा अपने से कमतर ही आंकता है। नन्दलाल अनारो के बारे में कहता है कि "चार पैसे क्या कमा लाती है, ससुरी सोचती है, हमने कमाई देखी ही नहीं।...ऊपर से डेढ़ पसली की औरत नखरा दिखलायगी।"[30] यह हमारे समाज की उस कटु सच्चाई को सामने लाता है जहां स्त्री के श्रम का कोई मूल्य नहीं आंका जाता है। स्त्री चाहे रात-दिन काम करके अपने पति और परिवार की सेवा क्यों न करती हो परन्तु समाज में उसका कोई मूल्य नहीं होता है। पति नन्दलाल कोई काम नहीं करता है फिर भी वह अनारो पर कटाक्ष करता रहता है। इतना तो स्पष्ट है कि पितृसत्ता का शिकंजा इतना कठोर है कि उससे अनारो भी बाहर नहीं निकल पाती है। वह उसी में दिन-रात पिसती रहती है और उसे अपनी नियति मान बैठी है।

ग. प्रमुख स्त्री चरित्र एवं मुक्ति का प्रश्न

मित्रो मरजानी - उपन्यास में मध्यवर्गीय परिवार की स्त्रियों का चित्रण है। इस उपन्यास में आए स्त्री चरित्रों में धनवंती और उसकी तीन बहुओं सुहागवंती, सुमित्रावंती और फूलावंती का चित्रण प्रमुखता से किया गया है। किन्तु इस उपन्यास की केन्द्रीय पात्र और सबसे प्रमुख चरित्र 'सुमित्रावंती' उर्फ़ 'मित्रो' ही है। क्योंकि मित्रो ही पितृसत्ता के दोहरे व्यवहार का विरोध करती है और स्त्री मुक्ति के प्रश्न को बार-बार पुरजोर ढंग से उठाती है।

मित्रो जैसी बेबाक और अपनी इच्छाओं को खुलकर प्रस्तुत करने वाली स्त्री चरित्र की सृष्टि हिन्दी कथा साहित्य में सर्वप्रथम कृष्णा सोबती ने ही किया। "बदलते समय में 'मित्रो

मरजानी' की मित्रो को न जीविका की चिंता है न समाज में परिवर्तन की आकांक्षा; वह परंपरागत देवी बनकर नहीं जीना चाहती; वह हाड़मांस की ऐसी नारी है जो धर्म (पातिव्रत्य) और संस्कृति के नाम पर दबने वाली कुंठाओं का शिकार बनने वाली नहीं वरन् अपनी (शरीर की) आवश्यकताओं को खुलकर स्वीकारने और पूरी करने वाली है।"[31] स्त्री की यौन इच्छाओं को भारतीय संस्कृति और सभ्यता के तहत अनेक तथाकथित नैतिक बंधनों से बांधा गया है। सदियों से ऐसा प्रचारित किया जाता रहा है कि एक स्त्री द्वारा अपनी कामेच्छाओं को खुलकर प्रकट करना या इस संदर्भ में बात करना, न केवल उसके चरित्र पर उँगली उठाता है बल्कि यह भारतीय संस्कृति के बिल्कुल विरुद्ध है। किन्तु मित्रो स्त्रियों के संदर्भ में पितृसत्ता द्वारा निर्धारित इस एकतरफा विचार को ताक पर रखती नजर आती है। मित्रो और सुहाग के बीच हुए संवाद से यह स्पष्ट हो जाता है - "मित्रो झिझकी-हिचकिचाई नहीं। पड़े-पड़े कहा-सात नदियों की तारू, तवे सी काली मेरी माँ, और मैं गोरी चिट्टी उसकी कोख पड़ी। कहती है, इलाके के बड़भागी तहसीलदार की मुँहादरा है मित्रो। अब तुम्ही बताओ, जिठानी, तुम-जैसा सत-बल कहाँ से पाऊं-लाऊं? देवर तुम्हारा मेरा रोग नहीं पहचानता।...बहुत हुआ हफ्ते-पखवारे...और मेरी इस देह में इतनी प्यास है, इतनी प्यास है कि मछली सी तड़पती हूँ!"[32] मित्रो के इस बेबाक अंदाज के सन्दर्भ में राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि "मित्रो को लेकर जो तूफान उठा था उसका कारण सिर्फ यही था कि मित्रो हिन्दी कथा-साहित्य की एकमात्र नारी है जो अपनी जरूरत को अपनी जबान से कहती है, अपनी भाषा में अपने होने की घोषणा करती है। यानी संबंधों और मर्यादाओं पर हिकारत और उपेक्षा से हँसकर अपनी तरह चलती है। मुझे मित्रो हिन्दी की अकेली ऐसी कथा नारी लगती है जो सदियों से नारी पर लादे गये संस्कारों-संबंधों, सुन्दर-सुन्दर उपमाओं को ललकारती, मुँह चिढ़ाती और उन्हें झुठलाती हुई अपनी मूलभूत जरूरत और जबान के साथ हमारे सामने आ खड़ी हुई हो, छिन्नमस्ता काली की तरह और मानो हम उसके तेज को बर्दाश्त नहीं कर पाते।"[33]

मित्रो पर बार-बार यह आरोप लगाया जाता है कि वह देह व्यापार करती है। सरदारी उस पर खुद यह आरोप लगाता है। घर में ही मित्रो के लिए कचहरी तैयार हो जाती है। सास-ससुर पति और जेठ-जिठानी की अदालत में मित्रो कठघरे में खड़ी नजर आती है। मित्रो अपनी देह पर उठाए गये तमाम सवालों का टके-सा जवाब देने में पीछे नहीं हटती है। बनवारी जब पूछता है कि क्या सच है? क्या झूठ? तब "सरदारी की बहू को मुँह-माँगी मुराद मिल गई। कटोरी सी दो आँखे नचाकर कहा- सोने सी अपनी देह झुर-झुरकर जला लूँ या गुलजारी देवर की घरवाली की न्याई सुई-सिलाई के पीछे जान खपा लूँ? सच तो यूँ, जेठ जी, कि दीन-दुनिया बिसरा मैं मनुक्ख की जात से हँस-खेल लेती हूँ। झूठ यूँ कि खसम का दिया राजपाठ छोड़े मैं कोठे पर तो नहीं जा बैठी?"[34] यह स्पष्ट है कि मित्रो अपनी दैहिक स्वतंत्रता की बात को खुले रूप में स्वीकार करती है। मित्रो, स्त्री के लिए नियत शील और संकोच को तोड़ती नजर आती है और अपनी देह पर स्वयं के अधिकार का प्रश्न उठाती है।

स्त्रियों को लेकर गालियों का भी एक विस्तृत प्रयोजन रहा है। समाज में अधिकांश गालियां स्त्रियों को लेकर ही गढ़ी गई हैं। ये गालियां स्त्रियों को अपमानित करने, उन्हें छोटा और तुच्छ दिखाने के लिए प्रयुक्त की जाती रही हैं। मित्रो का पति सरदारी भी मित्रो को अपमानित और लांछित करने के लिए अपने पिता के सामने उसे गालियां देता है और चीखकर कहता है "तू छिनालों की भी छिनाल! आज न माने बापू, पर एक दिन इसके यार और याराने..."[35] मित्रो अपने चरित्र पर लगाए गए 'छिनाल' के लांछन को चुपचाप सुनती नहीं है बल्कि तुरंत इसका विरोध करती है "मित्रो ने कमर पर हाथ टिका उलाहने से ससुर की ओर ताका और मनुहार से कहा- सुन लिया न, बापू? कोई माँ-जाई ऐसी गालियां सुन चुप रहेगी?"[36] प्रश्न उठता है कि आखिर क्यों स्त्री को नीचा और बौना बनाए रखने के लिए, उसे अपमानित करने के लिए उसी की देह को निशाना बनाया जाता है? खुलकर स्त्री के शरीर पर केन्द्रित गालियों का प्रयोग किया जाता है? स्त्री की मुक्ति तब तक संभव

नहीं है जब तक कि इसके पीछे पितृसत्ता की एक बड़ी साजिश को न समझा जाए। वह साजिश है स्त्री की यौनिकता पर नियंत्रण बनाए रखने की। इसीलिए स्त्री को तमाम मर्यादाओं और संस्कारों की घुट्टी जन्म से ही पिलाई जाने लगती है। जबकि पुरुषों की यौनिकता पर नियंत्रण का कोई विधान निश्चित नहीं है।

उपन्यास में कई स्थानों पर मित्रो के गर्भवती न होने पर भी प्रश्न उठाए जाते हैं। हमारे समाज में अक्सर स्त्रियों को ही ताने सुनने पड़ते हैं। उन्हें ही अक्षम माना जाता है। किन्तु मित्रो कई जगहों पर इसका विरोध करती है। ऐसा करते हुए वह वाचालता की हद तक पहुँच जाती है और अपनी सास से कहती है "पाँच-सात क्या, मेरे तो सौ-पचास होंगे! फिर ओठों पर आड़ी-तिरछी कुटिल मुस्कान फैल गई। आँखे मटकाकर कहा - मेरा बस चले तो गिनकर सौ कौरव जन डालूँ, पर अम्मा, अपने लाड़ले बेटे का भी तो आड़तोड़ जुटाओ! निगोड़े मेरे पत्थर के बुत में भी कोई हरकत तो हो!"[37] एक अन्य स्थान पर सुहाग के यह पूछने पर कि सरदारी अभी घर लौटा या नहीं मित्रो कहती है "रात उतरते देवर तुम्हारा घर आन पहुँचे तो जान लो, जिठानी, उस दिन आसमानी गोला उगा पश्चिम से। तुम क्या समझी थी, देवर तुम्हारा इस झोली में लुका बैठा होगा? अरी, मेरी सयानी जिठानी, वह तो भागता-फिरता होगा वैद्य-हकीमों के यहाँ।"[38]

मित्रो अपने विरुद्ध कही गई बातों को, या स्त्री को कमतर आंकने के प्रयासों को ही विफल नहीं करती है बल्कि वह अपने दायित्वों को भी भली-भांति समझती है। जब बनवारी और सरदारी को व्यापार में भारी आर्थिक नुकसान उठाना पड़ा उस समय मित्रो ही सरदारी की आर्थिक मदद करती है "मित्रो ने एड़ियाँ उठा पड़छत्ती पर से टीन की सन्दूकची उतारी। ताली लगा लाल पट्ट की थैली निकाली और घरवाले के आगे रख बोली- यह दमड़ी दात परवान करो, लाल जी ! कौन इस नांवे के बिना मित्रो की बेटी कँवारी रह जाएगी?"[39]

वास्तव में 'स्त्री मुक्ति' का ऐसा बेबाक और बेहतरीन ढंग से समर्थन करने वाली कथा नारी के रूप में 'मित्रो' का चित्रण आज से 45 वर्ष पूर्व करना कृष्णा सोबती की एक बड़ी उपलब्धि रही है। एक ऐसे समय में जब 'स्त्री मुक्ति' और 'स्त्री अधिकारों' की बातें भारत में आज की तरह खुलकर नहीं हो रही थीं, कृष्णा जी ने बेहद सहज और ताजगी युक्त भाषा में 'मित्रो' जैसे अभूतपूर्व चरित्र को साहित्य जगत में प्रवेश दिलाया। "मित्रो इसलिए भी अभूतपूर्व है कि बहुत सहज है। यह अभूतपूर्वता असामान्यता नहीं, वास्तविकता से उपजी है। मित्रो जैसे व्यक्ति समाज में थे, उन्हें साहित्य में नहीं लाया गया था। मित्रो कोई मनोविश्लेषणात्मक या असामान्य पात्र नहीं है।"[40] इसमें संदेह नहीं कि "यौनाक्रांत जीवन की विडम्बनाओं को साठ से पहले से ही लिखने वाली पीढ़ी ने भी उछाला था किन्तु 'मित्रो' न केवल उनको वरन् समकालीन रचनाओं को भी पीछे छोड़ गई है। जिस्म की भूख को नारी के कोण से कभी देखा ही नहीं गया। क्योंकि नैतिक वर्जनाएँ एवं शील के बंधन उस पर इस कदर हावी थे कि एक व्यक्ति के रूप में ही नहीं लेखिका के रूप में भी वह उनसे बाहर नहीं जा सकती थी। कृष्णा सोबती ने उन वर्जनाओं को सर्वथा अस्वीकारते हुए बोल्ड होकर लिखा और मित्रो जैसी नायिका की सृष्टि की। मित्रो की काम बुभुक्षा एक शांत स्थिर संयुक्त परिवार में हलचल पैदा कर देती है और यौनाक्रांत आचरण से उद्भूत प्रेरणाओं से अवरोधक वर्जनाओं को बिल्कुल नकार देती है।"[41]

निश्चित ही एक मध्यवर्गीय परिवार की स्त्री 'मित्रो' का यह विद्रोह स्त्री पर जबरन लादी गयी वर्जनाओं और नियमों पर करारी चोट करने में पूर्णत: सफल रहा है।

बेघर- 'बेघर' उपन्यास में स्त्री जीवन की विविध छवियाँ दिखाई देती हैं। उपन्यास की प्रमुख स्त्री चरित्र संजीवनी भरूचा, रमा और केकी अंक्लेसरिया हैं। इसके अतिरिक्त एकाध सन्दर्भों में परमजीत की माँ और बहन बिम्मा का जिक्र भी किया गया है। ये सभी पात्र स्त्री जीवन के विभिन्न रूपों को अभिव्यक्त करते हैं। इन सभी पात्रों के माध्यम से स्त्री

जीवन की विविध स्थितियों का चित्रण करने के साथ ही स्त्री मुक्ति के अहम् प्रश्न को भी उठाया गया है।

स्त्री के 'कौमार्य' को लेकर हमारे समाज में एक रूढ़ और अमानवीय धारणा विद्यमान है। इसी मुद्दे को संजीवनी के माध्यम से 'बेघर' में प्रमुखता से उठाया गया है। संजीवनी इस मिथक के दंश को झेलती है। विपिन उसके साथ जबरदस्ती करता है और परमजीत जिसके साथ वह स्वेच्छा से संबंध स्थापित करती है केवल यह जानकर कि 'वह उसके लिए पहला नहीं था' उसे छोड़कर चला जाता है। यद्यपि संजीवनी ने "उस समय महसूस किया था कि परमजीत को भी उतना ही अच्छा लगा जितना उसे, पर अलग होते ही परमजीत ने उस स्मृति को बिल्कुल ही मिटा दिया था। वह यों पीड़ित होकर बैठ गया था जैसे वह ट्रक के नीचे कुचल गया हो।"[42] एक ओर परमजीत आधुनिक युवा सोच से लबरेज जान पड़ता है तो दूसरी तरफ वह अपनी रूढ़, अवैज्ञानिक सोच से इतने भीतर तक ग्रस्त है कि उसे संजीवनी को हमेशा के लिए छोड़ देने में कुछ मिनट भी नहीं लगते। "दूसरी ओर संजीवनी खुद 'अपराधबोध' से शायद कभी मुक्त नहीं हो पाई। वह बार-बार झुँझलाती बड़बड़ाती और उसकी नफरत-भरी याद में विपिन आ खड़ा होता, जो 'उसकी दुनिया खत्म कर' मॉरिशस जाकर बैठ गया। वह उस 'दुर्घटना' को याद करके पीली पड़ जाती। वह सोचती रही कि कल परमजीत को वह सब कह देगी "उसे समझना ही होगा कि संजीवनी के लिए यह पहला ही अनुभव था", उसके ऊपर 'आकस्मिक आक्रमण' हुआ था। वह विपिन के साथ 'एकांत कमरे में' नहीं थी, उसने रेस्तरां के केबिन में ही उसे जबरन दबोच लिया था और 'खड़े-खड़े ही दुर्व्यवहार' किया था। वह कह भी देती तो क्या परमजीत विश्वास करता? संजीवनी की नजर में यह "अप्रिय व छोटी-सी दुर्घटना" हो सकती थी, लेकिन परमजीत (पुरुष) के लिए तो यह सदियों से स्थापित धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक और नैतिक व्यवस्था और पुरुष-सत्ता द्वारा निर्धारित कानूनी मर्यादा का 'उल्लंघन' है जिसे अनदेखा कर 'क्षमा' नहीं किया जा सकता।"[43]

समाज में स्त्रियों को लेकर जड़ हो चुकी मान्यताओं के सन्दर्भ में चेतना जागृत करना अनिवार्य है। कौमार्यावस्था के सन्दर्भ में भी इस वैज्ञानिक तथ्य से अवगत होना आवश्यक है कि "कौमार्यावस्था में योनिपटल रहना ही चाहिए, यह एक अवैज्ञानिक और तथ्यरहित विचार है। उसकी अनुपस्थिति अपवित्रता का लक्षण कतई कतई नहीं है। पहले लड़कियों के विवाह कम उम्र में सम्पन्न हो जाते थे। तब ऐसा होता होगा, परन्तु अब जब कि लड़कियां स्कूलों में जाती हैं, खेलती कूदती हैं, साइकिल चलाती हैं तथा उनका विवाह बाईस-पच्चीस के बाद होने लगा है, तब भी योनिपटल के संबंध में वही मध्यकालीन धारणा रखना अज्ञान ही नहीं अपितु असभ्यता का लक्षण समझा जाना चाहिए।"[44] आखिर संजीवनी कौमार्य के सन्दर्भ में पितृसत्तात्मक समाज की इस रूढ़िवादी मानसिकता का शिकार हो जाती है जो अपनी अवैज्ञानिक और अमानवीय सोच में इस बात का प्रबल आग्रही रहा है कि विवाह पूर्व स्त्री का कौमार्य सुरक्षित रहना अनिवार्य है। संजीवनी परमजीत से मिलकर "एक लंबी बहस करना चाह रही थी"[45] लेकिन परमजीत (पुरुष) ने उसे कोई मौका नहीं दिया। उपन्यास में इस बात का प्रबल आग्रह है कि स्त्रियों को जब तक अपना पक्ष रखने का, विचार और तर्क प्रस्तुत करने का पूरा और सही मौका पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा समान रूप से नहीं दिया जाएगा तब तक स्त्री मुक्ति का विचार बेमानी होगा और ऐसे विचारों को ढोते चलने से न तो पुरुष का न ही स्त्री का उचित विकास सम्भव है।

"पश्चिम का इतिहास गवाही देता है कि यौन-क्रांति एक सीमा तक ही स्त्री-मुक्ति का संबल बन पाई। गर्भनिरोधक से लेकर एड्स तक की यात्रा में नारी की आजादी का मतलब मर्दों को पहले से अधिक आजादी और फायदे में निकला। एक तरफ स्त्रियों को उनकी देह का स्वयं मालिक बताकर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के ब्रांड बेचने के लिए नग्न-अर्धनग्न मॉडल में बदला जा रहा है, मगर दूसरी तरफ घर में पत्नी, माँ, बहू, बेटी के लिए वही सदियों पुरानी नैतिक मर्यादा, यौन शुचिता और पातिव्रत्य के कड़े नियम लागू हैं। इन दोनों अंतर्विरोधी और जटिल स्थितियों में नारी-अस्मिता और मुक्ति के प्रश्न अधिक पेचीदा और

घातक सिद्ध हो रहे हैं। कौमार्य बचाए रखने के लिए घर में कैद होकर रहें या घर से बाहर निकलने की कामना हो तो निरंतर बलात्कार का भय झेलती रहें? सती-सावित्री बने रहना है तो 'चेस्टिटी बेल्ट' या 'बुर्का' पहने रहो।यौन-स्वतंत्रता चाहिए तो 'खतरनाक औरत' होने-कहलाने की हिम्मत तो बटोरनी ही पड़ेगी। 'घर' और 'बेघर' के बीच चुनाव अभी भी संजीवनी को ही करना है।"[46]

संजीवनी को छोड़ परमजीत माँ-बाप की मर्जी से 'रमा' से विवाह कर लेता है। रमा 'कौमार्य' की परम्परागत अवधारणा को सुरक्षित रखने में सफल होती है। तथाकथित 'पवित्रता' की कसौटी पर खरी भी उतरती है। फिर भी जीवन में सामंजस्य नहीं है। रमा को परमजीत से अधिक चिंता अन्य चीजों की थी। वह जीवन में प्रत्येक चीज को नफे-नुकसान के तराजू में तौलती थी। वह बचत में पूरी तरह यकीन करती थी। उसे सब्जी वाला, होटल का बेयरा सभी लुटेरे लगते थे, और कई बार जरूरी होने पर भी वह परमजीत को पैसा खर्च नहीं करने देती थी। शनैः - शनैः परमजीत उससे शारीरिक और मानसिक दोनों स्तर पर विमुख होता चला गया। किन्तु रमा अपनी दुनिया, अपने बच्चों में मस्त थी। उसके दुबारा गर्भवती होने पर परमजीत को झुंझलाहट हुई, किन्तु रमा के शब्दों में "एक लड़का हो तो धुकपुकी मची रहती है, दो तो होने ही चाहिए। मैं तो खुद सोच रही थी कि पप्पू एक साल का होने आया, कहीं कोई खराबी तो नहीं पड़ गयी।"[47] वास्तव में "रमा कोई असामान्य पात्र नहीं है। वह एक सामान्य भारतीय मध्यवर्गीय गृहिणी का प्रतिनिधि रूप है। इसका आशय यह नहीं कि सभी मध्यवर्गीय महिलाएं ऐसी ही असंवेदनशील होती हैं। रमा के चरित्र का आशय सिर्फ इस बात को रेखांकित करना है कि हमारे सामाजिक जीवन-मूल्य मानवीय भावनाओं की कीमत चुकाकर ही क्षुद्र स्वार्थों की रक्षा करते हैं। इस सामाजिक संरचना की बुनयादी इकाई घर है, इसीलिए वहां यह प्रक्रिया सबसे स्वाभाविक रूप से चलती रहती है। रमा के चरित्र की एकांगिता यथार्थ के इसी पक्ष पर जोर देने के लिए है।

एकायामी दिखाते हुए भी यह चरित्र सही मायने में द्वंदात्मक है, क्योंकि यह यथार्थ के मूलस्वरूप और उसके विकास की दिशा को धारण करता है।"[48]

पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था के तहत अकेले जीवन निर्वाह करने के कारण तमाम कठिनाइयों का सामना करने वाले चरित्र के रूप में केकी अंक्लेसरिया का चित्रण किया गया है। केकी अकेलेपन का शिकार थी। उसका कोई परिवार, कोई अपना नहीं था। दो कुत्ते और दो नौकर यही उसकी दुनिया थी। अकेलेपन और अपनी तकलीफ को न बांट सकने की पीड़ा ने उसे चिड़चिड़ा और सनकी मिजाज का बना दिया था। ऐसा नहीं था कि केकी शुरू से ही ऐसी थी। केकी के नौकर बेहराम के शब्दों में "पहले केकी साहब बहुत हँसती थी। इसी बम्बई में उनके कितने दोस्त थे। कितनी पार्टियाँ होती थीं। घर और बाहर। पर बड़े साहब ने इनको कभी पसंद नहीं किया। बड़े साहब बहुत शक्की और गुस्सेवाले थे। उनका पहले अपना बिजनेस था। बस उनके दिमाग में जम गया कि जिस दिन से केकी साहब पैदा हुई उनका बिजनेस मन्दा जाने लगा। इनको मुँह पर मनहूस कह देते थे। माँ समझती तो उस पर बकने लगते। गुस्से में कुर्सी, प्लेट, चौकी कुछ भी फेंककर मारते।"[49] केकी सामाजिक अंधविश्वास का शिकार हुई है। जहां एक तरफ स्त्री को देवी या माँ कहा जाता है वहीं दूसरी तरफ डायन और मनहूस जैसे तमगे भी आसानी से थमा दिए जाते हैं।

केकी परंपरागत रूप से स्त्रियों के ही माने जाने वाले कार्यों के खिलाफ थी। वह मानती थी कि सभी कार्य स्त्री और पुरुष दोनों कर सकते हैं। इसलिए वह परमजीत से कहती है "मैंने देखा है, तुम्हारी औरतों को रसोई में रहने का बड़ा शौक होता है। वे मुँह अँधेरे से आधी रात तक रसोई में ही रहती हैं। पकते खाने की गंध से उन्हें उबकाई नहीं आती?"[50] वास्तव में केकी स्त्री-पुरुष के लिए अलग-अलग कार्य व्यवहार की पक्षधर नहीं थी। इसलिए स्त्रियों के सन्दर्भ में वह रसोई से बाहर भी एक बड़ी दुनिया की ओर इशारा करती है।

ऐसा माना जाता है कि परिवार की एक स्त्री शिक्षित है तो पूरे परिवार को शिक्षित करने में समर्थ हो सकती है। किन्तु भारतीय समाज व्यवस्था में शिक्षा के सन्दर्भ में भी दोहरे मानदंड हैं। चूँकि परिवार का मुखिया पुरुष होता है इसलिए पुरुष संरक्षणकर्ता के चाहने पर ही स्त्री शिक्षा प्राप्त कर सकती है। मध्यवर्ग की स्त्री हो या निम्नवर्ग की, लगभग सभी में यह स्थिति समान रूप से देखी जा सकती है। केकी जो एक सम्पन्न परिवार से ताल्लुक रखती है उसकी शिक्षा के सन्दर्भ में बेहराम (नौकर) कहता है "उनको पढ़ाया नहीं साहब, वह किधर जाती? अन्दर-ही-अन्दर कुढ़ती थी। फिर उनको दौरे आने लगे। कितने ही साल केकी साहब बीमार रहीं।"[51] केकी तो सम्पन्न परिवार से ताल्लुक रखने के साथ-साथ हमेशा शहर में रही थी किन्तु परमजीत की बहन बिम्मा गाँव में पैदा हुई थी और वहीं पली-बढ़ी थी। परमजीत की तुलना में बिम्मा की शिक्षा को न तो कोई विशेष महत्व दिया गया और न ही जरूरी समझा गया उसका "सिर जुओं से भरा था और हाथ मसाले की गंध से। माँ के बच्चे पालते-पालते वह बुजुर्ग हो चली थी। उसे सभी के दूध का, स्कूल का समय याद रहता और सुबह वह सारे बच्चों के कपड़े ढूँढ़कर देती थी। यह बात और थी कि वह पढ़ने में निकम्मी थी। उसका स्कूल जाना अक्सर किसी भी कारण से रुक जाता था - बच्चे के दाँत निकलने से लेकर घर-भर के पाजामे सीने की जरूरत तक। पर परमजीत के माँ-बाप ने इस बात की कभी फिक्र नहीं की।"[52] यह स्थिति केवल बिम्मा की नहीं थी बल्कि "गली में लड़कियां अक्सर बिम्मा जैसी होतीं, पढ़ने में पोंगी, शकल से सुस्त और कपड़ों में बेसलीका। वे अक्सर माँओं द्वारा पैदा किये गये बच्चे पालती रहतीं और घर का काम करतीं। बड़ी छोटी उम्र से ही उन्हें पता चल जाता कि उनकी शादी समय आने पर हो ही जायेगी और वे दिन-रात अपने घर के सपनों में पड़कर मुँह पर कील-मुंहासे निकाल लेतीं। ये लड़कियां अक्सर सिर्फ मैट्रिक तक मुश्किल से पढ़तीं और फिर मैट्रिक पास-फेल होने से लेकर वर मिलनेतक उनकी उम्र सोलह ही रह जाती।"[53] आज भी भारतीय समाज में स्त्री शिक्षा को, स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्माण और बेहतर भविष्य से इतर

एक बेहतर वर प्राप्ति से जोड़ दिया जाता है। शिक्षा जीवन का सबसे महत्वपूर्ण मूल्य है इसके बिना एक बेहतर परिवार और समाज का निर्माण संभव नहीं है। आज पहले की अपेक्षा स्त्री शिक्षा का स्तर बड़ा है किन्तु शिक्षा देना ही काफी नहीं है बल्कि शिक्षा को स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्माण में साधक के रूप में देखा जाना आवश्यक है तभी स्त्री शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य पूरा होगा।

'बेघर' उपन्यास में विभिन्न प्रकार की स्त्री छवियाँ और उनके जीवनानुभव हैं। पढ़ी-लिखी आर्थिक रूप से स्वतंत्र स्त्री का चित्रण भी है और पूरी तरह से घरेलू स्त्री का भी। कम पढ़ी-लिखी, किन्तु पूरा जीवन अकेले अपने दम पर जीने वाली स्त्री का चित्रण भी है। तात्पर्य यह कि ये विविध स्त्री छवियाँ अपने जीवन संघर्ष द्वारा स्त्री मुक्ति के अनेक प्रश्नों को उजागर करती हैं। कौमार्य का मिथक और उसके दुष्परिणाम को प्रमुखता से प्रस्तुत करने के साथ ही स्त्री शिक्षा, स्त्री को वस्तु के रूप में देखा जाना, स्त्री पुरुष के बीच कार्य विभाजन, अकेली स्त्री का जीवन संघर्ष जैसे तमाम प्रश्नों को स्त्री मुक्ति के सन्दर्भ में उठाया गया है, और विस्तृत फलक पर विवेचन-विश्लेषण किया गया है।

आपका बंटी- 'आपका बंटी' उपन्यास की केंद्रीय स्त्री चरित्र शकुन है। सहसा देखने पर परिस्थितियों का शिकार बना बंटी ही इस उपन्यास के केंद्रीय पात्र के रूप में उभरकर सामने आता है। किन्तु ध्यान से देखने पर सम्पूर्ण कथासूत्र का हर सिरा शकुन पर ही आकर टिकता है। निर्मला जैन का यह कथन सही जान पड़ता है कि "इस पूरे उपन्यास की बुनावट में स्थितियों से ज्यादा शकुन की वे मनःस्थितियाँ महत्वपूर्ण हैं जो इन स्थितियों को जोड़ती बनाती चलती हैं।"[54]

शकुन तलाकशुदा है। हमारी समाज व्यवस्था की बुनावट कुछ ऐसी है कि उसमें एक अकेली स्त्री का जीवन निर्वाह संघर्षों और जटिलताओं से भरा हुआ है। किन्तु शकुन दृढ़-निश्चयों वाली और हिम्मती स्त्री है। वकील चाचा शकुन से कहते हैं कि "तुममें क्या नहीं

है ? बुद्धिमान हो, पढ़ी-लिखी हो, प्रिंसिपल हो, सारे शहर में तुम्हारा मान-सम्मान है...परिस्थितियों ने चाहे तुम्हें जितना तोड़ा हो, समय को तुमने अपने ऊपर हाथ रखने नहीं दिया। रियली यू सीम टू बी एज-प्रूफ।"[55] शकुन बंटी का पालन-पोषण अकेली माँ के रूप में बखूबी निभाती है। इसलिए वह कहती है "सात साल से मैं अकेली ही तो बंटी को पाल रही हूँ। उसका हित-अहित मैं दूसरों से ज्यादा जानती हूँ।"[56]

शकुन और अजय के चरित्र का एक प्रमुख बिन्दु उनमें अहं भाव की प्रधानता है और इसी अहं के अनवरत टकराव की अंतिम परिणति तलाक के रूप में सामने आती है। किन्तु क्या इस अंतिम छोर पर पहुँचकर शकुन को मुक्ति का एहसास प्राप्त होता है ? इस सन्दर्भ में शकुन की आत्मस्वीकृति विचारणीय है कि "एक अध्याय था, जिसे समाप्त होना था और वह हो गया। दस वर्ष का यह विवाहित जीवन - एक अँधेरी सुरंग में चलते चले जाने की अनुभूति से भिन्न न था। आज जैसे एकाएक वह उसके अंतिम छोर पर आ गई है। पर आ पहुँचने का संतोष भी तो नहीं है, ढकेल दिए जाने की विवश कचोट-भर है। पर कैसा है यह छोर ? न प्रकाश, न वह खुलापन, न मुक्ति का एहसास। लगता है जैसे इस सुरंग ने उसे एक दूसरी सुरंग के मुहाने पर छोड़ दिया है - फिर एक और यात्रा - वैसा ही अन्धकार, वैसा ही अकेलापन।"[57]

शकुन प्रतिक्रियावादी है। वह अपने साथ होने वाली घटनाओं की मूक दर्शक नहीं बनी रहती बल्कि समय और परिस्थिति के अनुकूल प्रतिक्रिया करती है। अजय और उसके बीच प्रतिक्रियाओं का दौर ही अधिक था। वास्तव में "सात वर्षों में विभागाध्यक्ष से प्रिंसिपल हो जाने के पीछे भी कहीं अपने बढ़ाने से ज्यादा अजय को गिराने की आकांक्षा ही थी। वह स्वयं कभी अपना लक्ष्य रही ही नहीं। एक अदृश्य अनजान-सी चुनौती थी, जिसे उसने हर समय अपने सामने हवा में लटकता हुआ महसूस किया था और जैसे उसका मुकाबला करते-करते, उससे जूझते-जूझते ही वह आगे बढ़ती चली गई थी।"[58] लेकिन अजय से इस

मुकाबले में वह स्वयं को ही मानसिक यातना देती रही। ऐसे अनजान निरर्थक मुकाबले से उसे कोई उपलब्धि नहीं मिली। जो मिलनी भी नहीं थी। बल्कि उसे अपना ही भविष्य धुँधला और एकाकी नजर आने लगा।

तलाक के बाद वकील चाचा ही वह पहले व्यक्ति हैं जो स्थान-स्थान पर शकुन को जीवन में आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं। वह उसे घिर आई दीवारों और बंद हो रहे रास्तों के मध्य मुक्ति का मार्ग दिखाते हैं। वह कहते हैं "पर मैं चाहता हूँ कि अब तुम अपने बारे में सोचना शुरू करो, बिल्कुल नए ढंग से, एकदम व्यावहारिक स्तर पर।"[59] वह दो टूक ढंग से साफ शब्दों में समझाते हुए कहते हैं कि "इतना जरूर कहूँगा कि तुम केवल बंटी की माँ ही नहीं हो, इसलिए केवल बंटी की माँ की तरह ही मत जियो, शकुन की तरह भी जियो।"[60] शकुन पढ़ी-लिखी है। आधुनिक समाजबोध से अवगत है और परिस्थितियों के रुख को समझने में पूरी तरह सक्षम है इसीलिए वकील चाचा उससे कहते हैं "ठीक है, जो कुछ भी हुआ, वह बहुत सुखद नहीं है, पर वह अंतिम भी नहीं है। कम से कम तुम जैसी औरत के लिए वह अंतिम नहीं हो सकता, नहीं होना चाहिए।"[61] तुम जैसी औरत से तात्पर्य पढ़ी-लिखी, आर्थिक रूप से स्वतंत्र स्त्री से है। शकुन जैसी स्त्रियाँ यदि अपने विकास का मार्ग स्वयं प्रशस्त नहीं करेंगी, स्त्री के लिए निर्धारित परंपरागत रूढ़ अवधारणाओं को नहीं तोड़ेंगी तो स्त्री की मुक्ति कभी संभव नहीं है। इसीलिए वकील चाचा शकुन से कहते हैं कि "अगर अजय अपनी जिंदगी की नई शुरुआत कर सकता है तो तुम क्यों नहीं कर सकती?"[62] वह निरंतर शकुन को रूढ़ियों और वर्जनाओं की बेड़ियाँ तोड़ने को प्रेरित करते रहते हैं।

शकुन अपने अस्तित्व की सार्थकता का तर्क खोजने का प्रयास अवश्य करती है, जो आधुनिक विचारों से युक्त स्त्री का प्रमुख लक्षण है। शकुन अपनी इच्छाओं को, अपने अस्तित्व को महसूस करना चाहती है। इसीलिए वह सोचती है कि "सब लोग केवल उससे

चाहते ही हैं और वह उनकी चाहनाओं को पूरती रहे यही एकमात्र रास्ता है उसके लिए। बस, वह कुछ न चाहे। जहाँ जाना चाहती है, वहीं गलत क्यों हो जाता है ? ऐसा अनुचित असंभव भी तो उसने कुछ नहीं चाहा। एक सहज-सीधी जिंदगी, जिसमें रहकर वह कम से कम यह तो महसूस कर सके कि वह जिन्दा है। केवल सूरज डूब-उगकर ही उसे रात होने और बीतने का एहसास न कराए, उसके अतिरिक्त भी 'कुछ' हो।"[63]

शकुन भी अजय (पुरुष) की तरह जीवन में आगे बढ़ने का फैसला करती है। वह डॉ. जोशी के साथ विवाह करने का निर्णय लेती है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या समाज उसके इस फैसले में सहयोग देता है? क्या एक स्त्री के पुनर्विवाह को आसानी से मान्यता मिल पाती है? शायद नहीं। यदि ऐसा होता तो शकुन को तमाम लोगों की आपत्तियों का सामना नहीं करना पड़ता। उसे अपनी नौकरी छोड़ने तक पर विचार न करना पड़ता। किन्तु स्त्री को अपने निर्णयों को वैध ठहराने के लिए बहुत धैर्य और सबल मानसिक स्थिति को कायम रखना होगा। डॉ. जोशी द्वारा शकुन को समझाया गया पाठ विचारणीय है कि "आज मैनेजर को आपत्ति हुई तो तुमने नौकरी छोड़ दी। कल शहर को आपत्ति होगी तो तुम शहर छोड़ने को कहोगी। और जरूर होगी। छोटी जगह है...ऐसी बातें लोग आसानी से पचा नहीं पाते हैं। पर इस तरह कमजोर होने से कहीं काम चलता है, चल सकता है ? और सच पूछो तो आपत्ति बाहर नहीं होती, कहीं मन के भीतर ही होती है। तभी तो हमें ये छोटी-छोटी बातें परेशान कर देती हैं। वरना इन आपत्तियों पर एक मिनट भी जाया करना मैं उचित नहीं समझता। इन लोगों को क्या हक़ है तुम्हारे व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करने का ?"[62] वास्तव में स्त्री को स्वयं अपने निर्णयों पर विश्वास करना होगा, तभी वह समाज की निर्मम आलोचना की समझ पायेगी।

एक तलाकशुदा स्त्री के लिए पुनर्विवाह करने में सफल होना उसका स्वयं पर, समाज निर्धारित मानदंडों पर विजय का द्योतक है। निःसंदेह विवाह सूत्र को पति-पत्नी दोनों की

समान भागीदारी ही सफल बना सकती है। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या हमारी समाज व्यवस्था में समान भागीदारी मौजूद है? डॉ. जोशी से विवाह के पश्चात् क्या शकुन स्वयं को एक व्यक्तित्व के रूप में सफल पाती है? "विवाह संस्था के भीतर क्या डॉ. जोशी उस पर अपना वर्चस्व कायम नहीं रखते ? बंटी क्यों महसूस करता है कि ममी डॉ. जोशी की उपस्थिति में सहमी-सहमी रहती है? वस्तुतः शकुन का व्यक्तित्व परंपरा और आधुनिकता के सूत्रों से गढ़ा गया है।"[65] परंपरा और आधुनिकता का सहज गठजोड़ होते हुए भी "शकुन नाम की औरत के संबंधों की सामजिक सीमा है - बेटी, बहन, पत्नी, प्रेमिका या माँ होना, इससे बाहर निकलकर व्यक्ति या व्यक्तित्व होना 'खतरा' है...'अपराध' है।"[66]

लेखिका ने बेहद संतुलित रवैया अपनाते हुए स्त्री-पुरुष संबंधों का वर्णन किया है। एक तरफअजय जैसा पुरुष चरित्र है जो अपने अहं को अपने जीवन में प्रमुखता देते हुए शकुन को हमेशा के लिए दरकिनार कर देता है। तो दूसरी तरफ डॉ. जोशी और वकील चाचा जैसे पुरुष पात्र भी हैं जो शकुन को एक 'व्यक्ति' के रूप में, मनुष्य जाति के एक सबल प्रतिनिधि के रूप में देखते हैं, उसे स्वयं अपनी मुक्ति का मार्ग तलाशने की प्रेरणा देते हैं। तथाकथित आधुनिक स्त्री की विडंबना यह है कि वह एक छोर पर आधुनिक बनने की होड़ में सबसे आगे निकल जाना चाहती है तो दूसरे छोर पर परंपरा के सूत्र को भी कस कर पकड़े रखना चाहती है। शकुन एक ऐसा ही दुविधाग्रस्त द्वंद्वात्मक चरित्र है। यह उपन्यास " 'पराजित' या 'समर्पित' शकुन के हारने, थकने, टूटने, बिखरने और खोने या खोते चले जाने की कहानी है, जिसका दुष्परिणाम सिर्फ बंटी ही नहीं, वह स्वयं भी भुगतती है। वह न बंटी की माँ की तरह ही जी पाती है और न 'स्वतंत्र व्यक्तित्व' वाली शकुन की तरह। वह जिस हथियार (बंटी) से अजय को यातना देना चाहती है और 'क्रूर-से संतोष' की कल्पना करती है, क्या वही दुधारी हथियार उसे ही घायल नहीं करता? पहले अजय उसे 'गलत और अपराधी' सिद्ध करता रहा और बाद में ठीक उसी तरह बंटी। 'गलत होने के अपराध-बोध' को झेलती शकुन का अपराध क्या है? 'स्वतंत्र' और 'डोमिनेटिंग' होना या

औरत होना? ममतामयी माँ भी बनी रहती तो भी क्या हो जाता?"[67] शकुन भारतीय समाज व्यवस्था में स्त्री के द्वंद्वात्मक चरित्र का प्रतिनिधित्व करती है। स्त्री की वास्तविक मुक्ति का मार्ग तभी प्रशस्त हो सकता है जब वह बेटी, पत्नी या माँ होने मात्र से इतर सबसे पहले स्वयं को एक 'व्यक्ति' के रूप में जाने, अपने स्वतंत्र अस्तित्व की महत्ता को पहचाने। अन्यथा शकुन की भाँति ही आधुनिकता और परंपरा के द्वंद्व का शिकार बनती रहेगी।

अनारो- मंजुल भगत के उपन्यास 'अनारो' की प्रमुख स्त्री चरित्र स्वयं अनारो ही है। 'अनारो' झोपड़पट्टी में रहने वाली एक स्त्री की कहानी है। मजदूर जीवन स्थितियों एवं उनके दुःख-दर्द का संताप अनारो में देखा जा सकता है। अनारो संपन्न घरों में चौका-बर्तन का काम करती है, यही उसके और उसके परिवार की आजीविका का साधन भी है। अनारो आत्मनिर्भर है। मुक्ति के प्रश्न के रूप में हमेशा स्त्री की आत्मनिर्भरता की बात की जाती रही है। इस दृष्टि से अनारो एक आत्मनिर्भर, अपने पति और परिवार का पालन-पोषण करने वाली स्त्री है। अनारो का पति नंदलाल गंजी के विवाह की दावत में सबके सामने कहता है कि "मैं आज मान गया अपनी औरत को। वह मेरी घरवाली नहीं यारो, मेरा बड़ा भाई है - समझे, बढ़ा भाई ! भाई - जैसा सहारा दे दिया मुझे। आज सबके सामने नाक ऊँची कर दी। मैं वहां परदेश में पाँच बरस खटता रहता तो भी इत्ती रकम न जोड़ पाता, जित्ती इसने इकली ने चार दिन में यहाँ खड़ी कर ली।"[68] अनारो के इस परिश्रमी रूप का नंदलाल भी सम्मान करता है।

अनारो आत्मसम्मानी होने के साथ - साथ स्वाभिमानी एवं वात्सल्यमयी स्त्री भी है। अपनी बेटी गंजी की शादी के समय उसका स्वाभिमानी रूप सामने आता है। गंजी की शादी विवाह संस्था द्वारा करवाए जाने के प्रस्ताव के विरुद्ध अनारो कहती है कि "चंदे-दान पर अनारो की बेटी का ब्याह? यही कराना होता तो दोनों बच्चों के हाथों में भीख का कटोरा

थमाकर न निकाल देती ! यों अपनी हड्डियों का चूरा बनाकर न पालती उन्हें। तुम करवा लोगी अपनी बेटी का ब्याह इस तरह? गंजी कोई अनाथ है, कोई कानी-लूली है ? चौबारे की ईंट नहीं, तो नाली का पत्थर भी नहीं है अनारो की बेटी।"[69] अनारो गोदान के होरी की तरह अपनी 'मरजाद' के लिए कुछ भी करने के लिए तैयार रहती है। गंजी की शादी में वह अपनी हैसियत से ज्यादा खर्च करती है।

"सामान्य भारतीय औरत के दिल की बस यही चाह होती है- पति का एकनिष्ठ प्यार और उस पर उसका एकाधिकार, बच्चे और उनकी अपनी समाज-बिरादरी में सोत्साह रिश्ते-नाते। वह उसके लिए हजार जतन करती है, किसी भी मेहनत-मशक्कत की कीमत पर क्योंकि वहीं उसकी 'इज्जत' है।"[70] अनारो अपने पति के प्यार की आकांक्षी है। "अनारो का मन आज पहले से ही ऐसा दुखी हो रहा था कि बस, कोई दो शब्द प्यार के उससे बोल ले, तो वह जी जाय। वह खिंची चली आई नंदलाल के पास। एक सहारा...कोई थामने वाला...दो बोल प्यार के...एक धूल-भरी राह पे....थकी-हारी अनारो, छइयां तले बैठकर, पेड़ से टेक लगा रही है...नंदलाल के रूखे, दुराव-भरे बोल नही हैं ये...वह तो उसे सहारा दे रहा है...कैसा मीठा हो गया है? चाहिए...अनारो को भी प्यार चाहिए...छाँव चाहिए...नंदलाल, तू मीठा बना रहे...अपना बना रहे तो भी जी जाएगी अनारो...झेल जाएगी जिनगानी को...भूख-प्यास को भी पी जाएगी....बीमारी-हारी को भी जीत लेगी..."[71] लेकिन उसे अपने पति से कभी प्यार नहीं मिला। नंदलाल ने कभी उसे मारकीन का टुकड़ा भी लाकर नहीं दिया। अनारो ने फिर भी इसका बुरा नहीं माना। वह संस्कारों में बंधी स्त्री है। वह मानती है कि नंदलाल कितना भी बुरा है पर उसका पति है। यही उसकी नियति है।

अनारो उपन्यास में 'अनारो' संस्कार में बंधी, पति और परिवार के लिए पूरे समर्पण भाव से सामने खड़ी दिखाई देती है। पुरुष समाज के शोषण को हमेशा खुशी-खुशी तैयार रहती है। परंपरागत रूढ़ियों से बाहर निकलने को तैयार नहीं है। "अनारो के माध्यम से

लेखिका ने हमारे शहर के निम्न स्तर के लोगों में व्याप्त विषमताओं, समाज की मिथ्या मान्यताओं आदि पर प्रकाश डाला है। अनारो अपने पति के अत्याचार, दुर्भाग्य और गंदे वातावरण से लड़ती हुई अंत तक जूझती रहती है। अनारो एक दुखी और असहाय नारी है पर उसका स्वाभिमान मरा नहीं है। परिस्थिति की हीनता या विवशता के कारण उसके चरित्र पर कोई आँच नहीं आने देती।"[72] इस दृष्टि से अनारो एक महत्वपूर्ण उपन्यास है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृ. 320-321
2. वही, पृ. 342
3. वही,पृ. 342
4. वही, पृ. 341
5. आधुनिक लेखिकाओं के नगरीय परिवेश के उपन्यास, डॉ. पारूकान्त देसाई, पृ. 80
6. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृ.358
7. आधुनिक लेखिकाओं के नगरीय परिवेश के उपन्यास, डॉ. पारूकान्त देसाई, पृ. 23
8. मित्रो मरजानी, कृष्णा सोबती, पृ. 12
9. वही, पृ. 12
10. वही, पृ. 20
11. वही, पृ. 72
12. बेघर, ममता कालिया, पृ. 72
13. आधुनिक लेखिकाओं के नगरीय परिवेश के उपन्यास, डॉ. पारूकान्त देसाई, पृ. 50
14. बेघर, ममता कालिया, पृ. 63
15. वही, पृ. 63
16. पहल, 76, जनवरी - फरवरी - मार्च, 2004, सं ज्ञानरंजन, लेख - 'घर प्रेम और मुक्ति का त्रिकोण' - कृष्ण मोहन, पृ. 214-215
17. बेघर, ममता कालिया, पृ. 18-19
18. वही, पृ. 103
19. वही, पृ. 103
20. आपका बंटी, मन्नू भंडारी, पृ. 31-32
21. वही, पृ. 31
22. वही, पृ. 108-109
23. वही, पृ. 104-105

24. वही, पृ. 104
25. हंस, अक्टूबर, 1996, सं राजेन्द्र यादव, लेख - 'आपका बंटी असुरक्षा का आतंक'- अरविन्द जैन, पृ. 85
26. अनारो, मंजुल भगत, पृ. 8-9
27. वही, पृ. 52
28. वही, पृ. 90
29. वही, पृ.14
30. वही, पृ. 30
31. नारी: अंतर्दर्पण व समाज, सं. चंद्रमोहन अग्रवाल, लेख - 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में नारी के बदलते संदर्भ' - शीला रजवार, पृ. 297
32. मित्रो मरजानी, कृष्णा सोबती, पृ. 20
33. औरों के बहाने, राजेन्द्र यादव, पृ. 41-42
34. मित्रो मरजानी, कृष्णा सोबती, पृ. 36
35. वही, पृ. 37
36. वही, पृ. 37
37. वही, पृ. 75
38. वही, पृ. 40
39. वही, पृ. 49
40. मित्रो मरजानी, फ्लैप से उद्धृत, विश्वनाथ त्रिपाठी का कथन - 'कुछ कहानियाँ: कुछ विचार' से
41. समकालीन हिन्दी आलोचना, सं. सतीश जमाली, पृ. 160
42. बेघर, ममता कालिया, पृ. 78
43. औरत: अस्तित्व और अस्मिता, अरविन्द जैन, पृ. 42
44. आधुनिक लेखिकाओं के नगरीय-परिवेश के उपन्यास, डॉ. पारूकान्त देसाई, पृ. 51
45. बेघर, ममता कालिया, पृ. 79

46. औरत: अस्तित्व और अस्मिता, अरविन्द जैन, पृ. 43
47. बेघर, ममता कालिया, पृ. 142
48. पहल, 76, जनवरी, फरवरी, मार्च - 2004, सं. ज्ञानरंजन, लेख - 'घर प्रेम और मुक्ति का त्रिकोण - कृष्ण मोहन, पृ. 215
49. बेघर, ममता कालिया, पृ.109
50. वही, पृ. 35
51. बेघर, ममता कालिया, पृ. 109
52. वही, पृ. 10
53. वही, पृ. 65-66
54. आधुनिक हिंदी उपन्यास, सं. भीष्म साहनी, रामजी मिश्र, भगवती प्रसाद निदारिया, लेख- 'आपका बंटी' - डॉ. निर्मला जैन, पृ. 284
55. आपका बंटी, मन्नू भण्डारी, पृ. 39
56. वही, पृ. 34
57. वही, पृ. 33
58. वही, पृ. 32
59. वही, पृ. 38
60. वही, पृ. 38
61. वही, पृ. 38
62. वही, पृ. 38
63. वही, पृ. 169
64. वही, पृ. 105
65. उत्तरशती के उपन्यासों में स्त्री, शशिकला त्रिपाठी, पृ. 20
66. औरत : अस्तित्व और अस्मिता, अरविन्द जैन, पृ. 80
67. हंस, अक्टूबर, 1996, सं. राजेन्द्र यादव, लेख - 'आपका बंटी असुरक्षा का आतंक' - अरविन्द जैन, पृ. 83

68. अनारो, मंजुल भगत, पृ. 101

69. अनारो- मंजुल भगत, पृ. 53

70. उपन्यास की शर्त, जगदीश नारायण श्रीवास्तव, पृ. 161

71. अनारो, मंजुल भगत, पृ. 76

72. आधुनिक लेखिकाओं के नगरीय-परिवेश के उपन्यास, डॉ. पारुकांत देसाई, पृ. 81-82

चतुर्थ अध्याय : महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री चेतना (1980 से सदी के अंत तक)

1980 के आस-पास स्त्री लेखन ने एक नई करवट ली। अब लेखिकाओं ने स्त्रियों से सम्बंधित एक-एक मुद्दे पर गंभीरता से विचार करना प्रारम्भ कर दिया था। यह 'विमर्श' का पहला दौर था। 1986 में राजेंद्र यादव ने 'हंस' पत्रिका का प्रकाशन दुबारा प्रारम्भ किया और 'स्त्री लेखन' को 'विमर्श' से जोड़कर एक नई धार प्रदान की। 1991 के बाद से भूमंडलीकरण, पूँजीवाद और उपभोक्तावादी संस्कृति, बाबरी ध्वंस से उपजे साम्प्रदायिक असंतोष ने एक बार पुनः पूरे राजनीतिक और सामाजिक परिदृश्य को बदलकर रख दिया। जिसका प्रभाव 'छिन्नमस्ता' और 'आंवा' में बखूबी देखा जा सकता है। उस दौर में लेखिकाओं ने पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था के तहत विधवा पुनर्विवाह, आर्थिक सक्षमता, बलात्कार, स्त्री शिक्षा, दैहिक व यौन शोषण के विविध रूपों को अपने उपन्यासों में सशक्त अभिव्यक्ति दी और उनसे मुक्ति के तर्कसंगत मार्ग भी सुझाने का प्रयास किया है। कहा जा सकता है कि इन 20 वर्षों में स्त्री लेखन को एक पुख्ता जमीन मिली है। राजी सेठ के उपन्यास 'तत्-सम' (1983 ई.), नासिरा शर्मा कृत 'शाल्मली' (1987 ई.), प्रभा खेतान कृत 'छिन्नमस्ता' (1993 ई.), गीतांजलीश्री कृत 'माई' (1993 ई.), मृदुला गर्ग कृत 'कठगुलाब' (1996 ई.) और चित्रा मुद्गल कृत 'आंवा' (1999 ई.) उपन्यासों में स्त्री जीवन से सम्बंधित विभिन्न मुद्दों को देखा जा सकता है।

प्रमुख उपन्यास

तत्-सम - तत्-सम उपन्यास में राजी सेठ ने आधुनिक स्त्री के पुनर्विवाह की समस्या को उठाया है। वसुधा चौधरी के पति निखिल की एक कार दुर्घटना में मृत्यु हो जाती है। वसुधा वापस अपने मायके में आकर रहने लगती है। जहां उसके भैया-भाभी उसके प्रति बेहद उदार

हैं। वे स्वतंत्र विचारों के हैं, इसीलिए चाहते हैं कि वसुधा का पुनर्विवाह हो जाए। वे इसके लिए सतत् प्रयत्नशील भी रहते हैं। वसुधा आत्मनिर्भर है। वह लखनऊ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की प्राध्यापिका है। वस्तुतः वर्तमान समाज में पुनर्विवाह अब बड़ी विकट समस्या नहीं रह गई है। लेकिन व्यावहारिक जगत् के अतिरिक्त व्यक्ति का एक आंतरिक संसार भी होता है। जहां समझ के, साहचर्य के, संबंधों के तंतु फटाफट बनाए और बिगाड़े नहीं जा सकते हैं। वसुधा के लिए भी पुनर्विवाह के बारे में सोचना एक गहन मनोवैज्ञानिक द्वंद्व से गुजरना ही था। वास्तव में "एक संवेदनशील स्त्री के लिए द्वितीय सहयात्री या पति के चुनाव का प्रश्न मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उतना भी आसान नहीं है। राजी सेठ ने पुनर्विवाह की समस्या को इसी मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।"[1]

निखिल के साथ वसुधा का गहरा भावनात्मक लगाव था। अचानक हुई उसकी मृत्यु के बाद वह अपनी इच्छाओं-आकांक्षाओं को अपने भीतर समेट लेती है। भैया द्वारा विवाह हेतु दिए गए विज्ञापन के कारण आने वाले विवाहेच्छु पुरुषों से वह अनिच्छा से ही सही, पर मिल लेती है। तात्पर्य यह कि वह अपने जीवन के बारे में कोई निर्णय ही नहीं लेना चाहती है। वह अपने अतीत (निखिल) को ही जीने का जरिया बना लेना चाहती है, लेकिन तभी उसकी भेंट विवेक से होती है। जो उसी की भांति अपनी प्रिया शीरीन को खो देने के दुःख से पीड़ित है। अतः दोनों के दुःख समान हैं, इस प्रकार वे दोनों तत्-सम हैं। यह जानकर वसुधा उसके प्रति लगाव महसूस करने लगती है। जिसे वह विवेक के सम्मुख परोक्ष रूप से जाहिर भी करती है लेकिन विवेक, वसुधा के तमाम तर्क-वितर्क और कोशिशों के बावजूद अपनी खोल से बाहर नहीं निकलना चाहता है। वसुधा थक-हारकर अपनी दुनिया में वापस लौट आने का फैसला कर लेती है। उदास वसुधा दक्षिण भारत की यात्रा पर निकलती है। जहां तबियत बिगड़ जाने के कारण एक नितांत अपरिचित-अनजान आनंद नाम का व्यक्ति बिल्कुल निःस्वार्थ भाव से उसकी मदद करता है। वह न केवल वसुधा की

मानसिक बैचेनी को समझ पाता है बल्कि उसे इस बात के लिए प्रोत्साहित भी करता है कि वह अपने जीवन का हर फैसला पूर्णत: अपनी समझ और दृष्टिकोण से करे। आनंद का भी दुःख भरा अतीत रहा है। वह अपनी प्रेमिका से विवाह नहीं कर पाता है, लेकिन वह विवेक की भांति अतीत से जकड़ा हुआ और पलायनवादी नहीं है। वसुधा आनंद से भावनात्मक रूप से जुड़ जाती है और विवाह करना चाहती है। वह जब वापस घर (लखनऊ) लौटती है तो विवेक के तीन पत्र उसे मिलते हैं, जिनसे उसे ज्ञात होता है कि विवेक अपनी खोल से, देर से ही सही पर अब बाहर निकल चुका है और वसुधा से विवाह करने का आग्रह कर रहा है। वसुधा आनंद और विवेक के बीच चुनाव को लेकर बेहद मानसिक उलझन में घिर जाती है, लेकिन अंततः चुनाव आनंद का ही करती है। वसुधा के वैधव्य से लेकर पुनर्विवाह तक की पूरी कथा "मुख्यतः वसुधा के अवलोकन बिन्दु से प्रस्तुत की गयी है, इस कारण वह अनुभूति की निजता से सराबोर है। बीच-बीच में आने वाले वर्णन, दृश्य और संवाद भी वसुधा की चेतना में ही घटित होते दिखाई देते हैं। लेखिका ने बड़े कौशल से ऐतिहासिक काल के स्थान पर मनोवैज्ञानिक काल का प्रयोग किया है। उपन्यास की भाषा भी वसुधा की चेतना का अंग बनकर एक अनोखी संवेदनशीलता से भर गई है।"[2] वसुधा की मानसिक उलझनों को जीवन के प्रति दार्शनिक तर्कों के जरिए जिस प्रकार सुलझाने का प्रयास लेखिका ने किया है, वह उपन्यास की एक बड़ी उपलब्धि है।

शाल्मली - नासिरा शर्मा का उपन्यास 'शाल्मली' सन् 1987 ई. में प्रकाशित हुआ था ।इस उपन्यास की कहानी हिन्दू परिवार पर केन्द्रित है। शाल्मली अपने माता-पिता की इकलौती संतान है। वह पढ़ी-लिखी संस्कारयुक्त और आर्थिक रूप से सम्पन्न है। वह ऐसे माहौल में पली-बढ़ी है जहां वह हर छोटे-बड़े मुद्दे पर अपने पिता से विचार-विमर्श करती है। चीजों को तर्क की कसौटी पर कसने के बाद ही किसी निष्कर्ष पर पहुंचती है। माता-पिता शाल्मली का विवाह नरेश से कर देते हैं। नरेश रूढ़ परम्पराओं से ग्रस्त एक ऐसा पति साबित होता है जो शाल्मली को अपनी दकियानूस सोच के मुताबिक नीजि संपत्ति के रूप में देखता है।

और उसके जीवन को अपने अनुसार नियंत्रित करना चाहता है। वस्तुतः "शाल्मली में आधुनिक परिस्थितियों में पति-पत्नी की समस्या को एक नए कोण से उभारने की कोशिश की गयी है। परम्परागत हिन्दू समाज में पत्नी का पति से कोई अलग व्यक्तित्व मान्य नहीं है। मनु द्वारा निर्मित और सदियों के व्यवहार से पुष्ट हिन्दू नारी संहिता ने आज भी नारी को अपनी जकड़न से मुक्त होने नहीं दिया है। समस्त संवैधानिक अधिकारों के बावजूद भारतीय स्त्री पारिवारिक और सामाजिक शोषण की शिकार बनी हुई है। औसत पति आज भी पत्नी को 'अपनी चीज' समझता है और पत्नी पति की अनुगता होना अपना धर्म मानती है। दाम्पत्य जीवन का यह संतुलन तब बिगड़ता है जब स्त्री अपने पति की तुलना में अधिक या समान योग्य और आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हो जाती है। नासिरा शर्मा ने इन्हीं परिस्थितियों में शाल्मली और नरेश के दाम्पत्य जीवन की कड़ुवाहट और घुटन का, नरेश की कमीनी मानसिकता और हरकतों तथा शाल्मली की ठंडी प्रतिक्रियाओं और पत्नी के परम्परागत समर्पण भाव का अंकन किया है।"[3] शाल्मली न तो नरेश से तलाक लेती है, न ही उससे विचार-विमर्श या तर्क-वितर्क करती है। शाल्मली और नरेश एक छत के नीचे रहते हुए भी अपनी अलग-अलग दुनिया में कैद नजर आते हैं। नासिरा जी का यह उपन्यास रूढ़ परम्पराओं से ग्रस्त स्वार्थी और कुंठाग्रस्त पति के साथ दाम्पत्य जीवन को अंत तक निभाने का निर्णय लेने वाली आधुनिक स्त्री के मानसिक ऊहापोह और संघर्ष का वर्णन करता है।

छिन्नमस्ता- प्रभा खेतान का आत्मकथात्मक उपन्यास 'छिन्नमस्ता' (1993 ई.) पितृसत्तात्मक समाज में एक स्त्री के शोषण और उत्पीड़न की दास्तां बयां करता है। प्रिया का जन्म एक सम्पन्न मारवाड़ी परिवार में हुआ था। वह छह भाई-बहनों के बीच पली-बढ़ी थी, लेकिन शुरू से ही उसे अपनी माँ का पूरा स्नेह कभी नहीं मिला। "बचपन से ही भेदभाव और उपेक्षा की शिकार साधारण शक्ल-सूरत और सामान्य बुद्धि की प्रिया परिवार की 'सुरक्षित' चौहद्दी के भीतर ही यौन शोषण की शिकार भी होती है और तदुपरांत प्रेम

और भावनात्मक सुरक्षा की तलाश में उन तमाम आघातों से दो-चार होती है जिनसे संभवतः हर स्त्री को गुजरना होता है। अपने जड़ संस्कारों में जकड़ा पति भी उसे मानवोचित सम्मान नहीं दे पाता।"[4] प्रिया आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने के लिए अपना व्यवसाय शुरू करती है लेकिन इसके लिए उसे अपना घर छोड़ना पड़ता है। विवाह पूर्व मायके में माँ और भाई-बहनों की उपेक्षा की शिकार प्रिया केवल दाई माँ के प्रेम के सहारे स्वयं को जिलाए रखती है। लेकिन विवाह के बाद पति द्वारा अपमानित और उत्पीड़ित किए जाने पर वह अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने की ठान लेती है। व्यवसाय में सफलता अर्जित करने और अपनी अलग पहचान बनाने में वह सफल होती है। प्रभा खेतान मानती हैं कि "स्त्री की मुक्ति उसके आर्थिक रूप से स्वावलंबी होने में है।"[5]

यह उपन्यास एक स्त्री के अपने ही घर में उपेक्षित, अपमानित और 'यौन शोषण' के शिकार होने से लेकर एक सफल व्यवसायी के रूप में अपनी स्वतंत्र पहचान स्थापित करने की संघर्षपूर्ण यात्रा की कहानी है।

माई - 'माई' दो पीढ़ियों के बीच द्वंद्व का उपन्यास है। 'माई' पुरानी पीढ़ी की और 'सुनैना' नई, आधुनिक पीढ़ी की प्रतीक है। यह द्वंद्व है एक दूसरे को समझने, न समझ पाने का, नई पीढ़ी द्वारा पुरानी पीढ़ी को अपने साथ ले चलने की कोशिश का, पुरानी पीढ़ी द्वारा अपनी स्थिति के प्रति मौन प्रतिक्रिया का और उसी स्थिति के प्रति आधुनिक पीढ़ी के प्रखर विद्रोह का।

माई की नरेटर उसकी बेटी सुनैना है। वही पूरी कहानी को आद्यांत बयां करती है। माई परिवार के प्रत्येक सदस्य दादा-दादी, बाबू, सुबोध और सुनैना सबकी इच्छाओं को पूरा करने के लिए अनवरत सुबह से शाम तक जुटी रहती है। इसीलिए उसकी रीढ़ की हड्डी झुक गई है। फिर भी वह अपने पहले की पीढ़ी के दादा-दादी और और नई पीढ़ी के सुबोध सुनैना की इच्छाओं को पूरा करने के लिए लगातार पेंडुलम की भांति इधर से उधर डोलती

रहती है। मानो उसकी अपनी कोई 'इच्छाएँ', अपना अस्तित्व ही न हो। वस्तुतः "प्रस्तुत कृति में संयुक्त परिवार की तीन पीढ़ियों के बीच सरकते, छूते व छोड़ते मूल्यों की टकराहट, पारस्परिक असंतोष, अतीतगत जीवन की गुत्थियां और उन गुत्थियों को समझ लेने की बेतरह आतुरता है। और है 'बुद्धि को आँख' देने की तत्परता ताकि केन्द्रीय चरित्र माई के स्वानुशासन, सहिष्णुता और समर्पण के परे उसके अंतर्मन को बारीकी से समझा जा सके। यह कोशिश होती है स्मृतियों के सहारे। दूसरे शब्दों में नई पीढ़ी की बेटी पुरानी पीढ़ी की माई को यादों के सहारे जीवित करती है और माँ के साथ बिताए हुए जीवन-बचपन से लेकर युवावस्था तक के उन घटनाक्रमों को व्याख्यायित, विश्लेषित करती है जो बारीक धागे की माफिक उसकी और माई की जिंदगी को जोड़ते हैं।"[6] यह परम्परागत स्त्री को समझने के क्रम में उस परम्परागत रूढ़ स्थिति के प्रति विद्रोह और पितृसत्ता के तहत स्त्री के 'अस्तित्व' की खोज का उपन्यास भी है।

कठगुलाब - मृदुला गर्ग के उपन्यास 'कठगुलाब' (1996 ई.) में स्मिता, मारियान, नर्मदा और असीमा अपनी-अपनी कहानियाँ बताती हैं। इनकी कहानियों के सन्दर्भ में ही अनेक अन्य स्त्री पात्रों की कहानियाँ भी आती हैं। इनके अतिरिक्त विपिन एकमात्र पुरुष कथावाचक है जो किसी- न- किसी रूप में इन सबसे जुड़ा हुआ है। इन तमाम पात्रों के अपने वर्ग, देशकाल और जीवन स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही सम्पूर्ण कथा की संरचना की गई है। स्मिता के माता-पिता की बचपन में ही मृत्यु हो जाने के कारण उसे अपनी दीदी नमिता और जीजा के साथ रहना पड़ता है। जहां उसका जीजा ही उसका बलात्कार करता है। वहां से भागकर वह कानपुर जाती है। बाद में वह विदेश चली जाती है, जहां वह एक मनोविश्लेषक जिम जारविस से विवाह करती है। और पुनः छली जाती है। मारियान अमेरिका की रहने वाली है। अपने दो बार के वैवाहिक जीवन में वह कभी भी सुखी नहीं रह सकी। दोनों बार उसे विवाह की तकलीफदेह प्रक्रिया से गुजरना पड़ा। अंततः स्मिता और मारियान दोनों 'रॉ' (RAW) यानि रिलीफ फॉर एब्यूज्ड वुमेन नामक संस्था में एक साथ

काम करते हैं। नर्मदा एक निम्नवर्गीय स्त्री पात्र है। माता-पिता की मृत्यु के कारण जीजा द्वारा दी गई तमाम यंत्रणाओं से गुजरने के बाद जीजा ने उससे धोखे से विवाह भी कर लिया। किसी तरह उसके चंगुल से निकलकर नर्मदा लोगों के घरों में काम कर अपने पैरों पर खड़ी होने में सक्षम होती है। असीमा को एक सशक्त आधुनिक स्त्री के रूप में दर्शाया गया है। वह विवाह के विरुद्ध है और आर्थिक सक्षमता को महत्व देती है। "उपन्यास से यह स्पष्ट होता है कि, पूरब हो या पश्चिम, नारी सर्वत्र दोहन और शोषण का शिकार है। पुरुष किसी वर्ग का हो, स्त्री के प्रति उसकी पाशविक प्रवृति एक ही तरह की होती है। इस पुरुष प्रधान व्यवस्था से मुक्ति का उपाय क्या है? कथा लेखिका की नारियाँ पुरुष से सम्पूर्ण मुक्ति नहीं चाहती हैं। वे सम्मान के साथ अपनी पहचान कायम रखते हुए, प्रेम, सुरक्षा और संतान की कामना करती हैं। कोई स्त्री वंध्या नहीं होना चाहती इसके लिए पुरुष अनिवार्य है।"[7] किन्तु ये स्त्रियाँ अपने जीवन में आए पुरुषों द्वारा ही शोषित प्रताड़ित होती हैं। लेकिन हार नहीं मानती हैं। उपन्यास का यह प्रबल पक्ष है कि ये स्त्रियाँ केवल अपने दुख और तकलीफों का ब्यौरा ही बयां नहीं करतीं बल्कि विपरीत परिस्थितियों से उबरने के निजी प्रयासों और मुक्ति हेतु किए गए सतत संघर्ष का भी वर्णन करतीं हैं।

आवां- हिन्दी साहित्य की प्रतिष्ठित कथाकार चित्रा मुद्गल का वृहत उपन्यास 'आवां' (1999 ई.) मुंबई की पृष्ठभूमि पर आधारित है। श्रमिक वर्ग से संबंधित नमिता पाण्डेय के पिता देवीशंकर पाण्डेय 'कामगार आघाड़ी' के महासचिव हैं। एक श्रमिक प्रदर्शन के दौरान विरोधी उन पर छुरे से हमला करते हैं, जिसके कारण वे लकवे का शिकार हो जाते हैं। घर में नमिता के अतिरिक्त माँ और दो छोटे भाई-बहन हैं। घर की सारी जिम्मेदारी नमिता के कंधों पर आ जाती है। घर की आर्थिक स्थिति बेहद तंग होने के कारण नमिता अपनी पढ़ाई पूरी नहीं कर पाती है। माँ शाहबेन द्वारा संचालित 'श्रमजीवा संस्था' में पापड़ बेलकर कुछ पैसे कमा लेती है। नमिता भी अर्थोपार्जन के लिए पापड़ बेलती है, फॉल लगाती है और ट्यूशन भी पढ़ाती है। ऐसी परिस्थिति में 'कामगार आघाड़ी' के प्रमुख अन्ना साहब की

कृपा से अपने पिता के स्थान पर नौकरी स्वीकार कर लेती है। अन्ना साहब को वह पिता तुल्य मानती है लेकिन अन्ना साहब के अनपेक्षित कामुक व्यवहार के कारण वह नौकरी छोड़ देती है। इसी बीच रोजगार कार्यालय के बार-बार चक्कर काटने के दौरान संयोगवश लोकल ट्रेन में नमिता की भेंट अंजना वासवानी से होती है, जो उसे जरूरत पड़ने पर संपर्क करने के लिए अपना परिचय पत्र देती है।

अंजना वासवानी से अचानक हुई मुलाकात के संयोग से नमिता को बाबा ज्वेलर्स में नौकरी मिल जाती है। यह दुनिया नमिता की साधारण दुनिया से बिल्कुल अलग बेहद लुभावनी है। नमिता को लिपिकीय कार्य से सम्बंधित नौकरी के साथ-साथ आभूषणों की मॉडलिंग करने के लिए भी चुना जाता है। यहीं संजय कनोई से उसकी भेंट होती है। जो आभूषणों का एक बड़ा व्यवसायी है। वह नमिता के समक्ष अपनी पत्नी निर्मला की निंदा करता है। स्वयं को पत्नी द्वारा उपेक्षित दर्शाते हुए वह नमिता से प्रेम निवेदन करता है। वास्तव में संजय कनोई द्वारा नमिता से किया गया यह प्रेम निवेदन महज छल है। एक बुना गया जाल है। क्योंकि संजय की पत्नी संतान को जन्म देने में अक्षम है। इसीलिए संजय कनोई नमिता को कुछ सुविधाएं देकर उससे संतान सुख चाहता है। अंजना वासवानी और गौतमी के साथ मिलकर वह नमिता के सम्मुख एक सम्मोहक दुनिया का जाल बुनता है। नमिता उसके छल को समझ नहीं पाती है और कनोई के प्रकट प्रेम पर सहज विश्वास कर लेती है। संजय कनोई अपनी मंशा में काफी हद तक सफल भी हो जाता है। हैदराबाद में प्रशिक्षण के दौरान लंबा समय बीत जाने पर नमिता को पता चलता है कि वह गर्भवती है। नमिता विवाहपूर्व बच्चा जनने की पक्षधर नहीं है। लेकिन संजय के लिए यह अविश्वसनीय सूचना थी। वह नमिता पर बच्चा जनने के लिए दबाव डालता है। उसे विश्वास दिलाता है कि जन्म के बाद वह बच्चे को गोद ले लेगा और फिर निर्मला से तलाक लेकर उससे विवाह कर लेगा। नमिता तमाम सामाजिक प्रतिरोध की गुंजाइश के बावजूद बच्चे को जन्म देने का मन बना लेती है लेकिन पवार से फोन पर अन्ना साहब

की मृत्यु की खबर सुनकर वह खुद को संभाल नहीं पाती है और उसका गर्भपात हो जाता है। अनायास हुए गर्भपात पर संजय कनोई को विश्वास नहीं होता है। वह फोन पर आगबबूला होते हुए नमिता को अंजना वासवानी की हकीकत और अपना उद्देश्य प्रकट कर देता है। नमिता सच जानकर स्तब्ध रह जाती है। इस भांति ठगे जाने पर वह निराशा के गर्त में डूब जाती है लेकिन फिर स्वयं को सहज करती हुई पोस्टर पर अंकित कवि 'पाश' की उन पंक्तियों को दोहराती है जिनमें उदास मौसम के खिलाफ लड़ने की बात कही गयी है। अंत में वह संजय कनोई से हुई भेंट को एक त्रासदी, एक भटकन के रूप में स्वीकार करती है। और मुंबई अपनी सौतेली माँ के पास वापस लौट जाती है।

वस्तुतः जिस तरह 'आवां' में तपकर मिट्टी पक्कापन प्राप्त करती है उसी तरह समाज रूपी आवां में तपकर नमिता जैसी तमाम लड़कियां असमय ही पक्कापन प्राप्त कर लेती हैं। वास्तव में यह उपन्यास उपभोक्तावादी संस्कृति के उस घिनौने रूप को उजागर करता है, जहां हर चीज बिकाऊ समझी जाती है। जहां पूंजी के बल पर स्त्री की देह को ही नहीं बल्कि कोख को भी छल-बल का प्रयोग कर हथियाने की कोशिश होती है। नमिता ऐसी ही उपभोक्तावादी संस्कृति की शिकार बनती है। उपन्यास में इस मूल कथा के साथ ही अन्य अनेक उपकथाएँ एवं प्रसंग भी चलते हैं। जो मजदूरों की समस्याएं, मजदूर संगठनों के आंतरिक सत्यों, स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श आदि को पूर्ण रूप से उजागर करता है। यह "उपन्यास नारी सरोकारों के प्रति सतर्क चिंता और संवेदनशीलता के लिए याद किया जाएगा, नारी के बहुविध उत्पीड़न का यह जीवंत दस्तावेज है, यह उत्पीड़न वार्गातीत है।"[8]

उपन्यासों में पितृसत्ता

तत्-सम - भारतीय समाज में पितृसत्ता का स्वरूप कुछ इस प्रकार है कि प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत और व्यवहारिक जीवन दोनों पितृसत्तात्मक संस्कारों और नियमावलियों से पूरी सूक्ष्मता से बुने गए हैं। तत्-सम उपन्यास में वसुधा के पति निखिल की एक दुर्घटना

में मौत हो जाने के बाद एक विधवा स्त्री का सामजिक जीवन कैसा होता है इसे देखा जा सकता है। पितृसत्ता के तहत पति-पत्नी का संबंध हमेशा से मालिक और गुलाम अथवा मालिक और सेवक का रहा है। यानि कि मालिक के रुतबे से ही सेवक की हैसियत भी बनी रहती है। इसीलिए निखिल की मृत्यु के बाद वसुधा कहती है "करना क्या है करने को रह क्या जाता है सिवाय मान लेने के कि पटाक्षेप हो गया। अभिनेता बने बैठे रहे, बत्ती गुल हो गई। मान लेना कि अन्धेरा ही सच है। अकेले हो गए होने की नियति ही सच। स्वीकार लेना कि रोशनी देने वाले सूरज को सदा के लिए ग्रहण लग गया।...सूने सपाट माथे को सौंदर्यदीप्त कर सकने वाले टीके का और कोई अर्थ नहीं। न ही नीरव एकांत को चूड़ियों की घरेलू खनक से हर लेने की अपनी कोई महत्ता। वह सबकुछ तो एक प्रतीक मात्र था। एक पराई मिल्कियत। मालिक के चल बसने पर लबादे की तरह उतार फेंकी गई। अपनी 'कुछ नहीं' हैसियत को और नंगा कर दिया गया।"[9] सिंदूर, बिंदी, चूड़ियों की प्रासंगिकता एक स्त्री के जीवन में तभी तक मानी गई है जब तक कि उसका पति जीवित रहता है। "अपने सीमित और सटीक अर्थ में सिंदूर व चूड़ी लड़की के विवाहित होने की सूचना देते हैं। इस सूचना को पाने वाला व्यक्ति समाज की मूल्य-रचना के हवाले से यह जानता है कि लड़की विवाहित है या नहीं, इस बात की सूचना उसके शरीर पर चिह्नित कर देना क्यों जरूरी है। इस प्रकार लड़की की देह पर चिपका या टांग दी गई सूचना, सूचित होने वालों में परिचित और अपरिचित अथवा रिश्तेदार या बेगाने का भेद नहीं करती। जाहिर है, सभ्यता ने इस बात, कि जिस लड़की को हम देख रहे हैं, वह विवाहित हो चुकी है या नहीं, हर किसी के संज्ञान में अविलंब बता देना जरूरी माना और बनाया है।"[10] इस सन्दर्भ में 'सीमन्तनी उपदेश' की अज्ञात लेखिका की यह बात बरबस ही याद आ जाती है कि 'चूड़ियाँ, बिंदी आदि से एक लड़की विवाहपूर्व भी श्रृंगार करती है लेकिन विवाह के बाद पति के न रहने पर क्यों नहीं?' पितृसत्ता के सम्मुख लेखिका का यह प्रश्न पूरी तरह से जायज ठहरता है।

प्रारम्भ से ही भारतीय समाज में सती प्रथा का प्रचलन रहा है। सामंती समाज व्यवस्था में इस क्रूर प्रथा को और भी पुख्ता बनाने के प्रयास किए गए। स्त्री के लिए त्याग और समर्पण के तमाम रास्ते पितृसत्ता ने ही सुझाए और लागू भी किए हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि स्त्रियाँ भी इन नियमों का बखूबी पालन करती हैं। क्योंकि एक लड़की बचपन से ही अपने आस-पास की विधवा स्त्रियों को तमाम नियम-धर्म का पालन करते देखती है, और उसे यह भी बखूबी समझाया जाता है कि यही उचित है और यही मार्ग अन्ततोगत्वा स्वर्ग तक ले जाने वाला है। वसुधा बताती है कि "एक कोई ताई थीं जिन्हें पति की चिता से खींचकर लाना पड़ा था और महीनों कमरे में बंद रखना पड़ा था। बहुत दूर के रिश्ते में एक मौसी थी, वैधव्य में संन्यासिनी होकर स्वर्गाश्रम में रह रही थी। एक माँ की सहेली थी, उन्होंने पिछले पच्चीस वर्ष से नमक नहीं खाया था। अपने पति की मृत्यु के बाद! और माँ!...बहुत करीब की चीजों पर शायद व्यक्ति का ध्यान ही नहीं जाता।"[11] इससे स्पष्ट है कि पितृसत्ता ने स्त्री के लिए कोई अन्य राह छोड़ी ही नहीं है। उसके लिए पति का न होना मानों सबकुछ का खत्म हो जाना है।

निखिल की मृत्यु के बाद वसुधा को हर पल इस बात का एहसास होने लगा कि सब उसे दया और सहानुभूति की ही पात्र समझते हैं। "माँ निःसंकोच बरसा करती थीं पहले। अब चुप बनी रहती हैं चाहे घंटों मन में कुढ़ती रहें। भाभी ठिठोली करती थीं हर समय अब गुम हुई रहती हैं। शरत भैया पहले खुले रहते थे, अब पूरी तरह से बंद। उसे देखते ही कहाँ से आ जाती है उनमें वैसी गुड्डल गुरुता। संभलकर बोलना। ठिठककर उसके कमरे में घुसना। बाहर से अधिक उसके भीतर को सूँघते रहना। घर में उनके रहते पोर-पोर में गुझे हुए शैथिल्य को धकियाते रहना पड़ता है सतत।...कौन लील कर ले गया है आसपास की हलकी-फुलकी हवा...किस अदृश्य हाथ ने बदल दिए हैं सारे संबंधों के ताने-बाने?"[12] सतत सहानुभूति और दया स्त्री को कमजोर बनाने के हथियार भी हैं। जो स्त्री को कभी भी एक स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में उभरने नहीं देते हैं।

दुनिया के तमाम दस्तूर भी पुरुष ही तय करते हैं। हमेशा से औरतों को इन एकतरफा दस्तूरों की दुहाई देकर पितृसत्ता द्वारा अपने पक्ष में खड़ा किया जाता रहा है। वसुधा की अम्मा भी एक पलड़े में अपनी बेटी का भविष्य और एक में दुनिया के दस्तूर को रखकर देखने की कोशिश करती दिखाई पड़ती हैं। अधिकांशतः उनकी नजरों में दस्तूर ही भारी जान पड़ते हैं, इसीलिए वह कहती हैं "दुख-सुख हर किसी पर पड़ता है। सब्र करना पड़ता है।...दुनिया में रहकर दुनिया के दस्तूर से चलना पड़ता है।"[13] वास्तव में अम्मा के द्वारा परम्परा का पालन किया जाता है। "एक जड़ी जकड़ी परम्परा का पालन। वह मन की नहीं ममत्व की नहीं, संस्कारों की भाषा बोलती हैं। उनका बोलना कितने सारे गुम हो चुके बोलों का जोड़। कितनी लक्ष्मणरेखाओं के गहरे और गहरे निशान। कितने ओढ़े-ओढ़ाए अँधेरे के परदे। अपने अभावों को भी अम्मा ने पहना दी हैं, वही जकड़ीली बेड़ियाँ। अपने साथ भी उनकी हस्ती ने वही सलूक किया है। गठरियाँ सरका दी हैं अँधेरे तहखानों में और नेम-धरम, कायदे-दस्तूर की रसरौंद जमात की अगुआई करने बैठ गई हैं।"[14] इस प्रकार अम्मा जाने-अनजाने ही पितृसत्ता की प्रतिनिधि बन जाती हैं।

आज पुनर्विवाह काफी हद तक पहले की तरह कोई अचंभित कर देने वाली घटना नहीं रह गई है। फिर भी एक विधवा स्त्री, जिसका पुनर्विवाह किया जाना है उसके प्रति पितृसत्ता के 'मर्दवादी' रवैये को आसानी से देखा जा सकता है। वसुधा के विवाह के लिए दिए गए विज्ञापन को देखकर कई लोग मिलने आते हैं। बार-बार सजा-धजाकर परोसा जाना वसुधा को लज्जाजनक लगता है। इसे वह अग्निपरीक्षा के रूप में देखती है, क्योंकि वह समझ चुकी है कि "नाम अलग-अलग हैं, लोभ वही-के-वही। एक आए थे उन्हें बच्चों की माँ चाहिए थी। दूसरे को तगड़े वेतन वाली कमाऊ औरत। उन्हीं में से किसी एक को निवृत्ति के बाद समयकाटू जिंस की जरूरत थी, और किसी एक को अपनी देह की चुप्पी को आजमा लेने की हौंस। लोग आते हैं। जाते हैं। नापते हैं। तौलते हैं। कौंचते हैं। लहूलुहान करते हैं। और तो और अपनी प्रभु सजगता से फैसले का अधिकार भी अपना ही समझते

हैं।"[15] यही महत्व है एक पुरुष वर्चस्ववादी समाज में स्त्री का। पुरुष भी भले ही पुनर्विवाह का इच्छुक हो और चाहे कितनी ही उम्र का क्यों न हो अपने ही समान पुनर्विवाह के लिए प्रस्तुत एक स्त्री उसके लिए महज अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र है। जहां भावनात्मक लगाव की कोई गुंजाइश दिखाई नहीं पड़ती है।

वसुधा को पितृसत्तात्मक रवैये का सामना कॉलेज में पढ़ाने के दौरान भी करना पड़ा। जहाँ उसके एक सहकर्मी अध्यापक जतीन सहगल की दैहिक वासना और बदनियति का जब उसने विरोध किया तो इसका भुगतान भी उसे ही करना पड़ा। उसकी कक्षाओं की योजना कुछ इस प्रकार कर दी गई कि "एक घंटा सुबह। दूसरा दोपहर। तीसरा शाम। बीच में मक्खियाँ मारता भिनभिनाता टुकड़े-टुकड़े समय। न घर जा सकने की संभावना न यहाँ काम करने की सुविधा।"[16] इतना ही नहीं फिर सहानुभूति भी दिखाई गई यह कहकर कि "हैsss। सैंडविच्ड?...आई फील बैड...तुम कहो तो मैं मि. पाठक से बात करूं- तुम्हें कुछ एकोमोडेट करें।"[17] यानी कार्यक्षेत्र में भी स्त्रियाँ चाहे कितनी भी पढ़ी-लिखी हों, सक्षम हों, पर उनकी कोई सुनवाई नहीं होती है। उपन्यास के पुरुष पात्र जतीन सहगल और दिनेश पाठक शिक्षण संस्थानों में पुरुष वर्चस्व को रेखांकित करते हैं। "जतीन सहगल अपनी सशरीर उपस्थिति से और दिनेश पाठक प्रसंगवश चर्चा से हमारे शैक्षिक मूल्यों पर अर्थपूर्ण टिप्पणी का काम देते हैं। इसमें स्त्री के प्रति पुरुष की आदिम भूख और सामंती सोच दोनों ही एक साथ उपस्थित हैं।"[18]

पितृसत्ता ने स्त्री को एक 'देह' के रूप में ही जाना समझा है। एक नाजुक, कोमल, हिफाजत के काबिल देह। इसके अतिरिक्त स्त्री की कभी कोई मुकम्मल 'हैसियत' मानी ही नहीं गई। यही माना गया कि "अकेली औरत जहां कहीं भी हो बहुत से सवाल पैदा करती है।"[19] इस सन्दर्भ में वसुधा का कथन है- "क्योंकि औरत की दूसरी कोई हैसियत मानी ही नहीं जाती। पुरुष के साथ या पुरुष के बिना। दोनों स्थितियों के अपने तयशुदा लक्षण हैं।

एक सिरे को तानकर छोड़ दो तो दूसरा अपने आप सामने आ गिरेगा। असली हैसियत के सवाल को साफ कर देगा अपने आप।"[20]

इस प्रकार राजी सेठ ने पितृसत्तात्मक समाज में विधवा पुनर्विवाह के प्रश्न को उठाते हुए, पितृसत्ता के तहत एक विधवा स्त्री के जीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला है।

शाल्मली - 'शाल्मली' अपने पति नरेश की कुंठाओं और पिता के तथाकथित प्रगतिशील विचारों के बीच निरंतर पितृसत्ता के द्वंद्वो से गुजरती है। माता-पिता ने अपनी पढ़ी-लिखी, बुद्धिमान लड़की का विवाह नरेश से कर तो दिया था लेकिन "विवाह के कुछ दिनों बाद से ही उसे लगने लगा कि उनके बीच कुछ टूटा था, जिससे एक ही ध्वनि गूंजी थी कि नरेश पति है और वह पत्नी। स्वामी और दासी का यह संबंध एक काली छाया बन उसके और नरेश के बीच एक मजबूत दीवार का रूप धरने लगी थी।"[21] सैद्धान्तिक स्तर पर पति-पत्नी का संबंध समानता पर आधारित है किन्तु व्यावहारिक धरातल पर इस संबंध में एक बड़ा स्तर भेद पितृसत्ता की देन है। भारतीय समाज में पति को स्वामी और कर्ता तथा पत्नी को दासी और आज्ञाकारिणी के रूप में सदियों से प्रचारित-प्रसारित किया जाता रहा है।

पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था के तहत यदि एक स्त्री 'आधुनिक' होने की तमाम शर्तों को पूरा करती है (आधुनिक से मेरा तात्पर्य पढ़ी-लिखी, स्वतंत्रता, समानता, आत्मनिर्णय लेने में सक्षम स्त्री से है)। तो सबसे पहले उसके चरित्र और संस्कारों पर प्रश्न चिह्न लगा दिया जाता है। नरेश शाल्मली के सक्षम व्यक्तित्व पर व्यंग्यभरी टिप्पणी करते हुए कहता है "तुम ठहरी एक आधुनिक विचार की महिला...विचारों में स्वतंत्र, व्यवहार में उन्मुक्त, तुम्हारे संस्कार..."[22] 'आधुनिकता' के वास्तविक अर्थ से इतर नरेश का यह विश्लेषण शाल्मली के संस्कारों पर संदेह व्यक्त करता है। भारत में आज भी पुरुष की तुलना में स्त्री का स्तर बहुत नीचे है। एक तरफ जहां घर के पुरुषों को पढ़ने-लिखने के,

आगे बढ़ने के तमाम अवसर दिए जाते हैं। परिवार और समाज का पूरा सहयोग उन्हें प्राप्त होता है, वहीँ दूसरी तरफ स्त्री शिक्षा के महत्व को उपेक्षित किया जाता है। जिन परिवारों में स्त्री शिक्षा पर ध्यान दिया भी जाता है तो उसका उद्देश्य मात्र एक अच्छे पति की तलाश तक ही सीमित समझा जाता है। नरेश और शाल्मली के बीच का यह संवाद इस बात की पुष्टि करता है "पढ़ाई-लिखाई को अब गोली मारो! जीवन भर इस मगजपच्ची से क्या मिलना है? विवाह हो गया, बस!" अंगड़ाई लेकर नरेश ने कहा। "तुम सोचते हो कि लड़कियां केवल विवाह के लिए पढ़ती हैं?" शाल्मली ने सुस्त लहजे से पूछा।

"और नहीं तो क्या? खाली बैठने से तो अच्छा है कि लड़कियां अच्छा पति मिलने की ढंग से प्रतीक्षा करें?" नरेश ने कहकहा लगाते हुए कहा।"[23] नरेश की यह सोच पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री-शिक्षा के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण का ही एक नमूना है।

एक तरफ नरेश है जो हमेशा शाल्मली को नीचा और कमतर आंकने में तुला रहता है तो दूसरी तरफ शाल्मली के पिता हैं, जिन्हें वह अपना आदर्श मानती है। उनकी शिक्षाएं शाल्मली के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो ये दोनों पुरुष पितृसत्ता को अपने-अपने ढंग से पोषित और पल्लवित करते देखे जा सकते हैं। रोहिणी अग्रवाल ने लिखा है कि "पिता की इस सीख को वह अस्त्र बनाकर चल रही हैं कि पुरानी मान्यताएं सड़-गलकर लुप्त हो चुकी हैं, उनकी आज दुहाई क्यों? समाज को आगे जाना है या पीछे? लेकिन रूककर पिता से ही प्रतिप्रश्न नहीं करती कि फिर क्यों पढ़ाई और कैरियर के अधबीच ही उन्होंने नरेश की जेहनी पृष्ठभूमि की ज्यादा जांच-पड़ताल किए बिना हड़बड़ी में ब्याह दिया? क्या उन्हें शाल्मली की प्रतिभा पर जरा भी विश्वास नही था कि प्रतियोगी परीक्षा पास कर वह ऊँचे ओहदे पर पहुँच जाएगी? क्या वे नहीं जानते थे कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था का मौजूदा ढांचा अपने से बेहतर पत्नी (शिक्षा एवं कैरियर) पानेवाले पति के मन में पनपी हीनता ग्रन्थि को कुंठा, दमन और प्रतिशोध बनाकर

दाम्पत्य संबंध को चटका देता है।"[24] शाल्मली विवाहपूर्व पिता के विचारों और विवाह के पश्चात् पति की सोच के बीच झूलती नजर आती है।

पितृसत्ता के तहत स्त्री के शिक्षित और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने का यह अर्थ नहीं कि वह आत्मनिर्णय लेने के लिए स्वतंत्र है। शिक्षित और आर्थिक सम्पन्नता के बावजूद शाल्मली की स्थिति भी कुछ ऐसी ही है "उनके जीवन की समस्याओं के समाधान और महत्वपूर्ण मुद्दों पर फैसला लेने का अधिकार केवल नरेश को था। यह बात दिन की तरह साफ-साफ शाल्मली को कुछ दिन बाद समझ में आ गई थी। अधिकार जैसा तंत्र उसके पास नहीं था।"[25] आर्थिक परावलंबन स्त्री की पुरुष पर निर्भरता को अधिक मजबूत रूप देता है। शाल्मली आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर है। वह एक प्रतिष्ठित ओहदे पर कार्यरत है। एक बार शाल्मली को काम के सिलसिले में जब कुछ समय के लिए मसूरी जाना था, तब नरेश इसके खिलाफ नजर आया "तुम औरतें अपने को जाने क्या समझती हो? बाहर नहीं निकलोगी, काम नहीं करोगी, तो संसार के सारे काम ठप्प हो जाएंगे...यह जान लो तुम, यह फैसला मेरी भावनाओं के मूल्य पर नहीं, बल्कि इस घर के मूल्य पर कर रही हो।"[26]

यानि स्त्री का कार्यशील होना, घर से बाहर जाना स्त्री द्वारा घर को दाँव पर लगाना है। पितृसत्ता के अनुसार वह घर और बाहर दोनों में से एक का ही चुनाव कर सकती है। अंततः पुरुषोचित अधिकार भाव के साथ नरेश अपना निर्णय शाल्मली को सुनाते हुए कहता है "तुम कहीं नहीं जाओगी, शाल्मली।" नरेश ने निर्णय दिया। "क्यों भला?" शाल्मली चौंकी। "मैंने जो कह दिया, उसका पालन तुमको करना है, बस।" नरेश कठोर स्वर में बोला। "यह नौकरी है बिना कारण दिए में घर थोड़े ही बैठ सकती हूँ।" शाल्मली ने बड़ी सहिष्णुता से कहा। "कारण-वारण कुछ नहीं, कह देना मेरा पति पसंद नहीं करता इस तरह मेरा टूर पर

जाना, समझी। घर अलग उपेक्षित पड़ा रहता है।"[27] पुरुष को स्त्री के जीवन के सन्दर्भ में, बिना स्थिति को समझे, इस प्रकार निर्णय दे देने का अधिकार पितृसत्ता ने ही दिया है।

अनगिनत वर्षों की गुलामी के पश्चात् समकालीन परिदृश्य में जब स्त्री शिक्षा प्राप्त कर, नौकरी करने और आर्थिक रूप से सक्षम होने लगी है तब उसकी वास्तविक स्थिति का अंदाजा नरेश द्वारा शाल्मली से कहे इस कथन से लगाया जा सकता है कि "मैंने तुम्हें नौकरी करने की छूट दी, इसका यह अर्थ नहीं कि तुम अपने को पूर्ण स्वतंत्र समझने लगो।"[28] तात्पर्य यह कि स्त्री स्वतंत्रता की डोर अब भी पुरुष सत्ता के हाथ में ही है। स्त्री आज भी उतनी ही शिक्षा प्राप्त कर पाती है जितना पिता अनुमति दें और उतने ही दिन नौकरी कर सकती है जब तक पति चाहे। अर्थ यह कि एक व्यक्ति के रूप में, स्वतंत्र अस्तित्व के रूप में अब भी स्त्री पितृसत्ता की संकुचित सोच, और सोची-समझी रणनीति में ही उलझी नजर आती है।

स्त्री-पुरुष समाज की दो भिन्न इकाइयां हैं। इन दो इकाइयों के मिलने से ही समाज समुचित रूप से संचालित होता है। इसलिए यदि समाज में पितृसत्ता इतने लंबे समय तक अपना दबदबा कायम रखने में सफल हो सकी तो इसका एक महत्वपूर्ण कारण स्त्रियों द्वारा स्वयं पितृसत्ता का पोषण भी है। शाल्मली की माँ को शाल्मली के विवाह की चिंता है। शिक्षा, नौकरी इन सब कार्यों से सर्वोपरी है एक निश्चित समयावधि के भीतर लड़की का विवाह कर दिया जाना। शाल्मली के माता-पिता के बीच का संवाद उल्लेखनीय है "जवान लड़की घर में बैठी हो, तो किस माँ को नींद आएगी?" अकसर रात के अँधेरे में वह माँ की फुसफुसाहट सुनती। "कितनी बार कहा कि शाल्मली केवल बेटी नहीं, बेटा भी है। ऐसी लड़की के विवाह की चिंता...? पिता हंस पड़ते। "बेटा, बेटी जो भी उसे समझो तुम, मैं नहीं रोकती, मगर मेरी नजर में वह लड़की है और उसके हाथ पीले करने हैं।" माँ उकताहट भरे लहजे से कहतीं। "मुझे भी चिंता है। दो वर्ष बाद...अभी उसे कम्पिटीशन में बैठने दो। ब्याह

दिया तो चूल्हे-चक्की में पिस जाएगी।" पिता का चिंता भरा स्वर उभरता। "औरत की वही पहचान है।" माँ दार्शनिक अंदाज में कहती।"[29] माँ का अपनी बेटी के भविष्य के प्रति ऐसा कड़ा फैसला पितृसत्ता की वैचारिकी का ही परिणाम है। एक अन्य स्थान पर शाल्मली जब अपनी माँ को अपनी गृहस्थी की आंतरिक सच्चाई से रूबरू कराती है तो वह कहती है "यही तेरा भाग्य था, शालू। इसे ही संवार, बेटी, रीति-रिवाजों से कटकर कौन जी पाता है, पगली। अपना और दूसरों का हिस्सा भोगना ही औरत का भाग्य है, तू उससे अलग कहाँ है?"[30] पितृसत्ता ने रीति-रिवाज, संस्कार, भाग्य जैसे अनगिनत शब्द स्त्री के अस्तित्व के साथ इस प्रकार चस्पा कर दिए हैं कि इनकी ओट में हो रहे शोषण और अपनी दोयम दर्जे की स्थिति के पीछे निहित कारण को स्त्री समझ ही नहीं पाती है। वह इस प्रकार से मानसिक गुलाम बना दी गई है कि स्वयं पितृसत्ता का पोषण करती जाती है। इसलिए मानसिक गुलामी सबसे सूक्ष्म और घातक है। जिस सामाजिक संहिता के तहत हमारा भारतीय समाज संचालित होता है, वह पुरुषों द्वारा पुरुषों के हित में रची गई है। जिसमें स्त्री की भूमिका पुरुष की समानधर्मा मनुष्य की ही नहीं बल्कि पुरुष के उपभोग की, उसके मनोरंजन की और उसके द्वारा शोषित होने भर की है। इसीलिए नरेश कहता है "तुम जानना चाहोगी पुरुष की दृष्टि में औरत क्या है? भोगने की वस्तु...वही उसकी पहचान है। इसलिए तुम औरत की तरह रहो, इसी में तुम्हारा उद्धार है और इस घर का कल्याण और गृहस्थी का सुख।"[31] प्रश्न यह उठता है कि गृहस्थी को बनाने की, संबंधों को बचाए रखने की पूरी जिम्मेदारी क्या स्त्री की है? वह भी ऐसी व्यवस्था के तहत जहां पुरुष के विचार से स्त्री सम्मान और समानता की अधिकारिणी ही न समझी जा रही हो।

छिन्नमस्ता - मानव जाति की निरंतरता को बनाए रखने में यद्यपि स्त्री की भूमिका अहम है। वही स्त्री-पुरुष दोनों की जननी है। फिर भी पितृसत्तात्मक समाज में एक लड़की का जन्म दुःख और निराशा का विषय समझा जाता है। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया भी इसका अपवाद नहीं है। प्रिया के जन्म पर "दाई माँ के बाहर निकलते ही दादी ने पूछा, "के

होयो?" "लड़की हुई है माँजी! कार्तिक की नवमी में लक्ष्मी घर में आई है, लक्ष्मी!" "आ पड़ी ऊपर से...भाया सांवर, अभी तो दो को ब्याह बाकी है...या तीसरी और तैयारी होगी। तेरे तो खर्चो ही खर्चो है।"..."हे रामजी! चार-चार बेटियां आ पड़ीं! कठ बेटा पड़या है।"[32] प्रिया को परिवार में चौथी लड़की के रूप में जन्म लेने के कारण अतिरिक्त उपेक्षा और तिरस्कार झेलना पड़ा।

पितृसत्ता के तहत घर का बेटा ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी वंश का वाहक और उत्तराधिकारी होता है। प्रिया के पिता की असमय मृत्यु हो जाने के कारण सारी बागडोर प्रिया के बड़े भाई के हाथ आ जाती है। यही भाई (पितृसत्ता का जिम्मेदार वाहक) प्रिया को अपनी हवस का शिकार बनाता है। प्रिया अपने ही घर में लंबे समय तक भाई की यौन कुंठा को झेलती है। "वह जानता है कि उसका यह कृत्य मासूम बहन के शरीर में भारी परिवर्तन ला उसे असमय औरत बना देगा। जिस कारण लोगों की चीरती निगाहें उसके चरित्र पर शक करती रहेंगी और स्वयं उसे पल-पल भाई की घिनौनी हरकत याद दिलाती रहेंगी। लेकिन वह यह सब क्यों सोचे? वह 'युवराज' है, घर का मालिक। यदि कभी उसकी हरकत का भांडा फूट भी गया तो लड़की का गला घोंटने को तत्पर हमारी समाज-व्यवस्था प्रिया को ही दोषी ठहराएगी और तब उसे नहीं बल्कि प्रिया को जीवन भर लोगों से मुँह चुराते रहना पड़ेगा। प्रिया के पास एक भी सुरक्षित कोना नहीं है।"[33] वास्तव में "स्त्री के दर्द की दास्तान तो बचपन से ही शुरू हो जाती है, जहां वह अपनों के बीच में अपनों के ही हाथों यौन हिंसा की शिकार होती है, घर की दीवारें उसके लिए कितनी सुरक्षित हैं, छिन्नमस्ता इसका प्रमाण है। प्रभा खेतान ने पहली बार हिन्दी कथा साहित्य को साहसी तेवर दिया है। उन्होंने अपने सगे बड़े भाई की दरिन्दगी को इमानदारी से रचना में ढालकर बेजुबानों को ताकत दी है।"[34]

प्रिया के भाई ने तो उसका यौन शोषण किया ही कॉलेज का एक प्रोफेसर भी प्रिया से प्रेम के तमाम कसमे-वादे करके उससे दैहिक संबंध स्थापित करता है। और फिर जैसे किसी वस्तु की उपयोगिता खत्म होने पर उसे फेंक देते हैं। उसी भांति उस प्रोफेसर ने प्रिया को यह कहते हुए अपनी जिंदगी से निकाल फेंका "मूर्ख लड़की! मैंने कब कहा था कि मैं तुमसे शादी करूँगा? हम दोनों ने मौज की। बस, बात खत्म। और सुनो, फिर कभी यहाँ मत आना। मैं अब शादी-शुदा इंसान हूँ।"[35] यानि पुरुष के लिए स्त्री केवल मौज की वस्तु है, अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की तृप्ति का महज एक साधन। विवाह के पश्चात् प्रिया ने नरेन्द्र में भी एक ऐसे ही पुरुष को देखा। जिसके लिए औरत महज एक शरीर भर थी। नरेन्द्र के लिए स्त्री की इच्छाएँ, उसका सम्मान जैसे कोई मुद्दा ही न हो। वह रिश्ते की बहनों, बुआ या यहाँ तक कि माँ किसी का आदर करना नहीं जानता था। ये सब रिश्ते मानो नरेन्द्र (पुरुष) के जीवन की सहूलियत के लिए ही बने थे।

समाज व्यवस्था के दो मूलभूत आधार स्तंभ हैं स्त्री और पुरुष। यदि समाज व्यवस्था पितृसत्तात्मक है और सुचारू रूप से परिचालित भी हो रही है तो इसमें स्त्री की भूमिका पर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है। अधिकांश मामलों में स्त्रियां स्वयं पितृसत्ता का पोषण करती हैं। जैसे प्रिया को चौथी लड़की होने के कारण कभी माँ का प्यार नहीं मिला, अम्मा की नजर में लड़की होने का मतलब था 'हीन' और 'गुलाम' होना। बड़ा भाई गलत-सही जो भी कार्य करता अम्मा हमेशा उसी का पक्ष लेती। यहाँ तक कि भाई द्वारा प्रिया के यौन शोषण की बात जानकर प्रिया की सबसे हितैषी, पालन-पोषण करने वाली दाई माँ भी उसे ही चुप रहने की सलाह देती हुई कहती है "अरी मोर बिटिया, नाहीं! तोहार क्वारपन खतम हो गईल...कच्ची कली...नाहीं बिटिया, नाहीं, ई बात किसी से कभी जिन कहियो।"[36] इसमें संदेह नहीं कि पितृसत्ता में प्रारम्भ से ही यौन शोषण की शिकार स्त्री पर उंगलियां उठाई जाती हैं। मानों उसने ही कोई बड़ा अपराध कर डाला हो। घर के भीतर होने वाले ऐसे अपराधों में घर की स्त्रियां संगठित रूप में पुरुष के इस कृत्य का प्रतिकार या विरोध नहीं

करती हैं और अधिकतर उत्पीड़ित लड़की को ही चुप रहने की सलाह दी जाती है। जैसा कि प्रिया के साथ हुआ। एक स्थान पर प्रिया मकान बड़े भाई के नाम लिख देने को जब अम्मा का गलत निर्णय बताकर विरोध करती है। तब अम्मा का प्रत्युत्तर कुछ यूँ था कि "फिर कभी कुछ बोली चंडाल, तो जबान खींच लूंगी। बड़े भाई पर इल्जाम लगाती है।"[37] भाभीजी को भैया का रात को शराब पीना नहीं सुहाता है लेकिन इस बात पर भी भाभीजी की ही शामत आ जाती है। अम्मा भैया का समर्थन करते हुए कहती हैं कि "सारे दिन खटकर यदि एक गिलास ऑरेंज जूस पी ही लेता है तो क्या हुआ?"[38] इस प्रकार कई बार स्त्रियाँ स्वयं पितृसत्ता की जुबान बोलती हैं। और उसके गलत कृत्य को भी उचित ठहराकर उसका समर्थन करती हैं।

औरतों के लिए पुरुष सत्ता द्वारा कुछ पूर्व निर्धारित सांचे निर्मित किए गए हैं। उन सांचों में फिट बैठना स्त्री की पहली अनिवार्य शर्त है। इसीलिए प्रिया जब आर्थिक सक्षमता अर्जित करती हुई व्यवसाय में सफल होने लगती है तो पति नरेन्द्र द्वारा उसे बार-बार याद दिलाया जाता है कि "काम करो पर यह मत भूलो कि तुम विवाहिता हो, एक बच्चे की माँ हो, अग्रवाल हाउस की बहू हो।"[39] सच तो यह है कि पुरुष निर्धारित करना चाहता है, करता है, स्त्री स्वातंत्र्य की सीमा। इसीलिए तो नरेन्द्र कहता है "दरअसल तुम्हें इतनी खुली छूट देने की गलती मेरी ही थी। मुझे पहले ही चिड़ियाँ के पंख काट डालने चाहिए थे। पर मैं तुम्हारी बातों में आ गया। तुम्हारे इस भोले चेहरे के पीछे एक मक्कार औरत का चेहरा है।"[40] पितृसत्ता स्त्री की सक्षमता को, उसकी सफलता को अति महत्वाकांक्षा का नाम देकर नकारती रहती है, क्योंकि पितृसत्ता हर कीमत पर स्त्री को अपने वश में रखना चाहती है। "अति महत्वाकांक्षा के सन्दर्भ में जनमानस कभी भी स्त्री के पक्ष में वक्तव्य नहीं देता। नैना साहनी, जैसिका लाल, शिवानी भटनागर की हत्या को न्याय संगत घोषित किया जाता रहा है, स्त्री की महत्वाकांक्षा के अपराध में।"[41] आज भी स्त्री की आर्थिक आत्मनिर्भरता के

सन्दर्भ में पितृसत्ता का रवैया काफी हद तक सामंती कहा जा सकता है। प्रिया को भी पितृसत्ता के इसी रवैये का सामना करना पड़ता है।

माई - गीतांजली श्री का उपन्यास 'माई' इस मायने में भिन्न है कि यहाँ नयी पीढ़ी अपने से पूर्व पीढ़ी की स्त्रियों के जीवन संघर्ष की सूक्ष्मता से पड़ताल करने का प्रयत्न करती है और इस पीढ़ी की स्त्रियों को पितृसत्ता की कैद से उबारना चाहती है। सदियों से बेहद करीने से संचालित पितृसत्ता की जड़ें हमारी व्यवस्था में इस कदर गुंथ चुकी हैं कि उसे अलग करके देखना और उससे प्रतिवाद करना नयी चेतना सम्पन्न पीढ़ी के लिए एक संघर्षशील लंबी प्रक्रिया से गुजरना है।

पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में हर हाल में घर का मुखिया पुरुष ही होता है। सुनैना के शब्दों में "दादा को, घर में क्या हो रहा है, उसमें न दिलचस्पी थी, न उसका ज्ञान, यों लगता। पर सरगना वही थे और जब चाहे दिलचस्पी ले लेते, न - बोली बात भी सुन लेते। क्या मजाल की उनकी मंशा के खिलाफ कुछ हो। या उनकी चाह टाली जाए। चींटे की कहें शेर तो वही सही, लातों को कहें प्रेम तो वह भी। आदेश दें तो पूरे घर को सिर पर खड़ा होना पड़ेगा। दादा की सोच में डूबे, भूल से कह जाएँ, "आज मटर का निमोना और चावल खाएंगे"- तो बना-बनाया खाना एक तरफ सरका के माई दोबारा जुट जाती।"[42] क्योंकि माई (स्त्री) ही थी जो परिवार के मुख्या (पुरुष) के हर हुक्म को फौरन पूरा करने के लिए तैनात रहती थी, "दादा की हाँकों का कोई तय वक्त नहीं था, पर उनका मुकाम माई ही होती जो फुर्ती से मांग पूरी करने में जुट जाती।"[43]

पितृसत्ता ने ही स्त्री की सहनशक्ति को उसका एक प्रमुख गुण घोषित किया है। एक मूक और प्रतिवाद न करने वाली स्त्री को ही 'आदर्श' के रूप में प्रचारित किया जाता रहा है। "हालाँकि माई की यही एक बात थी जो दादी तक को भाती थी। कम से कम यह एक गुण था माई में जिसके लिए वे कभी-कभी उसके सारे दोषों को माफ कर देतीं- कि दिन

बीत जाता है और बहू की आवाज एक बार भी सुनाई नहीं पड़ती, क्लब भी जाती है पर पल्लू सिर पर रहता है और सब कहते हैं कि माताजी, यह आप ही का पुण्य है कि ऐसी दीन-हीन, सुशील बहू मिली, कभी जो आँख ऊपर करती हो।"[44] आवाज न सुनाई पड़ना, पल्लू सिर पर रखना, आँख ऊपर न उठाना, ये सब निश्चित रूप से स्त्री की दीन-हीन स्थिति के परिचायक हैं। पितृसत्ता के तमाम पैरोकार आज भी स्त्री की ऐसी स्थिति को उसकी सहनशीलता, उसका गुण कहकर प्रचारित-प्रसारित करते हैं।

स्त्री की स्वतंत्रता का अर्थ पितृसत्ता के तहत 'पुरुष द्वारा दी गई स्वतंत्रता' से है। इसीलिए स्त्री के सन्दर्भ में 'स्वतंत्रता' एक बड़ा मसला है। ड्योढ़ी के भीतर का जीवन पूर्णत: पितृसत्ता की गूंजों से भरा हुआ है। सुनैना बताती है कि "ड्योढ़ी का जीवन बदस्तूर चलता रहा। दादा आँखे बंद किए, हाथ मदहोशी में लहरा-लहराके, संगीत का लुत्फ़ उठाते रहे। पर हममें से किसी को न गाने की, न नाचने की छूट थी। शायद वह गुसल में थे और माई उनकी बैठक के पास से कुछ गुनगुनाती हुई निकल गई कि वे अचानक निकल आए, बैठक से अन्दर का दरवाजा खोला, माई झट से पल्लू अन्दर खींच एक तरफ खड़ी हो गई: "कौन गा रहा था? कोई गा रहा था?" बस इतना पूछा और जवाब का इंतजार किए बगैर वापस लौट गए। हमारा दावा है कि माई फिर कभी न गुनगुनाई होगी।"[45] वास्तव में पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री के जीने के तौर-तरीके और इच्छाएँ भी पुरुष ही तय करता है। एक अन्य स्थान पर सुनैना बताती है कि "सुबोध ने नाटक के टिकट ख़रीदे, माई ने रेशमी साड़ी पहनी, बाबू ने निकलते-निकलते टोक दिया- 'तुम भी? क्या जरूरत? और माई रुक गई, सुबोध बकता रहा, माई ने साड़ी बदली, चौके में चली गई।"[46] दादा और बाबू की इच्छाओं और आदेश के समक्ष माई का मन और इच्छाएँ कोई मायने नहीं रखता है। यहाँ "जमींदारी सोच के दादा हैं, पुरुष वर्चस्व व्यवस्था की अंग बन चुकी चटोरी दादी हैं और हैं पिलपिले स्वभाव के बाबू। उन सबके बीच माई ने अपने आपको इतना झुका लिया है कि कमर ही हमेशा के लिए झुक गयी। ड्योढ़ी में ही खटर-पटर करती अपने को वह कैद कर

लेती है।"[47] वह पुरुष वर्चस्व के समक्ष स्वयं को शालीनता से समर्पित कर देती है। पितृसत्ता ने स्त्री से हमेशा 'समर्पण' की ही अपेक्षा की है।

"त्याग करना और कुछ पाना हमारे यहाँ की सदियों पुरानी प्रथा है। माई कष्ट सहके त्याग करती, दूसरे कुछ पा जाते। व्रतों की ही लम्बी फेहरिस्त थी जो सारे के सारे वह रखती थी। अहोज, तीज, लल छट, बृहस्पत सोमवार, शिवरात्रि, गणेशचतुर्थी, ज्यूतिया। कोई पति की मंगलकामना के लिए, कोई पुत्र के लिए, संतान के लिए।"[48] स्त्री को शारीरिक कष्ट देने का एक और जरिया हैं ये तमाम व्रत। पितृसत्तात्मक नियमावली में ऐसा कोई विधान नहीं है कि पुरुष अपनी पत्नी या पुत्री की मंगलकामना के लिए भूखे-प्यासे रहकर कोई व्रत रखे। यह बात भी ध्यान देने की है कि स्वयं औरतों द्वारा किए जाने वाले इन तमाम व्रतों में कोई भी व्रत ऐसा नहीं है जो पुत्री की सलामती और मंगलकामना के लिए किया जा रहा हो, या ऐसा कोई व्रत नहीं है जो बेटियों की दीर्घायु की कामना से जुड़ा हुआ हो। एक बात और यह कि औरतों पर यदि व्रत करने का कोई दबाव न भी हो तो बचपन से ही पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा उनकी मेंटल कंडीशनिंग इस भांति की जाती है कि वे 'व्रत' करना अपना धर्म मानती हैं, और पितृसत्ता के सम्मुख कोई प्रश्न नहीं उठाती हैं। मानों ऐसा करके वे पितृसत्ता के समक्ष अपने महत्वपूर्ण कर्तव्य का निर्वाह कर रही हों। व्रत की इस एकतरफा पितृसत्तात्मक अवधारणा के प्रति आज 21वीं. सदी में भी कोई स्पष्ट समझ औरतों में नहीं बन पाई है।

दादी पितृसत्तात्मक व्यवस्था की जबरदस्त हिमायती है। भारतीय समाज में दादी जैसी ही अनेक स्त्रियाँ आसानी से मिल जाएंगी, जो अपने स्वार्थ और एशोआराम के लिए पुरुष और स्त्री के बीच खींची गई विभेदक रेखा को उचित ठहराती आईं है। पितृसत्ता ने स्त्री-पुरुष के लिए सौन्दर्य के भी दो प्रतिमान निर्धारित किए हैं। स्त्री के लिए सुन्दर होना मानो वरदान है अन्यथा उसका समय तो ताने सुनने में ही चला जाएगा। सुनैना को भी

इस स्थिति का सामना करना पड़ा। सुनैना बताती है कि "दादी सुबोध को काला कभी नहीं कहतीं और जब बचपन में मैंने इस बात पर शिकायत की, तो वे अपने उस्तादी अंदाज में, "खै...खै..." पोपले मुँह से ठिलठिला पड़ीं, "ऊ त बहरा घूमेला, घामा में, एही से रंग दब गइल बा। वइस हूँ लइका ठहरल लइका, घी क लडुआ टेढ़ऊ भला, खै...खै...।"[49] स्त्री के सौंदर्य को लेकर यह अनावश्यक चिंता केवल पुरुष दृष्टी की परिचायक है। अन्यथा सौंदर्य तो बहुआयामी हो सकता है। केवल शारीरिक बुनावट से इतर मन और बुद्धि का सौन्दर्य कहीं ज्यादा मायने रखता है। लेकिन पितृसत्ता केवल शारीरिक सौन्दर्य की ही हिमायती है क्योंकि स्त्री वहाँ मात्र उपभोग की वस्तु और मन बहलाने का साधन है।

स्त्री को कभी उसके वास्तविक रूप में देखा ही नहीं गया। उसके अस्तित्व की सार्थकता को पहचानने की कोशिश ही नहीं की गई। यदि हम 'माई' को एक व्यक्ति के रूप में ध्यान से देखें तो यह बात स्पष्टत: नजर आती है कि पुरानी पितृसत्तात्मक पीढ़ी (दादा-दादी, बाबू) उसे परम्परा की दुहाई देती रही और नई आधुनिक पीढ़ी (सुबोध, सुनैना) उसे कुछ और 'बनाना' चाह रही थी। लेकिन एक 'व्यक्तित्व' के रूप में वह हमेशा अनुत्तरित प्रश्न ही बनी रही। माई की मृत्यु के बाद सुनैना को एहसास होता है "लगाकि हम समझने ही वाले थे पर इतना बड़ा धोखा हो गया हमारे साथ अब कहाँ से फिर शुरू करें माई के संग जीना कि वह हमारे नहीं, अपने ही रूप में हमें दिखाई दे? एक अलग माई, न बाबू, दादा की गढ़ी, न हमारी गढ़ी। अपनी ही साँसों से भीजी-भीजी।"[50] पितृसत्ता स्त्री को अपने तरीके से, अपने अनुरूप चलाने की इस भांति अभ्यस्त हो चुकी है कि स्त्री जो कि साधन है, चाहे उसकी कमर झुके या रीढ़ की हड्डी घिस जाए उसे 'स्त्री के लिए निर्धारित' कार्यों को अंजाम तो देना ही है। और 'माई' (स्त्री की प्रतिनिधि) आजीवन ऐसा ही करती रही।

कठगुलाब - स्त्री चाहे किसी भी वर्ग की हो या किसी भी देश की पितृसत्ता की गिरफ्त से कहीं भी मुक्त नहीं है। 'कठगुलाब' उपन्यास में भिन्न-भिन्न वर्ग की स्त्रियों के जरिए पितृसत्तात्मक शिकंजे की सूक्ष्म शिनाख्त की गई है। "मृदुला गर्ग के सामने अब अहम सवाल अपने स्त्री पात्रों को प्रेम का पाठ पढ़ाना नहीं वरन् प्रेम प्रवंचना के भावनात्मक हादसों से साबुत बचाकर रचनात्मक कार्यों में लगाना है। इसके लिए सबसे पहले जरूरी है कुटिल-खल-कामी पुरुष पात्रों की रचना यानी परिपक्व सौम्य जितने और प्रेम में आकंठ डूबे मधुकर (उसके हिस्से की धूप), उदारमना स्नेही महेश और प्लैटोनिक प्रेम के पर्याय रिचर्ड (चितकोबरा) के बरक्स ऐसे पुरुष की सृष्टि करना जो प्रकृत्या या तो ड्रैक्युला है या बकौल असीमा हरामी। नाम और चरित्र देकर मृदुला जब इनका विस्तार करती है तो जीजा (नमिता का पीटीआई और स्मिता का बहनोई) और गनपत (नर्मदा का बहनोई) दो अलग वर्गों एवं पृष्ठभूमि जन्म विभेदों को मिटाकर साली को हथियाने की पुरुषोचित लोलुपता का प्रतीक बन जाते हैं। जिम जारविस (स्मिता का मनोविश्लेषक पति) और इर्विंग हिटमैन (मारियान का लेखक पति) यदि अपने पेशेवर सूझबूझ का दुरुपयोग कर धूर्त, काइयां और मक्कार के रूप में उभरते हैं तो गैरी कूपर (मारियान का दूसरा पति) नाबालिग पुरुष के रूप में। असीम (असीमा का भाई) यदि हरामी नंबर दो तो प्रदीप (नीरजा का भाई) बेहया। कोमल मनोभावों को समझने और संरक्षित करने की ताब किसी में भी नहीं। जाहिर है लगभग सभी स्त्री पात्र अपने-अपने स्तर पर निजी जीवन में प्रेम की मुग्धावस्था/शून्यावस्था में पुरुष के शोषण का शिकार बनी हैं।"[51]

स्मिता का जीजा उसकी शिक्षा और भरण-पोषण की जिम्मेदारी उठाता है। लेकिन इसकी बड़ी भारी कीमत स्मिता को चुकानी पड़ती है। वही जीजा उसका बलात्कार भी करता है मानों भरण-पोषण की कीमत वसूल कर रहा हो। यह पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण ही है जहां स्त्री 'देह' के अतिरिक्त और 'कुछ नहीं' हो सकती है। वर्षों बाद अमेरिका प्रवास के दौरान स्मिता जब जिम जारविस नामक मनोविश्लेषक से विवाह करती है तब भी उसे इसी

बात का एहसास होता है कि पुरुष चाहे किसी भी देश का क्यों न हो स्त्री के समक्ष स्वयं को महत्वपूर्ण और गर्व से लबालब विजेता के रूप में ही देखना चाहता है। ऐसा न होने पर वह खीज उठता है। स्त्री के अस्तित्व-अस्मिता को निचोड़ता हुआ हमलावर बन जाता है। जैसा कि तमाम कोशिशों के बावजूद स्मिता के व्यक्तित्व की तहों को न समझ पाने पर जिम करता है "उसने यह सोचकर उससे शादी की थी कि वह अपनी विश्लेषीय क्षमता से उसकी चेतना को तार-तार कर देगा। उससे वह सब कहलवा लेगा, उन सब अवगुंठनों को खुलवा लेगा जो उसे 'मैं' बनाते थे। उसकी देह ही नहीं, उसका मन, स्मृति, चेतना, अर्धचेतना सब निर्वसन पड़े होंगे उसके सामने, और वह उन्हें रेशा-रेशा भोगेगा। वह उससे एक अनूठा, अद्भुत 'आरगैस्म' चाहता था। पर उसकी चुप्पी उसे बार-बार परास्त कर देती थी। हारकर वह हिंसक हो उठता था।"[52] पितृसत्ता ने ही पुरुष में इस भाव को जगाया है कि स्त्री केवल पुरुष की 'अहम तुष्टि' का साधन है। वह इस 'साधन' (स्त्री रूपी) को अपने अनुरूप प्रयोग कर सकता है।

कमोबेश हर देश में स्त्रियाँ घरेलू हिंसा का शिकार होती हैं। स्मिता को अपनी शर्तों के अनुरूप न चला पाने पर जिम उसे बेल्ट से पीटता है जिस कारण उसका गर्भपात हो जाता है और वह आजीवन निःसंतान ही रहती है। "उपलब्ध आकड़ों के अनुसार, अमेरिका में हर तीन मिनट में कोई स्त्री मार दी जाती है, या बलात्कार की शिकार होती है, या बुरी तरह पीटी जाती है।"[53]

मारियान एक अमेरिकी स्त्री है। क्या एक अमेरिकी स्त्री की स्थिति भारत या अन्य किसी भी देश में रह रही स्त्री से पूर्णतः अलग है? संभवतः कुछ मामलों में हो लेकिन एक स्त्री के बुनियादी मसलों के सन्दर्भ में तो स्थिति लगभग एक जैसी ही है। मारियान का पहला विवाह इर्विंग व्हिटमैन से हुआ था। इर्विंग एक उपन्यास लिखना चाहता था जिसमें वह मारियान की भरपूर मदद ले रहा था। मारियान माँ बनना चाहती थी लेकिन ऐसा होने

पर वह इर्विंग के उपन्यास के तथ्य जुटाने में मदद नहीं कर पाती। वह गर्भवती हुई भी लेकिन इर्विंग की हठ के कारण उसे एबॉर्शन करवाना पड़ा। इर्विंग अतिमहत्वाकांक्षी और बेहद स्वार्थी इंसान था। मारियान द्वारा जुटाए गए तथ्यों और सामग्री के आधार पर उसने उपन्यास लिख डाला और मारियान का कहीं जिक्र तक नहीं किया। उसने यहाँ तक कह दिया कि "कोई अनोखी बात नहीं की तुमने। डी. एच. लारेंस, स्कॉट फिटजैरल्ड और भी कितने लेखकों ने उपन्यास लिखते हुए, अपनी बीवियों के जनरल इस्तेमाल किए थे। जेल्डा फिटजैरल्ड ने तो अपनी मर्जी से दिया भी नहीं था। बिना सोचे-समझे चल दी थी कोर्ट में, ऐतराज दर्ज करने, आधी पागल जो थी। हुआ क्या? कोर्ट ने कानूनन फिटजैरल्ड को जेल्डा के जनरल का इस्तेमाल करने की इजाजत दे दी थी। साहित्य का इतिहास जानती भी हो कि खामखां चिल्लाए जा रही हो।"[54] यह तो स्पष्ट है कि पूरा इतिहास पुरुष की धोखेबाजी और अविश्वास की घटनाओं से भरा हुआ है।

इर्विंग का उपन्यास 'वुमेन ऑफ द अर्थ' छप कर काफी चर्चित भी हुआ था। यह उपन्यास मारियान द्वारा सालों की मेहनत से जुटाई गई सामग्री का संकलन था। एक लंबे अरसे तक साहित्य लेखन में पुरुष वर्चस्व कायम रहने के कारण साहित्य के सन्दर्भ में स्त्री की समझ और मेहनत की कोई नोटिस ही नहीं ली गई। मारियान कहती है कि "हो सकता है, एक दिन फेमिनिस्ट क्रिटिक इतने जोर पर आ जाए कि आलोचक खुद उसमें मेरी प्रमुख सहभागिता खोज लें। अभी तक तो हास्यास्पद विडंबना यह रही है कि पूरे विवाद के दौरान, नामी समीक्षक-आलोचक यह कहते पाए गये हैं कि इतिहास को इतनी शिद्दत और समझदारी से पुनर्निर्मित करने का काम कोई पुरुष ही कर सकता था। स्त्रियाँ न उतनी तटस्थ हो पाती हैं, न फैंटेसी की उतनी ऊँची उड़ान ही भर पाती हैं। धरती से जुड़ी, इतनी घोर प्रेग्मेटिक होती हैं औरतें कि एबस्ट्रेक्ट चिंतन और इतिहास-बोध, दोनों तात्कालिक अनुभूति के नीचे दब जाते हैं। हाथ-पाँव मारकर भावना के ज्वार के साथ बह लें तो बहुत समझो। पर सैन्सुअल और सेरबरल का समन्वय उनके बस का रोग नहीं है।"[55] मारियान

के चार उपन्यासों के प्रकाशन के बावजूद उस पर इर्विंग का प्रभाव माना जाता रहा। बकौल 'गॉसिप कॉलम' "इर्विंग व्हिटमैन और मारियान ब्रुक का संबंध-विच्छेद एक पब्लिसिटी स्टंट भर था। मारियान ब्रुक के उपन्यासों से साफ जाहिर था कि उनका आपसी मेल-जोल बना हुआ था और व्हिटमैन बराबर ब्रुक का 'लिखा' सुधारता रहता था।"[56] आज भी यह सच है कि औरत चाहे कितनी भी समझदार और निपुण लेखिका क्यों न हो, पुरुष के सहयोग के अभाव में उसके लेखन की कुशलता संभव ही नहीं मानी जाती है।

प्रारम्भ में ही यदि स्त्रियाँ चाहती तो कई मामलों में पितृसत्ता की मनमानी नीतियों का प्रतिकार कर सकती थीं। लेकिन कभी जानबूझकर तो कभी अनजाने ही वह सबकुछ को स्वीकार करती गईं। नर्मदा भी पितृसत्ता की ऐसी ही मनमानी का शिकार बनती है। उसका विवाह उसी के जीजा से कर दिया जाता है। सभी औरतें नर्मदा को समझाती हैं कि "बिरादरी की रीत है। दो बहनों से शादी में पाप ना हो है। कित्ते मरद कर चुके।"[57] बहन गंगा भी पति का साथ देती है क्योंकि मारपीट कर उसे राजी किया जाता है। पुरुष द्वारा स्त्री पर ऐसी 'हिंसा' एक आम बात है। हिंसा के साथ-साथ 'स्त्री देह' को मात्र 'उपभोग की वस्तु' भी समझा जाता रहा है। गनपत (नर्मदा का जीजा) का निम्न कथन स्त्री के प्रति पितृसत्ता के दृष्टिकोण को दर्शाता है "तेरा बाप कारूं का खजाना छोड़ गया है जो तेरे साथ तेरी बहन को भी पालूँ। पालूँगा तो इस्तेमाल भी करूँगा। बोल, कहाँ है तेरी माँ-जाई। तू क्या समझती है, तू नहीं बतलाएगी तो मुझे पता नहीं चलेगा...कहते-कहते उसने उसे जमीन पर गिरा दिया और पीठ पर लातें मारने लगा। "बोल। वरना चल, तुझे ही छोड़ आता हूँ पुलिस स्टेशन। इतनी बूढ़ी नहीं है कि मजा न दे सके। और नहीं तो यह मजा तो दे ही सकती है। औरत का जिस्म, भगवान ने मार खाने को ही बनाया है।"[58]

असीमा की माँ दरजिन बीबी ने पति से अलग होने के बाद बेटे असीम और बेटी असीमा को काफी मुश्किलों से लेकिन स्वाभिमान के साथ पाल-पोसकर बड़ा किया। इसके

बावजूद असीम ने अपनी माँ और बहन का साथ छोड़ अपने पिता का हाथ थाम लिया। "पितृसत्तात्मक व्यवस्था की सारी सहूलियतों और अधिकारों को आत्मसात कर वह हर कदम पर खुद को मर्द यानी हरामी यानी ड्रैक्युला साबित करता आया है, इस हद तक कि पिता जहां पदोन्नति करता-करता हरामी न. एक से हरामी नं. पच्चीस का खिताब पा गया है, वहीं असीम असीमा की नजर में आज तक वही पहले सा हरामी नं. दो ही बना है। औरत का सम्मान करने की तमीज तक नहीं उसे। ब्याह इसलिए किया कि मालदार सिंधी की लड़की फांस ली है उसने; ब्याह में माँ का आशीर्वाद इसलिए लिया ताकि माँ के गहने हथिया सके; बड़ी उम्र की नमिता से अवैध संबंध इसलिए बनाए कि उसके बिजनेस को मौका पाकर हड़प सके; पिता की रखैल को 'छोटी माँ' इसलिए कहा कि पिता का विश्वास जीत सके; और पिता की मृत्यु के बाद 'उस चुड़ैल' को इसलिए घर से निकाल दिया कि उस अथाह संपत्ति को बेखटके उड़ा सके।"[59] पितृसत्ता ने पुरुष को यह सहूलियत भी प्रदान की है कि वह किसी भी स्थिति को अपने पक्ष में करने के लिए तमाम छल-बल का प्रयोग सहज ही अख्तियार कर सकता है।

उपन्यास का एकमात्र कथावाचक पुरुष 'विपिन' यद्यपि नारी-समर्थक जान पड़ता है लेकिन वह एक ही समय में असीमा, स्मिता और अपने से उम्र में काफी छोटी नीरजा सबसे प्रेम करना चाहता है। नीरजा को तो वह अपनी संतानोप्लब्धि का जरिया ही मान बैठता है। वास्तव में "इस आदिम मानव का गंतव्य स्वतंत्र स्त्री को उसी बर्बर अतीत में ले जाना है, जहां से वह यहाँ तक पहुंची या पहुंचाई गई है। स्त्री से व्यक्ति बनती औरत को फिर से भेड़-बकरी बनाने के इस सुनियोजित-सुविचारित षड्यंत्र को पुरुष-सत्ता के शब्दों में 'यौन-क्रांति' कहकर व्यापक स्तर पर प्रचारित-प्रसारित किया जाता रहा है।"[60]

उपन्यास में विपिन को छोड़कर (अधिकांश मामलों में नारी समर्थक ही ठहरता है) आए सभी पुरुष पात्र जीजा, प्रदीप, गनपत, जिम जारविस, इर्विंग व्हिटमैन, गैरी कूपर,

असीम आदि किसी न किसी रूप में स्त्री शोषक ही ठहरते हैं। विभिन्न वर्ग और देश से ताल्लुक रखने के बावजूद पितृसत्ता के अंतर्गत स्त्रियों की लगभग एक जैसी स्थिति का लेखिका ने बखूबी चित्रण किया है।

आवां - पितृसत्ता का वर्तमान स्वरूप सदियों से समाज द्वारा अपनाए गए आचरण का प्रतिफल है। 'आवां' उपन्यास में पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था के तहत आधुनिक सन्दर्भों में स्त्री की स्थिति, उसके संघर्ष और परिणति को बखूबी अभिव्यक्त किया गया है। शिक्षा विकास की बुनियादी शर्त है। लेकिन आज भी लड़कों की तुलना में लड़कियों की शिक्षा को कम आंका जाता है। उनकी शिक्षा को केवल विवाह से जोड़कर देखा जाता है। नमिता की माँ भी लड़का-लड़की में भेद करने से नहीं चूकती है। नमिता बताती है कि पिता के लकवाग्रस्त हो जाने के बाद माँ ने भाई की अंग्रेजी स्कूल में पढ़ाई जारी रखी लेकिन "मोटी फीस के चलते माँ ने बहन को अंग्रेजी स्कूल से निकालकर हिन्दी स्कूल में डाल दिया। पढ़ाई छुड़ाई नहीं, वही गनीमत है।"[61]

वर्तमान समय में स्त्रियाँ घर या कार्यक्षेत्र कहीं भी पूर्णत: सुरक्षित नहीं हैं। अधिकांश मामलों में स्त्रियाँ पुरुष के वर्चस्व के कारण अपने साथ हो रहे दैहिक शोषण के खिलाफ मुँह नहीं खोल पाती हैं। बचपन में नमिता के मौसा जी ने ही उसका दैहिक शोषण किया था। तब माँ ने भी उसका साथ नहीं दिया था। आगे चलकर 'कामगार अघाड़ी' में नौकरी के दौरान वहां के प्रमुख अन्ना साहब ने नमिता को 'बेटी' की तरह नहीं बल्कि एक 'स्त्री-देह' के रूप में देखा। उसे अपनी कामेच्छा की पूर्ति का साधन समझा उन्होंने दो टूक शब्दों में नमिता से कहा "साफ कहूँ तुमसे? साफ कहने का मैं आदि हूँ। देखो, दोस्त की बेटी हो तुम, बेटी नहीं हो मेरी। पिता समान हूँ मैं तुम्हारा, पिता नहीं हूँ। रिश्ते की इस गहन अंतर्सूक्ष्मता को महसूस कर लोगी तो संबंध से स्वयं को शोषित अनुभव नहीं करोगी।"[62] अन्ना साहब न केवल 'कामगार आघाड़ी' के प्रमुख हैं बल्कि श्रमिकों के उद्धारक भी माने

जाते हैं। वास्तव में कार्यस्थल पर पुरुष वर्चस्व से युक्त अन्ना साहब जैसे तमाम लोग मिल जाएंगे जो विरोधाभासी व्यक्तित्व ओढ़े रहते हैं।

उपन्यास में आया पात्र 'पवार' दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। वह अधिकांश जगहों पर रूढ़ पितृसत्तात्मक नियमावली का पक्षधर जान पड़ता है। पवार की पुरुषवादी मानसिकता के अनुसार स्त्री को केवल जननी बनकर ही सार्थकता मिल सकती है और समाज के लिए भी यही श्रेयस्कर होगा। उसके अनुसार "फेंटे में तलवार कसकर निकलने पर भी समाज में तुम लोगों का सुरक्षित रह पाना संभव नहीं। सुरक्षा इसी में है कि समय रहते किसी योग्य घर-वर के संग सप्तपदी कर लो। घर-आंगन में झाड़ू-बुहार करते पति के बच्चे जनो और जने हुओं का काजल-टीका करते हुए उन्हें देश-समाज का सुदृढ़ नौनिहाल बनाओ...इक्कीसवीं सदी के पहले दशक के बीतते, न बीतते सम्पूर्ण विश्व की सन्नारियाँ गहरे चिंतन-मनन करने लगेंगी कि उनका एकमात्र श्रेष्ठ स्वरूप जननी है- केवल जननी। माँ होना ही उनके स्त्रीत्व की सार्थकता है।"[63] वह परमपुरातन रूढ़ स्त्रीत्व की अवधारणा को बनाए रखने का जबरदस्त समर्थक है। वह नमिता को सम्मान देने अथवा बेहतर जीवन देने के लिए उससे विवाह नहीं करना चाहता बल्कि वह नमिता के जरिए सामाजिक और राजनीतिक प्रतिष्ठा अर्जित करना चाहता है। "उसका मानना है कि जीवन-साथी के रूप में ब्राह्मण और दलित का गठबंधन सुन्दर, बुद्धिमती संतानें ही नहीं देगा, राजनीति में भी फलदायी समीकरण सिद्ध होगा। सवर्ण-अवर्ण दोनों के वोट झोली में होंगे।"[64] पवार जैसे पुरुष जातिवादी सन्दर्भों को खत्म करने के स्थान पर अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति हेतु और अधिक बढ़ावा देते हैं।

स्त्रियाँ भी जब पितृसत्ता की समर्थक हों तो यह मान लेना बेमानी हो जाता है कि हमारे समाज में 'स्त्री चेतना' पूर्णत: आ चुकी है। नमिता की माँ भी हमेशा अपनी बेटियों के साथ पितृसत्तात्मक व्यवहार करती है। लड़का-लड़की का भेदभाव उनकी दृष्टि में

स्पष्टतः देखा जा सकता है "नमी की जगह आज हमारा जवान बेटा होता तो आपद-विपद का सहारा होता। मान लिया लड़की कमा-धमा रही- लड़कों के बराबर कमा रही, मगर ठहरी चार दिन की चांदनी! दफ्तर में किसी से लप्पा-डुग्गी हुई नहीं कि मिनट खांड नहीं लगेगा प्रेम में अनारकली बनते। लड़के की बात जुदा! सलीम बन भी जाए तो अनारकली आती तो अपने ठियां-ठिकाने!"[65] नमिता की माँ सर्वत्र पितृसत्ता का भरपूर पोषण करती है। पति की मृत्यु के बाद वह नमिता द्वारा पिता को मुखाग्नि देने का विरोध बहुत कड़वे शब्दों में करती हुई कहती है "दिमाग तो नहीं चल गया तेरा नागिन, जो बैठे-ठाले अलाय-बलाय बकने लगी? न मैं बांझ हूं, न छूंछी! कुलदीपक बेटा जना है मैंने! जना है तो भला किस दिन के लिए जना है? बोल?"[66] पितृसत्ता की सूक्ष्म बुनावट में स्त्री इस प्रकार रच-बस गई है कि उसे अपने स्त्रीत्व की महत्ता का आभास ही नहीं रह गया है।

निसन्देह एक स्त्री के खिलाफ एक अन्य स्त्री का प्रयोग पितृसत्ता की कुचाल है। अंजना वासवानी और गौतमी द्वारा संजय कनोई के एजेण्ट के रूप में कार्य किया जाना इसका प्रमाण है। यद्यपि ये स्त्रियाँ निर्दोष नहीं हैं। अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए वे अपनी ही समानधर्मा स्त्री को महज एक 'वस्तु' के रूप में देखती हैं। उपभोक्तावाद का इससे घिनौना और क्रूर रूप क्या होगा। एक पुरुष (संजय कनोई) पूंजी के बल पर दो स्त्रियों के साथ मिलकर अपनी अति महत्वाकांक्षा को पूरा करने के लिए उस स्त्री की कोख को हथियाने का पूरा जाल बुनता है। अकस्मात् नमिता का गर्भपात हो जाने पर संजय कनोई के मुख से अंततः छदम का सारा भेद खुल जाता है। संजय के शब्दों में "जानती हो? बाप बनने के लिए मैंने तुम्हारे ऊपर कितना खर्च किया? उस मामूली औरत अंजना वासवानी की औकात है कि तुम्हारे ऊपर पैसा पानी की तरह बहा सके? उसका जिम्मा सिर्फ इतना-भर था कि वह मेरे पिता बनने में मेरी मदद करे और सौदे के मुताबिक अपना कमीशन खाए।...मैं रंडियों से बाप नहीं बनना चाहता था...मुझे सिर्फ उस लड़की से औलाद

चाहिए थी जो पेशेवर न हो... पवित्र हो, जो मुझ से प्रेम कर सके। सिर्फ मेरे लिए माँ बने।"[67]

पितृसत्ता अपने विभिन्न रूपों के साथ हर वर्ग और समाज में व्याप्त है। स्त्री अपने अस्तित्व और अस्मिता की तलाश घर के भीतर करती है तो वहां मौसा, कुंती मौसी जैसे लोग मौजूद हैं। यदि बाहर की दुनिया में आत्मनिर्भरता और परिपक्व व्यक्तित्व की खोज के लिए निकलती है तो अन्ना साहब, संजय कनोई, पवार जैसे पुरुष और अंजना वासवानी, गौतमी, निर्मला जैसी पितृसत्ता की पैरोकार स्त्रियों की एक बड़ी जमात मौजूद है। वास्तव में 'आवां' उपन्यास में वर्णित पितृसत्ता एक ऐसे समय का सच है जब सारे संबंधों के केन्द्र में 'पूंजी' निहित है। चित्रा मुद्गल ने पितृसत्ता के ताने-बाने में रचे-बसे उपभोक्तावादी समाज और संस्कृति के भीतर स्त्री जीवन के नग्न यथार्थ को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है।

प्रमुख स्त्री चरित्र एवं मुक्ति का प्रश्न

तत्-सम - तत्-सम उपन्यास की नायिका और सबसे प्रमुख स्त्री पात्र तो वसुधा ही है, लेकिन वसुधा की माँ, भाभी, उसकी सहेली रूथ और कल्पना भी समाज में स्त्री के विविध रूपों के परिचायक हैं। " 'तत्-सम' के सारे पात्र 'व्यक्ति' होते हुए भी 'प्ररूप' (टाइप) हैं। वसुधा अपने सारे निजीपन के बावजूद आधुनिक भारतीय नारी के एक बड़े वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है।"[68] वह अपने जीवन की तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में 'स्त्री मुक्ति' के प्रश्न को भी उजागर करती है।

वसुधा एक पढ़ी-लिखी, नौकरीपेशा युक्त, 30 वर्ष की विधवा स्त्री है। उसके पति की एक दुर्घटना में आकस्मिक मृत्यु हो जाने के कारण वह स्वभाव से अंतर्मुखी हो जाती है, इसीलिए "उसके जीवन के अधिकतर प्रसंग पाठक को वसुधा के द्वारा मानसिक रूप से

दोबारा भोगे जाते रूप में प्राप्त होते हैं। इस कारण प्रसंगों में एक ऐसी भावाकुल मानसिकता जुड़ गयी है जिसका स्वाद अभूतपूर्व है। वसुधा के मन की पीड़ा, द्वंद्व, बेचैनी, अवसाद, जड़ता सबका चित्रण गहरी संवेदना के साथ किया गया है।"[69]

वसुधा एक विधवा स्त्री है, इसलिए सब उसे दया और सहानुभूति का पात्र समझते हैं। वह एक विधवा स्त्री के प्रति इस प्रकार की अतिरिक्त दया की तनिक भी पक्षधर नहीं है, इसलिए कहती है "क्या उन्हें पता है दुखते स्थलों पर ही दबाव देती है उन सबकी सावधान उँगलियाँ। घूम-फिरकर जताया जाता है कि अब तक तो सब ठीक था। वह सामान्य थी- जीवन की धूप, ताप, दाह सब सह सकती थी। अब दग्ध है- लुटी हुई। पिटी हुई। दया से, करुणा से, अतिरिक्त सहानुभूति से उसे बचा-संभालकर रखा जाए। बीच सड़क चलने की सामान्यता से अधिकार से बरखास्त करके फुटपाथ पर खड़ा कर दिया जाए। क्या उन्हें पता है कि यही बचाव-संभाल, यही क्षमाभाव, किसी-न-किसी प्रकार के अतिरिक्त से लचकी हुई आत्मीयता कितनी फेंक देती है पीछे।"[70] वस्तुतः वसुधा हर हाल में स्त्री के 'स्वतंत्र व्यक्तित्व' की पक्षधर है।

वसुधा का व्यक्तित्व सबल है। वह आत्मदया और लोगों की अनायास उमड़ पड़ी सहानुभूति को परे ढकेल देना चाहती है, लेकिन पितृसत्ता द्वारा निर्मित स्थितियाँ बाधा हैं। वह सोचती है "एक व्यक्ति क्या गया कि किसी अपराधी के जीवन के ब्यौरों की तरह उधड़ गई जिंदगी। हक मिल गया हर किसी को टिप्पणी करने का।...'कुछ' था जो नहीं रहा तो कुछ नहीं रह गई वह। 'कुछ' था तो सब कुछ थी वह। सार्थकता- अपनी भी- इतनी बेगानी है क्या? मात्र ओढ़ी हुई। एक दोशाला थी जैसे। किसी और की थी। किसी और की देह पर थी। साथ चलते ओढ़ा दी गई। राह खत्म हो गई - कैसे भी। उतार ली गई। नंगा कर दिया गया।"[71] आखिर क्या कारण है कि एक पुरुष के बिना एक स्त्री 'कुछ' नहीं रह जाती है? उसे एक पूर्ण और समर्थ मनुष्य की तरह क्यों नहीं समझा जाता है? " 'सार्थकता' और

'पुरुष'- यह दोनों एक ही चीज के नाम क्यों हैं स्त्री जीवन में? इतनी बड़ी जगह क्यों घेर ली है इस सम्बन्ध ने कि हर चीज की व्याख्या इस बिन्दु से ही होने लगे।"[72] वस्तुतः वसुधा के अंतर्मन में उठे ये तमाम प्रश्न स्त्री के अस्तित्व और उसकी पहचान की सार्थकता से जुड़े हैं।

वसुधा निखिल से आत्मीय रूप से जुड़ी हुई थी। इसी गहन भावनात्मक संबंध के कारण वह लम्बे समय तक अपने अतीत में ही आबद्ध रह जाती है। लेकिन जब वह विवेक से मिलती है तो उसके दुःख और अवसाद को देखकर उसके भीतर जीवन के प्रति नवीन दृष्टि का संचार होता है। अतीत से पूरी तरह आबद्ध विवेक से वह कहती है कि "जीते जी यह हिसाब नहीं चल सकता। एक पैर चलता हुआ, दूसरा ठहरा हुआ। या तो एक चल पड़े या दूसरा भी ठहर जाए पर इन दोनों में से कुछ भी तो नहीं हो सकता है। फिर ठहरे हुए पैर को पता भी क्या...वह तो सुख-दुख से परे है, जबकि चलते हुए पैर का मुकाबला चलती हुई दुनिया के साथ है।"[73] यह एक विधवा स्त्री का जीवन के प्रति केवल दार्शनिक तर्क ही नहीं, बल्कि एक चेतना सम्पन्न व्यक्ति द्वारा जीवन की कटु सच्चाई से सीधा साक्षात्कार भी है। मधुरेश लिखते हैं कि "राजी सेठ के यहाँ स्मृति अपनी सारी सघनता में भी उनके पात्रों की जिजीविषा को कुंठित नहीं कर पाती जैसा निर्मल वर्मा के यहाँ प्रायः होता है। राजी सेठ कहीं भी स्मृति का रोमानीकरण नहीं करतीं। स्मृति और जिजीविषा की बहस में वह निश्चित रूप से जिजीविषा का वरण करती हैं। स्मृतियाँ उनके यहाँ चैतन्य की नदी में धूमिल टुकड़ों की भाँति यहाँ वहाँ बिखरी है। उनसे कभी भी वर्तमान को आक्रांत करने का काम नहीं लिया जाता है।"[74]

उपन्यास में 'रूथ' का चरित्र एक सशक्त चेतनासम्पन्न लड़की के रूप में दर्शाया गया है। रूथ कॉलेज के दिनों में वसुधा की रूममेट हुआ करती थी। वह एक विदेशी लड़की है जो "अपनी थीसिस के सिलसिले में भारत आई थी। वह अनाथ जरूर थी। मिशनरियों में पाली-

पोसी गई थी पर व्यक्तित्व था कि दुर्भाग्य की दीनता-दयनीयता से पूरी तरह से अछूता। स्वभाव में अपने विश्वासों की जकड़ ही नहीं, स्वीकार करा सकने की हठधर्मी भी अचूक है।"[75] ऐसे समृद्ध व्यक्तित्व वाली रूथ वसुधा को कॉलेज के दिनों में ही मुक्ति का मार्ग दिखाने का प्रयास करती है। वह तटस्थ भाव से वसुधा को अपने आईने में रूढ़ियों से जकड़ी भारतीय संस्कृति को दिखाती है। वह कहती है "जानती हो बड़े-से-बड़े दुःख से निकलने का रास्ता हमारी कल्चर में है...तुम लोग लेकर बैठ जाते हो...शहादत का कोई मौका छोड़ना नहीं चाहते। सारी हिम्मत सहने के लिए क्यों, जीने के लिए क्यों नहीं...। वह भी क्या कोई छोटा चैलेन्ज है? बल्कि एडवर्सिटी से निकलने के लिए कहीं ज्यादा हिम्मत चाहिए होती है। वन् नीड्स मोर रिजिस्टेंस...मोर लाइफ फोर्स। बैठे रहने या समझौता कर लेने में कौन बड़ा चैलेंज है।"[76] रूथ भारतीय संस्कृति के उस पक्ष की ओर ध्यान आकृष्ट करती है जहाँ 'दुःख को सह सकने की अंदरूनी तैयारी' जैसा कोई संस्कार अथवा दीक्षा दिखाई नहीं पड़ती है। विशेष रूप से लड़कियों को तो बचपन से ही नाजुक और कमजोर समझा जाता है। उन्हें हिफाजत की वस्तु समझा जाता है। यहीं कारण है कि जब एकाएक उन पर परिस्थितियों की मार पड़ती है तो वे पूर्णतः नियतिवादी हो जाती हैं। इसीलिए रूथ लड़कियों के लिए 'जरुरी दीक्षा' और 'चेतनासम्पन्नता' की बात करती है। वह कहती है "जीवन में दुःख किसी-न-किसी कारण से बना तो रहता है, यह तो मानोगी, फिर इसे स्वीकार भाव से क्यों न लिया जाय। दुःख जरुरी है तो दुःख को सह सकने की दीक्षा भी जरुरी। यह क्यों न माना जाए कि तुम लोगों की जीवन पद्धति में दीक्षा का कोई स्थान ही नहीं है, न ही जरुरी चीजों के प्रति तैयारी की कोई चेतना।"[77] रूथ भारतीय लड़कियों को पूरी तरह 'कंडीशंड' मानती है। वह हमेशा "पासिबिल्टीज ऑफ लाइफ"[78] की बात करती है। अब यदि हम रूथ की बातों को वसुधा अथवा किसी भी विधवा स्त्री के सन्दर्भ में देखें तो कह सकते है कि 'मुक्ति' का अर्थ किसी की स्मृतियों से मुक्त हो जाना नहीं है बल्कि स्मृतियों में ही न सिमटकर भविष्योन्मुख होना भी है।

उपन्यास की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि यहाँ वसुधा के मायके वाले उसका पूरा साथ देते हैं। विवाह से पूर्व वसुधा के बाबूजी उसे पढ़ने-लिखने का पूरा अवसर देना चाहते हैं। उड़ान भरने की इच्छाशक्ति को और तेज हवा देना चाहते हैं। इसीलिए माँ द्वारा बार-बार जल्दी विवाह कराने का दबाव डालने के बावजूद वे कहते हैं कि "ऐसी बच्ची को फलने-फूलने का पूरा अवसर मिलना चाहिए। कहाँ फूल-फल पाती हैं लड़कियाँ।...बस वही एक ढर्रा...तुम भी आखिर कैसे गुजार रही हो अपनी जिंदगी। वह भी क्या कर लेगी...। तुम इस बात को नहीं समझ पाओगी। योग्य को अवसर और अधिकार दोनों ही मिलना चाहिए।"[79] विवाह के बाद निखिल की अचानक मृत्यु हो जाने से वसुधा एकदम अकेली पड़ जाती है। इस घटना का उसके जीवन पर गहरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। वह जड़ हो जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि किसी विशेष काल और परिस्थिति ने उसके जीवन को अवरुद्ध कर लिया हो। ऐसे समय में वसुधा को शरत भैया तमाम उदाहरण देकर जिन्दगी में आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। शरत भैया के शब्दों में "जूता टूट गया दूसरा ले आओ। घड़ी बिगड़ गई है दूसरी खरीद लो। कपड़ा फट गया, दूसरा सिलवा लो और यह जीती-जागती जिन्दगी?...अरे! सारे कायदे-कानून, सारी रोक-टोक जिन्दगी को डूबोने के लिए है...एक उसे ही नाकाम कर देने के लिए...।"[80] वास्तव में पितृसत्ता स्त्रियों को प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ने के लिए पर्याप्त हौसला, शक्ति और सजगता नहीं देती है, बल्कि पितृसत्तात्मक समाज में अधिकांशतः लड़कियाँ नियतिवादी होती हैं। शरत भैया ऐसी नियातिवादिता के खिलाफ हैं। वह न केवल वसुधा के पुनर्विवाह की पहल करते हैं, बल्कि उसे भी सबल बनने और नियतिवादिता से उबरने की बार-बार सलाह देते हैं। "पसंद नहीं है उन्हें ऐसे वर्तमान को अंतिम नियति मान कर बैठ जाना। उनके अनुसार समझदार की दृष्टि आगे तक जाती है, और यह भी कि समझ अपने पास न हो तो अपने हितैषियों की समझ से काम ले लिया जाये।"[81] शरत भैया की पूरी पहल, सारी कोशिशें अपनी विधवा बहन को परंपरागत रूढ़िगत सामजिक बन्धनों से 'मुक्त' करा ले जाने की है। लेखिका

द्वारा वसुधा के मायके वालों विशेष रूप से उसके भाई द्वारा दिए गये सहयोग का विस्तृत वर्णन किया गया है। यह इस बात की तरफ स्पष्ट इशारा है कि यदि विधवा स्त्री का साथ देने की, उसे जीवन में आगे बढ़ने की प्रेरणा देने की कोशिश सबसे पहले उसके परिवार वाले करते हैं तो दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों के ये थपेड़े उसके लिए दुसह नहीं रह जाते हैं। भारतीय परिप्रेक्ष्य में ऐसे परिवार के उदाहरण आज भी कम ही देखने को मिलते हैं, फिर भी पूर्व की अपेक्षा परिस्थितियाँ बदल रही हैं।

दक्षिण भारत की यात्रा पर निकली वसुधा की भेंट जब आनंद से होती है तो वहाँ उन दोनों के बीच स्त्री की गुलामी के सन्दर्भ में एक लम्बी बहस होती है। जहाँ पितृसत्ता के तहत स्त्री की 'स्वतंत्र हैसियत' न होने के प्रश्न पर वह काफी हद तक इसके लिए स्त्री को ही दोषी ठहराता है। वह कहता है "अपनी स्वतंत्र हैसियत को न पा सकने के पीछे भी तो बहुत सी बातें हैं। उसे भी दुनिया की और भी बहुत सी चीजों की तरह कमाना पड़ता है। योग्य को वह अधिकार खुद ही मिल जाता है। सवाल पात्रता का है, किसी के भी लिए- स्त्री हो या पुरुष।"[82] आगे एक स्थान पर वह कहता है कि "अपनी पात्रता को पाने की लड़ाई अपने से बाहर शुरू नहीं हो सकती। कोई चाहे तो अपने आस-पास की जमीन से अपना वजन कम कर सकता है। अक्सर देखा होगा जो समाज से शुरू करता है वह अपना घर भी ले डूबता है, जबकि अपने से समाज तक ले जाने वाले आदमी के अन्दर से कितने ही उपयोगी प्राणी निकल आते हैं।"[83] स्त्री चेतना और स्त्री मुक्ति के लिए की जा रही तमाम कोशिशों के सन्दर्भ में आनंद की यह बात उचित जान पड़ती है कि प्रत्येक स्त्री को व्यक्तिगत रूप से अपनी 'मुक्ति' का प्रयास करना चाहिए। आवश्यक नहीं है कि लड़ाई हमेशा समूह में जीती जा सके। परंपरागत रूढ़ियों और बन्धनों को तोड़ने का व्यक्तिगत प्रयास भी एक दिन सम्पूर्ण स्त्री समुदाय की मुक्ति का कारण बन सकता है। पितृसत्ता द्वारा स्त्री की गुलामी के तमाम पुख्ता तर्कों के बावजूद इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि "मुक्ति जैसी चीज कोई किसी को नहीं दे सकता (उसे स्वयं अर्जित करना पड़ता

है, अपने ही भीतर से), वैसे ही, जैसे बंधन भी कोई किसी को नहीं दे सकता। वह भी बंधन के प्रति अपने स्वीकार से ही पैदा होता है।"[84] आज स्त्रियाँ पितृसत्ता के बेवजह बन्धनों को धीरे-धीरे ही सही पर नकारने लगी हैं।

उपन्यास के अंत में वसुधा द्वारा विवेक को न अपनाकर आनंद को अपनाना उसकी चेतनासम्पन्नता, स्थितियों को भली-भाँति समझ पाने की क्षमता का विकास और एक स्त्री द्वारा अपने जीवन के सन्दर्भ में 'स्वतंत्र निर्णय' लेने की सक्षमता का उत्तम उदाहरण है।

लेखिका ने उपन्यास में केवल पुनर्विवाह के प्रश्न को ही नहीं उठाया है बल्कि उससे भी कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है उपन्यास के प्रारम्भ में अतीतबद्ध होकर रह जाने की चाह रखने वाली वसुधा का अंत तक आते-आते पूरी तरह सकारात्मक रूपांतरण हो जाना। लेखिका ने वसुधा के विधवा होने से लेकर पुनर्विवाह तक की पूरी यात्रा को दार्शनिक ढंग से बखूबी प्रस्तुत किया है। महत्वपूर्ण है 'पुनर्विवाह' के मसले पर सभी पात्रों के अपने-अपने तर्क और विचार। इसमें संदेह नहीं कि अंततः सार्थक तर्क और विचारों का विकास की 'मुक्ति' का पथ प्रशस्त कर पाने में सक्षम होते हैं।

शाल्मली- 'शाल्मली' उपन्यास की केन्द्रीय चरित्र 'शाल्मली' है। "शाल्मली सुशिक्षित, सुसंस्कृत और प्रशासन में प्रथम श्रेणी की पदाधिकारी है। जबकि उसका पति, नरेश, एक साधारण मानसिकता और औसत सांस्कृतिक स्तर का सेक्शन आफिसर है। इसका परिणाम है दाम्पत्य जीवन की कड़वाहट जिसे झेलने के लिए शाल्मली अभिशप्त है।"[85] शाल्मली अपने पति की तमाम कुंठाओं के बावजूद अपने अस्तित्व और परिस्थितियों के प्रति सचेत है। वह परिस्थितियों से सीधे समझौता नहीं करती और न ही तुरंत प्रतिक्रिया जाहिर करती है। वह हर चीज को तर्क की कसौटी पर परखती है। "शाल्मली का मस्तिष्क सदा मन पर भारी पड़ता है। शायद इसीलिए वह भावना के स्तर पर टूटकर बिखर नहीं पाती हैं। चाहे बी. ए. में दूसरी श्रेणी में पास होने का दुःख हो या मैनेजमेंट में दाखिला न मिलने की

कसक हो, हर कमी तर्कों के दर्पण में देखकर वह संतोष कर लेती थी कि हर वस्तु हर इंसान के लिए न बनती है, न मिलती है। इच्छा मात्र की उपलब्धि नहीं, जो उस मापदण्ड से जीवन नर्क या स्वर्ग बना डाला जाए। जीवन और उपलब्धियों का अपना एक तर्क है, अपना एक गणित है।"[86] आरम्भ से शाल्मली की प्रत्येक चीज के सन्दर्भ में ऐसी तर्कशक्ति को देखकर उसके पिता कहते हैं "देखना, एक दिन यह बड़ों-बड़ों के कान कुतर डालेगी। खूब नाम कमाएगी। मेरा सर ऊँचा करेगी।"[87]

शाल्मली परम्पराओं और संस्कारों का पालन करने वाली एक समर्पित पत्नी है। परंपरा और आधुनिकता का समंजन एक साथ उसमें देखा जा सकता है। एक तरफ वह रीति-रिवाजों को भी मानती है और दूसरी तरफ हर चीज को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आलोक में भी परखती है। परंपरा और आधुनिकता का यह द्वंद्व उसके चरित्र की एक विशेषता है। इस द्वंद्व के कारण ही वह नरेश और अपने दाम्पत्य जीवन को बचाने के लिए तमाम समझौते करती है। लेकिन क्या ऐसा करने से शाल्मली को नरेश की पितृसत्तात्मक सोच से मुक्ति मिल पाई ? नरेश शाल्मली को शारीरिक और मानसिक रूप से लगातार पीड़ा ही पहुँचाता रहा। वह अपनी शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए भी जबरदस्ती शाल्मली से समर्पण करवाता रहा। उसके व्यवहार से आजिज आकर शाल्मली कहती है कि "मैं एक पल जी नहीं सकती! इतना वहशीपन, इतना दुर्व्यवहार आखिर किस लिए! गुस्से से पागल-सी हो गई शाल्मली। आँखे निकालकर जैसे उसे अंधे कुएं में किसी ने फेंक दिया हो। वह एक अजीब पीड़ा से छटपटा उठी थी। इस हद तक संबंधों और भावनाओं को कोई अपमानित कर सकता है। इस सीमा तक कोई निर्दय हो सकता है ! कहाँ आकर फंस गई वह...! यही मेरा भाग्य है! कारावास, यातना, अपमान, पीड़ा, छटपटाहट और एक बंद गली का अंधेरापन...!"[88] शाल्मली के भीतर नरेश के ऐसे व्यवहार के प्रति चेतना है। इसीलिए वह माँ द्वारा पढ़ाये गये भाग्य के पाठ पर प्रश्न चिह्न लगाती है। वास्तव में

भाग्यवाद का यह पाठ ही स्त्रियों को और अधिक शोषित होते जाने के लिए प्रेरित करता है।

नरेश के साथ अपनी गृहस्थी बचाने के तमाम समझौते करते हुए शाल्मली उससे यह कहना नहीं भूलती है कि "मान लो आज मैं सारे जतन करके तुम्हारी दृष्टि को आँख बंद करके अपना लूं और एक लम्बे समय तक तुम्हारी खुशी के लिए अपना पिछला जीवन भूल जाऊं। जब तुम्हारी मेहनत की महक की आदत पड़ जाएगी, तो एक दिन बेटा अपनी इच्छा के अनुसार मुझे ढालने की कोशिश करेगा। बताओ, हम औरतें क्या हैं? गीली मिट्टी? कितनी बार हम अपने को मिटाकर नये रूप में ढलें? यानि हमारा कोई अस्तित्व नही, अधिकार नहीं, विवाह का अर्थ है, अपना जन्म स्थान भुला देना और एक मनुष्य की इच्छा और रुचि का दास बन जाना ?"[89] शाल्मली के प्रश्न सदियों से अधीन की गई स्त्रियों के ही प्रश्न हैं। आज की स्त्री पिता, पति और पुत्र के गुलामी भरे संरक्षण से मुक्त होना चाहती है। वह स्वयं को एक व्यक्तित्व के रूप में स्थापित करना चाहती है।

शाल्मली अपने अधिकारों के प्रति सचेत है। वह जानती है कि अधिकार मांगने से नहीं मिलता है। अधिकारों की प्राप्ति के लिए कभी संघर्ष करना पड़ता है तो कभी समझौते तो कभी विद्रोह ही एकमात्र रास्ता बच जाता है। एक बार नरेश को बिना बताये शाल्मली अपनी माँ के घर चली गई, तो नरेश ने क्रोध जताते हुए शाल्मली को फटकारा कि वह औरत है और अपनी मर्यादा पहचाने। उसे नरेश को बताये बिना कहीं जाने का किसी भी प्रकार के निर्णय लेने का कोई अधिकार नहीं है। किन्तु शाल्मली नरेश के इस व्यवहार का प्रतिरोध करते हुए कहती है "मुझे अधिकार देने वाला भले ही तुम अपने को समझो, मगर याद रखो, कोई भी किसी को आसानी से उसका अधिकार नही देता है। अधिकार लेने वाला तो लड़कर उसे प्राप्त करता है।"[90]

शाल्मली और उसकी सहेली सरोज के बीच का वार्तालाप उसके जीवनानुभवों से प्राप्त प्रखर बौद्धिकता और मुखर आलोचकीय विश्लेषण क्षमता को दर्शाते हैं। शाल्मली सरोज से कहती है कि "मुझे ऐसा लगता है, सरोज कि हम औरतें संबंधों के लिए जीती हैं। उन्हें बांधते हुए क्षितिज के उस पार जाने का संकल्प ले बैठती हैं। हमारी गहराई और कोमलता हमारी कमजोरी कहलाती है और हमारे सम्बन्ध, बंधन...यह कहाँ का न्याय है ?"[91]

समय के साथ परिवर्तन एक अवश्यम्भावी घटना है। आज स्त्रियाँ सदियों से दासता से मुक्ति के लिए प्रयासरत हैं। अब वे प्रत्येक स्थिति को सहजता से स्वीकार नहीं कर लेती हैं। वे तेजी से बदली परिस्थितियों, स्त्री-पुरुष संबंधों और सामाजिक नियमों के प्रति विश्लेषणपरक रवैया अपनाती हैं। इसीलिए सरोज शाल्मली से कहती है "जिस तरह औरत अपनी केंचुली बदल रही है, उसी तरह मर्द भी बदल रहे हैं, मगर दोनों के बदलाव में बुनियादी फर्क यह है कि औरत अधिक गंभीरता से ले रही है, यह बदलाव, यह तेवर...और सचमुच वह सदियों की बेड़ियाँ तोड़ना चाह रही है और मर्द उसके इस रूप में आतंकित है, कुंठित है। देखों न, यहाँ ऑफिस में रोज कैसे-कैसे अनुभव होते हैं। हमारी प्रखरता, हमारी मुखरता इनसे सहन नहीं हो पाती है। ये चाहते हैं कि इस स्थान पर पहुँचकर भी इनके आगे-पीछे हम दुम हिलाते घूमें। तुम सोचती हो, वह कुंठित मर्द, पति बनकर सहज रह पाएगा?"[92] सरोज और शाल्मली के बीच के यह संवाद स्त्रियों में अपनी स्थिति और पितृसत्ता द्वारा प्रदत्त सदियों के दमन के प्रति सचेतनता के प्रमाण है।

शाल्मली स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व की पक्षधर है। इसीलिए वह "नरेश के कहने से अपनी ट्रेनिंग नहीं छोड़ती है। उसे लगता है कि इतना पढ़-लिखकर सिर्फ घरेलू कामों के सहारे वह अपना दिन नहीं गुजार सकती। आत्मावलोकन करने वाली शाल्मली जब अच्छी तरह जान जाती है कि उसके भीतर की औरत स्वतंत्र व्यक्तित्व की स्थापना करना चाहती है तो वह जीवन के रास्ते पर एक नए विश्वास के साथ आगे बढ़ने लगती है।"[93] शाल्मली

के भीतर अपने 'स्व' को जीवित रखने की ऐसी चेतना को देखकर उसकी सास कहती है "हम तो, बहू, री ! दासी थे। तुझे देखा, तो मन में सोचा कि चल कहीं तो औरत स्वतंत्र है। भयभीत भी हुई थी कि तू निभाएगी भी या नहीं? शहर की लड़की...बहुत बातें सुण राखी थीं। इन वर्षों में तुम्हारे साथ रहकर जान पाई, बहु, री, ! औरत जन्मजली कहीं स्वतंत्र नहीं। कहीं खूटें से तंग बंधी तो कहीं उसके गले में बंधी रस्सी थोड़ी लम्बी या अधिक लम्बी।"[94] शाल्मली भी इस बात से इत्तेफाक रखती है कि "औरतें मर्दों के घुटे घरों का रोशनदान होती हैं जिनके द्वारा उनके घरों में प्रकाश और हवा का गुजर होता रहता है और वह ताजा हवा का सेवन करते उसके अस्तित्व को लगातार नकारते रहते हैं।"[95] वास्तव में सदियों से स्त्रियों पर लादी गई पितृसत्ता की तमाम नियमावली को शनैः शनैः ही हटाया जा सकता है। शाल्मली द्वारा नरेश के कहने पर नौकरी न छोड़ना, नरेश की माँ का स्त्री की स्वतंत्रता पर विचार करना आदि से जाहिर होता है कि स्त्रियाँ चाहे वह पढ़ी-लिखी हों या अनपढ़, गाँव की हों या शहर की, अपनी मुक्ति को लेकर प्रश्न करने लगी हैं।

शाल्मली का सम्पूर्ण व्यक्तित्व तमाम खूबियों को अपने भीतर समेटे हुए है। वह आत्मनिर्भर, आदर्श बेटी और बहू, स्त्रियों के स्वतंत्र अस्तित्व की पक्षधर और अपने अधिकारों के प्रति सजग है। इसके बावजूद कई बार उसका व्यक्तित्व विरोधाभासी जान पड़ता है। वह परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व के बीच झूलती नजर आती है। नरेश द्वारा लगातार शारीरिक और मानसिक प्रताड़ना देने के बावजूद वह उससे सम्बन्ध विच्छेद नहीं करती है। सरोज द्वारा शाल्मली से नरेश के तलाक दे देने की बात कहने पर वह सरोज से कहती है "वह अधिकार तो मेरे पास है, मगर सम्बन्ध तोड़ना इतना आसान नहीं होता है, जितना तुम लोग मशीनी रूप से उसे सरल समझती हो। समाज बदलना तो दूर नारी स्वयं अन्दर से अपने को नहीं बदल पाती। अपने को पूरी तरह समझ नहीं पाती कि उससे पहले महिला समर्थक गण उसे मुक्ति का प्रमाण-पत्र आप दिलवा देती हैं, उसे लेकर वह कहाँ जाएगी। आपके इसी रुढ़िवादी अंधे समाज में भटकेगी। पहले से अधिक प्रताड़ित,

अधिक शोषित।"[96] शाल्मली का यह तर्क वाकई विचारणीय है। क्या तलाक के बाद स्त्री को उसके कष्टों से मुक्ति मिल जाएगी? या समाज की दृष्टि में वह लांछनों एवं पति द्वारा छोड़ी हुई औरत की उपमाओं और व्यंग्य बाणों की दुःसह पीड़ा का शिकार बनकर नहीं रह जायेगी? दोनों पक्षों पर विचार किया जाये तो समस्या का भार उतना ही नजर आता है। सूक्ष्मता से विचार किया जाये तो मुक्ति का प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहता है।

नासिरा शर्मा पति-पत्नी के असहज सम्बन्ध से मुक्ति पाने के लिए तलाक को पूर्ण समाधान के रूप में नहीं देखती हैं। इसके लिए वह बार-बार समाज की सोच बदलने पर बल देती हैं। इसीलिए शाल्मली सरोज से कहती है "तुम्हारे सामने समस्या केवल पति से निपटने और उससे मुक्त होने की है, मगर मेरी समझ में सही नारी मुक्ति और स्वतंत्रता समाज की सोच और स्त्री की स्थिति बदलने में हैं। बाहर निकलो या घर में रहो, हर स्थान पर पुरुष तुमसे टकराएगा। चाहे वह सब्जी वाला हो, या तुम्हारा बॉस, अखबार वाला हो या तुम्हारा पति। संक्षेप में होगा वह पुरुष ही। पति से मुक्ति पाकर क्या इनसे भी मुक्ति पा लोगी? या सबको नकारती चली जाओगी?"[97] व्यापक रूप में मुक्ति का अर्थ किसी एक विशेष पुरुष (पिता, भाई, पति) से मुक्त होना नहीं है, बल्कि इसका अर्थ स्त्रियों पर लागू की गई पूरी सामजिक संहिता से मुक्ति से है। जो पुरुष के पक्ष में और स्त्री के विरोध में रची गई है। शाल्मली "पुरुष-विरोधी न होकर अत्याचार-विरोधी है और अत्याचार से जूझना चाहती है, उसके सामने हथियार नहीं डालना चाहती है।"[98] वह अपनी सामाजिक परिकल्पना को रेखांकित करते हुए सरोज से कहती है कि "मैं पहले भी कई बार कह चुकी हूँ कि मेरे मन-मस्तिष्क में एक ऐसे समाज की कल्पना है, जहाँ कोई किसी का दास नहीं है, फिर एक बार मैं बता दूँ कि मैं पुरुष-विरोधी न होकर अत्याचार-विरोधी हूँ। अत्याचार का कोई नाम और धर्म नहीं होता, तो भी समूह या इकाई में वह हमारे सामने होता है और उसी अत्याचारी से हमें जूझना है।"[99] शाल्मली द्वारा स्त्री मुक्ति के प्रश्नों के तहत कहे गये ऐसे कथन सदियों से चली आ रही सामाजिक संहिता पर प्रहार करते है। एक ऐसे समाज की

परिकल्पना जो शोषण, दमन और अत्याचार से मुक्त हो, को नासिरा शर्मा की सामाजिक कल्पना का यूटोपिया कहा जा सकता है।

छिन्नमस्ता - 'छिन्नमस्ता' उपन्यास की प्रमुख स्त्री चरित्र 'प्रिया' है। यद्यपि इस कथा में परंपरागत चरित्र के रूप में प्रिया की माँ और सास तथा मनुष्यता और मानवता की प्रतिमूर्ति के रूप में दाई माँ, फिलिप, जूडी, छोटी माँ और नीना की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। ये सभी पात्र प्रिया के जीवन से जुड़े हुए हैं और प्रभा खेतान ने भी प्रिया के जीवन की घटनाओं के इर्द-गिर्द की सम्पूर्ण कथा को गूँथा है।

प्रिया को "अपनी जिंदगी फिल्म की तरह, टुकड़ों-टुकड़ों में, बिना किसी क्रम के, उभरती दिखाई देती है : जन्म के दिन से ही, अनचाहे मेहमान की तरह, माँ के गले पड़ गई बेटी, अपनी सगी माँ और सगे भाई की स्वार्थग्रस्त मानसिकता की मूक भोक्ता ससुराल का दमघोंटू और कमीनगी से भरा वातावरण, पति के रूप में एक निहायत असंवेदनशील, पशुवत आचरण करने वाले पुरुष को झेलने की मजबूरी, वैभव के प्रदर्शन को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानने वाले करोड़पतियों के समाज में अपने को अकेला और आहत शिकार-सा महसूस करने की विवशता; ऊपर से देवी जैसी दिखने वाली, पर भीतर से उतनी ही क्रूर सास को झेलने की लाचारी आदि उसके जीवन की तल्ख सच्चाईयां हैं।"[100]

जीवन विरोधाभासों की अनेक कड़ियों से ही निर्मित होता है। प्रिया के साथ अपने ही घर में अपने भाई द्वारा किया गया बलात्कार और विवाह के बाद पति का क्रूर अमानवीय आचरण, यानि कि हर पड़ाव पर घोर निराशा एक व्यक्ति को नियतिवादी बनाने के लिए काफी है। लेकिन प्रिया ने अपनी जिजीविषा को जीवित रखा। प्रिया कहती है "जिन्दगी कम-से-कम मेरी जिन्दगी विरोधाभासों का बंडल रही है। उलझे हुए धागे, पड़ी हुई गांठें, जानती हूँ सुलझा नहीं पाऊँगी, पर इसके साथ ही जीना तो मैंने सीख लिया है। और यह समझ ही मेरी जिन्दगी के प्रति लगाव को जिन्दा रखती है। यह एक ऐसा फलक है,

जिसका शब्दों में वर्णन करना प्रायः असंभव है।"[101] इसमें संदेह नहीं कि जिस दिन स्त्रियाँ अपने 'स्व' को पहचान लेंगी, उस दिन निश्चित रूप से स्वयं को जीवन की हर चुनौती के लिए तैयार पायेंगी। प्रिया कहती है कि "मैंने दुःख झेला है। पीड़ा और त्रासदी में झुलसी हूँ। जिस दिन मैंने त्रासदी को ही अपने होने की शर्त समझ लिया, उसी दिन, उस स्वीकृति के बाद, मैंने खुद को एक बड़ी गैर-जरुरी लड़ाई से बचा लिया। कुछ के प्रति यह मेरा समर्पण था। सारे जुल्मों के सामने...सलीब पर लटकते मैंने पाया कि मैं अब पूरी तरह जिंदगी की चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार हूँ।"[102]

प्रिया अपने जीवनानुभवों से यह भली-भाँति जान चुकी है कि ईमानदारी, वफादारी, प्यार, समर्पण जैसे शब्द केवल स्त्री के सन्दर्भ में ही परिभाषित किये जाते हैं। पुरुष के लिए इसका कोई महत्व नहीं है। प्रिया कहती है "कुछ नहीं। सच कहूँ नरेन्द्र, ये शब्द भ्रम हैं। औरत को यह सब इसलिए सिखाया जाता है कि वह इन शब्दों के चक्रव्यूह से कभी नहीं निकल पाए ताकि युगों से चली आती हुई आहुति की परंपरा को कायम रखे।"[103] स्त्री को यदि सही अर्थों में मुक्ति चाहिए तो उसे इन शब्दों के भ्रमजाल को समझाना होगा।

समयानुसार परंपरा और रीति-रिवाजों में भी फेर-बदल आवश्यक होता है। अन्यथा एक समय के बाद वे ऊबाऊ और सारहीन प्रतीत होने लगते हैं। हमारे समाज में लड़कियों को सदियों पुराने संस्कारों और परम्पराओं को अपनाने और बचाए रखने की सीख बचपन से ही दी जाती है। भले ही इसमें स्त्री के व्यक्तित्व के विकास की गुंजाइश न के बराबर हो। प्रिया के भीतर भी "पुरुष के प्रति देवत्व का भाव, एकनिष्ठ श्रद्धा, तिलतिल कर स्वयं के छोटे-छोटे सुखों का गला घोटते जाना जैसी प्रवृत्ति निहित है।"[104] रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं कि "प्रभा खेतान प्रिया के बहाने स्वीकार करती हैं कि आत्माभिमान पाने की अंतर्यात्रा खासी बीहड़ और दुरूह है- द्वंद्वों और स्खलनों से भरी। वह माँ और भाभी की तरह घुट-घुटकर जीना नहीं चाहती, लेकिन पाती है कि तमाम सहजता और प्रतिकार के

बावजूद माँ-सा बन जाने की संस्कारग्रस्तता उसके भीतर मौजूद है।"[105] ऐसी परम्पराओं से उबरने के लिए दृढ़ निश्चय और सतत विद्रोह की प्रवृत्ति आवश्यक है। आगे चलकर प्रिया परंपरा से विरोध की ठान लेती है। "अम्मा ! तुम्हारी जैसी, जीजी लोगों जैसी जिन्दगी मैं नहीं स्वीकारना चाहती थी। मैं बड़ी भाभी की तरह घुट-घुटकर नहीं मरना चाहती। मगर फिर भी इस परंपरा की जड़ें शरीर के रेशों में समाई रही हैं ? सदियों की इस अमानवीय परपरा को किस बीमारी का नाम दूँ जहाँ मेरी जैसी विद्रोही लड़कियां भी समर्पित पत्नी और माँ बन जाने को विवश हो जाती हैं? मैंने अपनी जिन्दगी का एक लम्बा हिस्सा अम्मा की जैसी न हो जाने के संघर्ष में लगा दिया।"[106]

कई बार स्त्री के लिए परिवार भी एक असुरक्षित जगह साबित होता है। प्रिया का भाई ही उसका बलात्कार करता है। इस दर्दनाक घटना को वह अपने माता-पिता को नहीं बता पाती है। क्योंकि वह जानती है कि हर हाल में पक्ष भाई का ही लिया जाएगा। वह सोचती है कि क्या सबकुछ जानकार "भैया को घर से निकाल देते? नहीं, अम्मा अपने बेटे को नहीं निकालती, बेटे की तरफदारी करती और मुझे ब्याह कर घर से बाहर कर देती। यही तो होता आया है हमेशा से।"[107] प्रेम और विवाह के नाम पर एक स्त्री को केवल देह के रूप में देखे जाने के कारण आज कई लड़कियां विवाह बंधन से ही मुक्ति का ऐलान करने लगी हैं। क्योंकि अधिकांश स्त्रियों ने विवाह के पश्चात् स्वयं को एक 'व्यक्ति' के रूप में कम एक 'देह' के रूप में अधिक पाया है। प्रिया कहती है "मुझे प्रेम, सेक्स, विवाह, ये सारे सदियों पुराने घिसे हुए शब्द लगने लगे थे। नहीं, शब्द नहीं, मांस के ताजा टुकड़े, लहू टपकते हुए। इन शब्दों के पीछे की दीवानगी और आदिकाल से चली आ रही परम्पराओं का चेहरा सिर्फ औरत के आंसुओं से तरबतर है।"[108] क्योंकि पितृसत्ता के तहत बुने गये ये शब्द अंततः स्त्री को महज 'उपभोग की सामग्री' के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। यह सच है कि "बचपन से अपने आपको समग्र रूप में देखने का बोध उसने अर्जित ही नहीं किया। वह अंगों उपांगों में विभक्त कठपुतली की तरह अपने को देखती और पोस्ती आई है। नख-सिख

वर्णन ने उपमानों के लोक में ले जाकर उसकी जीवन्तता को पदार्थ के साथ जोड़ा है। वह आँख, नाक, कान, अधर, केश, वक्ष, जांघ आदि के योग से कामकेलि हेतु सिरजी गई रचना है। अतः कमलनयनी, गजगामिनी, सुकेशिनी होने में उसकी सार्थकता है। स्त्रियों की यौन-क्रीड़ा के लिए रचा गया सौंदर्यशास्त्र उसके यौन-शोषण के उत्तरदायी सबसे बड़ा कारण है जहाँ स्त्री-पुरुष दोनों द्वारा स्त्री को 'भोग्य पदार्थ' मानने का भाव मुखर रहा है।"[109] इसीलिए स्त्री को स्वयं को देह से परे एक 'व्यक्ति' के रूप में देखे जाने का संघर्ष सबसे पहले अपने परिवार से ही प्रारम्भ करना होगा।

आर्थिक आत्मनिर्भरता स्त्री की मुक्ति के लिए एक जरुरी कदम है। यह स्त्री को देह से इतर एक बौद्धिक प्राणी के रूप में एवं स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में स्थापित करने के लिए आवश्यक है। "उपन्यास की नायिका मात्र देह बनने से इनकार करके अस्मिता की एक ऐसी दुनिया में ले जाती है जहाँ स्त्री आत्मनिर्भर है, उसकी अपनी पहचान है और इस पहचान के लिए वह घर की निरंकुश दीवारों को अपनी आर्थिक स्वाधीनता के विस्फोटक से उड़ा देती है ? उन सब लोगों को अपनी दुनिया से बाहर कर देती है, चाहे उसका अपना पति नरेन्द्र ही क्यों न हो।"[110] प्रिया पितृसत्ता के शोषण का तमाम दंश झेलती हुई एक सक्षम और आत्मनिर्भर स्त्री के रूप में उभरकर सामने आती है। गर्डा लर्नर लिखती हैं कि "जहां स्त्रियाँ आर्थिक रूप से अधिक सक्षम हैं उन स्त्रियों का अपने जीवन पर अधिक नियंत्रण है उन समाजों की तुलना में जहां स्त्रियाँ आर्थिक रूप से कमजोर हैं।"[111] आत्मनिर्भरता व्यक्ति में आत्मविश्वास का संचार करती है, और किसी कार्य को परिणति तक पहुँचाने में आत्मविश्वास ही सफलता की कुंजी साबित होता है। प्रिया भी नरेन्द्र के तमाम प्रश्नों और शंकाओं का जवाब आत्मनिर्भरता से अर्जित आत्मविश्वास के बल पर ही दे पाती है। "नरेन्द्र, मैं व्यवसाय रूपये के लिए नहीं कर रही हूँ। हाँ, चार साल पहले जब मैंने पहले-पहल काम शुरू किया था, मुझे रुपयों की भी जरुरत थी। पर आज मेरा व्यवसाय मेरी आइडेंटिटी है। यह आए दिन की विदेशों की उड़ान...यह मेरी जिन्दगी के कैनवास को

बड़ा करती है। नित्य नए लोगों से मिलना-जुलना, जीवन के कार्य-जगत को समझना। मुझे जिन्दगी उद्देश्यहीन नहीं लगती।"[112] प्रिया अपनी आर्थिक सम्पन्नता को, व्यवसाय को अपने स्वतंत्र अस्तित्व से जोड़कर देखती है। प्रिया को एक प्रतीक के रूप में देखा जा सकता है जो सम्पूर्ण स्त्री जाति का प्रतिनिधित्व करती है।

उपन्यास में नीना भारतीय परिप्रेक्ष्य में जी रही आधुनिक स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है। आधुनिक स्त्री से मेरा तात्पर्य स्त्री की वास्तविक स्थिति के प्रति थोड़ा-बहुत सजग और सचेत स्त्री से है। नीना सदियों से पितृसत्ता के शोषण को सहन करती स्त्री से इतर उसके प्रति अपनी असहमति जताने और जुबान खोलने पर बल देती है।

लेखिका ने कई स्थलों पर स्त्री में आई उस 'चेतना' की ओर भी संकेत किया है, जो उसे मुक्ति की ओर ले जाती है। जैसे प्रिया को इस बात का अहसास होना कि न तो अम्मा का घर उसका अपना था और न ही नरेन्द्र का, इसलिए उसे अपनी एक स्वतंत्र पहचान बनानी ही होगी। पितृसत्ता के भीतर एक स्त्री होने के नाते प्रिया को जिस उतार-चढ़ाव भरे दौर से गुजरना पड़ा उससे वह जिस निष्कर्ष पर पहुँची उसे अपने मित्र फिलिप को बताते हुए वह कहती है कि "जिन्दगी में एक गलत समझौता आपसे सौ गलत समझौते करवाता है। आप एक आदमी के पैरों तले अपनी हथेलियाँ बिछा दीजिये। संपर्क में आने वाला हर व्यक्ति आपको पाँव-पोंछ समझ लेता है।"[113] यह भी सत्य है कि भारतीय समाज में स्त्री चाहे किसी भी वर्ग, वर्ण या धर्म की हो, कई बिन्दुओं पर उसकी स्थिति एक जैसी दिखाई देती है। प्रिया स्थिति का विश्लेषण करती हुई कहती है "औरत कहाँ नहीं रोती? सड़क पर झाड़ू लगाते हुए, खेतों में काम करते हुए, एअरपोर्ट पर बाथरूम साफ करते हुए या फिर सारे भोग-ऐश्वर्य के बाबजूद मेरी सासूजी की तरह पलंग पर रात-रात भर अकेले करवटे बदलते हुए। हाड़-मांस की बनी ये औरतें...अपने-अपने तरीके से जिन्दगी जीने की कोशिश में छटपटाती ये औरतें! हजारों सालों से इनके ये आँसूं बहते आ रहे हैं।"[114] स्त्री

मुक्ति के लिए आवश्यक है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था के भीतर जीने वाली सभी स्त्रियों में प्रिया की भाँति अपनी वास्तविक स्थिति के प्रति सजगता जागृत हो। तभी वह अपनी स्थिति का ठीक-ठीक विश्लेषण कर पाएंगी और 'मुक्ति' के अपने लक्ष्य की ओर बिना भ्रमित हुए बढ़ पाएंगी।

प्रिया उन सभी लड़कियों के लिए एक सशक्त उदाहरण है जो एक तरफ बचपन में यौन-शोषण का शिकार हो जाती हैं और दूसरी तरफ लड़की होने के नाते परिवार में उपेक्षित और अनचाही संतान के रूप में जीने के लिए मजबूर होती हैं। प्रिया सारी वंचनाओं और उपेक्षाओं के दलदल से निकलकर अपनी 'आइडेंटिटी' के लिए पुरुष सत्ता के समक्ष संघर्ष जारी रखती है और सफल भी होती है। राजेन्द्र यादव के अनुसार "प्रतिभा और अस्मिता से लैस प्रिया पहली नारी है जो सामाजिक चुनौती की तरह उभरती है।"[115] प्रिया जैसा चरित्र गढ़ने के कारण ही राजेंद्र यादव प्रभा खेतान को स्त्री विमर्श की सबसे महत्वपूर्ण लेखिका भी मानते हैं। निःसंदेह प्रिया स्वयं को अपनी नियति के सहारे जड़ रूप में छोड़ नहीं देती बल्कि अपनी 'मुक्ति' का रास्ता स्वयं तलाश करती है।

माई - 'माई' उपन्यास में माई के अतिरिक्त माई की बेटी सुनैना और दादी (सास) जैसे स्त्री चरित्र भी हैं लेकिन 'माई' ही पूरी कथावस्तु की केंद्रीय चरित्र है। माई का चरित्र मध्यवर्गीय परिवार में स्त्री की स्थिति को दर्शाने वाला प्रतिनिधि चरित्र है। सुनैना 'माई' की नैरेटर है और वह माई को पितृसत्तात्मक ताने-बाने से मुक्त कराना चाहती है। वह माई के चरित्र का वर्णन करती हुई कहरी है कि "माई हमेशा झुकी रहती थी। हमें तो पता है, हम उसे शुरू से देखते आए हैं। हमारी शुरुआत ही उसकी भी शुरुआत है। तभी से वह एक मौन, झुकी हुई साया थी, इधर से उधर फिरती, सबकी जरूरतों को पूरा करने में जुटी।"[116]

माई सबकुछ सहकर भी सामंती वर्चस्ववादी परिवार में स्त्रियों पर होने वाले अत्याचारों को चुपचाप अपने भीतर छुपा रखने वाली स्त्री है। क्योंकि "उसकी आग तो न

बचपन, न जवानी, न बुढ़ापे में देखी या जानी। उसने तो आग को भीतर खींचकर ऐसे छुपा लिया कि बाहर निकलती शीतलता में अंगारों का कोई आभास नहीं रह गया।"[117] इस तरह माई उस पीढ़ी की प्रतीक है जो पितृसत्ता से किसी प्रकार का प्रतिवाद या प्रतिप्रश्न नहीं करती है बल्कि उसकी चालों को समझते हुए भी धीरे से आत्मसात कर लेती है।

वस्तुतः यह उपन्यास दो पीढ़ियों के बीच 'मुक्ति' के द्वंद्व को दर्शाता है। पुरानी पीढ़ी की स्त्रियाँ सबकुछ जानकर भी 'मुक्ति' के लिए कोई संघर्ष नहीं करती हैं जबकि नयी पीढ़ी लगातार अपनी पूर्वजाओं की 'मुक्ति' के लिए प्रयासरत दिखाई पड़ती है। सुनैना और सुबोध दोनों माई को ड्योढ़ी के सामंती वातावरण से बाहर 'मुक्त दुनिया' में ले जाने के लिए सतत प्रत्यनशील रहते हैं "हमारी दोनों की एक धुन कि माई को यहाँ से निकाल ले जाएँगे। पता नहीं कब से हमने यह ठान रखा था कि माई का जीवन, खासकर उसका भविष्य, हमारा है। बाबू उसमें नहीं आते, आते तो माई से जुड़े अंश के तौर पर कभी आ जाते, बस! असल थे हम तीन- माई, सुबोध और मैं। जिसका असल जीवन ड्योढ़ी से बाहर था।"[118] पितृसत्ता बाहर की दुनिया में केवल अपना कब्जा रखना चाहती है क्योंकि यदि स्त्री बाहर निकल गई और उसने बाहर भी संघर्ष करना सीख लिया तो उसके 'मुक्ति' के रास्ते आसान हो जाएंगे। नई पीढ़ी ने बाहर निकलना शुरू कर दिया है लेकिन 'माई' की पीढ़ी केवल घर के काम-काज में ही चुक रही है। सुनैना बताती है कि "दादा ने कहा था, फाटक से बाहर जहर से भरी दुनिया है, बचो। हम पहले ही पूछ चुके थे कि आप कैसे बचे? या जहर कैसा अगर कोई नहीं बच सकता और आप बच गए? हम बच्चें हैं, नहीं समझ पाएंगे, पर माई दादी क्यों अज्ञानी है कि वे भी न समझेंगी और इसलिए उन्हें भी अन्दर, बचे रहना है?"[119]

नई पीढ़ी स्त्री जीवन के पुराने तौर-तरीकों को बदलना चाहती है। वह चाहती है कि स्त्री अपनी इच्छाओं को अभिव्यक्त करे, उन पर भी अमल करे लेकिन माई अपनी

इच्छाओं को कभी तवज्जो नहीं देती है। उसकी इच्छाएँ तो परिवार में जैसे सबसे कम मायने रखती हों। सुनैना और सुबोध माई (स्त्री) द्वारा स्वयं के साथ किये जाने वाले इस व्यवहार से मुक्त करना चाहते हैं। "एक बार हमने उस पर चाल चली। फल लाए। जाड़े थे और खुमानी सेब, आड़ू की भरमार। बढ़िया लाल, पके आड़ू। एक में दांत गड़ाए- 'कुछ स्वाद नहीं आड़ू में।' सुबोध ने चखा, "भुसभुसे हैं, मैं तो सेब ही खाऊँगा।" और देखा कि माई ने चुपचाप और कुछ नहीं छुआ, दो दिन में सिर्फ आड़ू खाए ! खूब डांट खिलाई उसे और दूसरे फल खिलाए डांटके साथ-साथ।"[120] पितृसत्तात्मक नीति भी यही कहती है कि पहले परिवार के पुरुषों की इच्छाएं पूरी हो जाए तब स्त्री की बारी आती है। सदियों से स्त्रियाँ भी इसे अपना धर्म मानती आई हैं। पितृसत्ता द्वारा ये नीतियाँ इतनी सहजता से कार्यान्वित की गई हैं कि इनका अनुसरण करना ही स्त्रियाँ अपना कर्तव्य मान बैठी हैं। इसे ही वह पितृसत्ता के प्रति अपना असीम त्याग और समर्पण समझती हैं लेकिन सुनैना माई की तरह नहीं बनना चाहती है। माई बनने का मतलब है कैदी बनना, सिकुड़कर रह जाना। वह कहती है "मैं माई बन भी सकती तो भी नहीं बनना चाहूँगी। मुझे माई नहीं बनना। जी-जान से लड़ूंगी कि माई नहीं बनूँ। जोर से झकझोरकर अपने अन्दर से माई को झटका देना चाहती हूँ। वह गलत है, मुझे वह रोकना है।"[121]

दुनिया की आधी आबादी स्त्रियों की है। चूँकि हमारी समाज व्यवस्था पितृसत्तात्मक है इसलिए इस व्यवस्था के तहत स्त्रियों की स्त्री दोयम दर्जे की है। वास्तव में जो सत्ता में रहता है वही कायदे-कानून बनाता है और लागू भी करता है इसलिए सदियों से हमारे देश में पितृसत्ता का रवैया 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला रहा है। वर्तमान में लडकियाँ पितृसत्ता के इस षड़यंत्र को समझ चुकी हैं और विरोध भी कर रही हैं। यदि युवा पीढ़ी में पुरुष भी स्त्रियों का साथ दे तो स्त्रियों के लिए एकतरफा नियमों से मुक्ति की राह आसान हो जाएगी। लेखिका ने सुबोध को एक ऐसे ही युवा के रूप में चित्रित किया है जो 'माई' और बहन 'सुनैना' का हरदम साथ देता है। सुनैना के शब्दों में "वह भी एक सुहाना दौर

था जब वह चाहने लगा कि मुझे हिंदी आए न आए, अंग्रेजी जरूर आ जाए। ड्योढ़ी के बाहर दुनिया बहुत आगे बढ़ चुकी है, उसके लायक बनो। उतनी विकसित हो जाओ।"[122] शिक्षा स्त्री की मुक्ति की दिशा में पहला कदम हो सकती है, जो उसके बहुआयामी विकास के साथ-साथ उसकी 'आइडेंटिटी' के लिए बेहद आवश्यक है इसलिए सुबोध चाहता है कि सुनैना पढ़े-लिखे। "सुबोध के लाइब्रेरी में अंग्रेजी क्लासिक मिलते थे - डिकेंस, ब्रौंटे, सिस्टर्ज, हार्डी और जार्ज एलिएट। उसी ने इन किताबों को मेरे सामने रखने का सिलसिला कायम किया।"[123] सुबोध नये पुरुष वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, जो स्त्री मुक्ति का पक्षधर है। सुनैना के अनुसार "ड्योढ़ी से मुझे निकालने का श्रेय मैं सुबोध को देती रही। वही हमेशा मेरे लिए भिड़ा था, दादा से, दादी से, बाबू से भी। मैं बस एक तरफ बैठी आँसू बहाती रही। माई चुप बैठी रहती, कभी इसको देखती, कभी उनको। इधर की सुनती फिर उधर की सुनती। पर सुबोध टस से मस नहीं हुआ।"[124] सुबोध ने नई दुनिया से उसका परिचय करवाया। उसे ड्योढ़ी के सामंती जीवन से 'मुक्त' कराया और अब वे दोनों मिलकर माई को 'मुक्त' कराना चाहते हैं लेकिन अरविन्द जैन सुबोध के सन्दर्भ में लिखते हैं कि "सुबोध का विरोध, असहमति या आधुनिकता ऐसी चूहा पीढ़ी का विरोध है, जो व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं और उपलब्धियों से आत्ममुग्ध सिर्फ सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ना चाहते हैं। सफलता के लिए 'सम्मानजनक' समझौता करते समय उन्हें याद ही नहीं रहता कि कोई भी समझौता, सम्मानजनक नहीं होता। दूसरों से पिछड़ने, टूटने या मरने का भय हमेशा उनका पीछा करता रहता है। ऐसे शूरवीर अपने-अपने समय में सामाजिक-राजनैतिक आंदोलनों के प्रभाव-स्वरुप कुछ देर तक 'छाया युद्ध' करते दिखाई पड़ते हैं और अचानक किसी सरकारी 'स्कीम' की गोद में इतराते नजर आते हैं। 'हम' से 'मैं' बनने में न कोई देर और न कोई दुविधा। 'धार्मिक आस्था' और 'जातीय-अस्मिता' के प्रश्न, वास्तव में व्यापक सामजिक सरोकारों से पलायन या गहरे अपराधबोध की ही उपज है। निःसंदेह इन 'लड़ाकुओं का सारा विरोध, विद्रोह या असहमति, सुख-सुविधा और सत्ता के आस-पास पहुँचाने के

हथियार भर हैं। इन अर्थों में सुबोध का चरित्र, इस दौर की पूरी पीढ़ी की 'ऑडिट रिपोर्ट' है।"[125] लेकिन अरविन्द जैन का सुबोध के पीढ़ी के सन्दर्भ में ऐसा कहना उचित नहीं जान पड़ता है। सुबोध या सुबोध के पीढ़ी के विरोध को 'चूहा पीढ़ी का विरोध' या उनकी इसे 'व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा' से जोड़कर देखना, पूरी युवा पीढ़ी के सहयोग को नकारना है। कोई भी संघर्ष एकतरफा होकर नहीं जीता जा सकता है। 'स्त्रियों का मुक्ति संघर्ष' भी नहीं। लेखिका ने सुबोध के रूप में जिस चरित्र का अंकन किया है उसे एक 'यूटोपियन पुरुष चरित्र' के रूप में देखा जा सकता है।

माई बिना किसी असहमति या विरोध के सब कुछ चुपचाप सुनती और सहती आई है। माई (पुरानी पीढ़ी) अपनी इच्छाओं और अपने सपनों को अपनी बेटी (नई पीढ़ी) में पूरा होते देखना चाहती है इसलिए सुनैना बताती है कि "सब मुझे 'असली पर्दे' में बिठाने को बेकरार, वह जैसे भूल से ही मेरा परदा ठीक से बंधने के पहले ही खिसका देती।"[126] एक अन्य स्थान पर वह बताती है कि "दादा ने मुझे होस्टल में भरती कराने की जिद करते सुबोध पर हाथ ऊपर किया कि माई बैठक में घुस आई, एक ही बार जिन्दगी में दादा से नजर मिलाई होगी माई ने और हमें आज तक सबकुछ पड़े, थप्पड़ न पड़े। दादा का हाथ नीचे चला गया, माई सुबोध को अन्दर खींच ले गई, सुबोध मुझे होस्टल पहुँचा आया।"[127] माई ने अपनी आकांक्षाओं को भले ही जिस कारण से दबाया हो किन्तु अपनी बेटी के सन्दर्भ में वह कोई समझौता नहीं करना चाहती है। वास्तव में कई मायनों में " 'माई' की रज्जो किंचित भिन्न है, माई अधिक समकालीन और आधुनिक है। वह 'हमजात' होने के नाते जहाँ अपनी सास की गलतियों को माफ़ करती है वहीं अपनी बेटी के लिए 'शिक्षा से सहजीवन' तक के पतली गली से रास्ते खोलती है। बेटी को दुनिया के बारे में जानना चाहिए, इसलिए वह बेटी के हर निर्णय में उसके साथ है। उसकी सफलता में अपनी सफलता खोजती है।"[128]

नई पीढ़ी से यह उम्मीद है कि वही तय करेगी 'स्त्री मुक्ति' के रास्ते, वही कोशिश कर सकती है पुरानी स्त्री पीढ़ी को अपने 'साथ' ले चलने की। सुनैना कहती है "हमारी तो हमेशा से धुन थी कि माई को माई नहीं रहने देंगे। हमारे तजुरबे ने, गहरे चिंतन ने, भरी-पूरी सोच-समझ ने हमें सिखा दिया था कि माई एक खोखल है क्योंकि एक समाज उसे खोखल बनाके अपने हित के लिए रखे हुए था। उसमें इंसान हम भरेंगे, उसे पनपने का मौका हम देंगे ताकि सदियों से जुल्म सहता वह खोखल सरक जाए और माई, माई-नहीं होकर भरपूर लहलहाए।"[129] लेकिन क्या वास्तव में माई पितृसत्ता के शोषण को, उसकी कुचालों को नहीं समझती थी? क्या वह मात्र खोखल भर थी? शायद नहीं। जब वह सुनैना (बेटी) के जीवन के हर फैसले पर अपनी सहमति-असहमति जाहिर करती है तब सुनैना को अहसास होता है कि "आजादी एक सिमटे से कोने में सन-सन सनसनाती हवा नहीं कैद बस साफ नजर आनेवाले सींखचे नहीं।"[130] वस्तुतः "लेखिका के उपन्यास का समाजशास्त्रीय चिंतन यही है कि आजाद भारतीय नारी में अपने अस्तित्व के प्रति जागृति आयी है। पुरुषसत्तात्मक समाज के विरुद्ध वह जद्दोजहद कर रही है। जिस किसी तरह भी वह अपना विरोध दर्ज करा देती है। चुप रहने या सहने का मतलब मूर्खता कतई नहीं है।"[131]

सुनैना माई नहीं बनना चाहती है। वह जानती है कि माई भी स्वयं उसे माई नहीं बनने देती। उसे माई के एकतरफा समर्पण और त्याग के बोझिल इतिहास से शिकायत है। वह समझ चुकी है कि स्त्री को 'मुक्ति' के लिए अपने 'स्त्री' बनने के इतिहास से लड़ना होगा। उसे अपने अस्तित्व, अस्मिता और पहचान के लिए स्वयं लड़ना होगा। वह कहती है "घिरे हुए कुहासे में एक सिर था, एक धड़ था, जो मैंने भूल से फेंक दिए थे, जिन्हें मुझे खोजना था, जी-जी के, मर-मरके, कि कभी तो मिलेंगे और तब तो सिर धड़ पर लगा ही पाऊँगी।"[132] वस्तुतः माई के सन्दर्भ में उसके अस्तित्व और अस्मिता का प्रतीक सिर और तमाम भूमिकाओं से युक्त धड़ को कभी एक करके देखा ही नहीं गया। हमेशा उसकी भूमिकाएँ ही महत्वपूर्ण रहीं। "इसीलिए 'माई' को बनाने की सारी ईमानदार कोशिशें

नाकामयाब रहीं। उसका अस्तित्व 'फ्रेम के पीछे दबे चूर होनेवाले पत्र' की तरह पृष्ठभूमि में चला गया, जिसे चूर-चूर हो जाने दिया। रज्जो को अपने अतीत से काट दिया परिवार ने। धड़ बनकर जीती रही 'रज्जो'। रज्जो का सिर लगाने की न तो किसी की इच्छा रही और न कोशिश। इस झुके हुए धड़ को 'ड्योढ़ी नकाने' की कोशिश की सुबोध और सुनैना ने। इस धड़ पर रज्जो की पहचान का सिर यदि लगाया जाता तो संभवतः ड्योढ़ी के बाहर आजादी खोजने की जरुरत रह नहीं जाती जैसा कि माई के न रहने पर सुनैना समझ पाती है।"[133] सुनैना का माई 'न बनने' का संकल्प और एक न एक दिन सिर को धड़ पर लगाने की दृढ़ इच्छाशक्ति, ऐसा संकेत है जो युवा स्त्री पीढ़ी में अपने अस्तित्व और स्वतंत्र पहचान के प्रति उत्पन्न हुई 'चेतना' को प्रकट करते हैं। यह चेतना और दृढ़ इच्छाशक्ति ही उन्हें अपने गुलामी के इतिहास से लड़ने की शक्ति देगी और भविष्य में 'मुक्ति' के रास्ते तय करने में मददगार साबित होगी।

कठगुलाब - 'कठगुलाब' में मुख्यतः चार स्त्री पात्र हैं- स्मिता, मारियान, असीमा और नर्मदा। ये चारों अपनी-अपनी कहानियाँ कहते हैं। स्मिता का जीजा ही उसका बलात्कार करता है जिस कारण वह आजीवन प्रतिशोध की आग में जलती रहती है। मारियान अपने पति की धोखेबाजी का शिकार होती है। नर्मदा का जीजा पहले उससे बाल श्रम करवाता है और आगे चलकर धोखे से विवाह भी कर लेता है। असीमा पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था से आजिज आकर ही एक फेमिनिस्ट के रूप में उभरी है। इनके अतिरिक्त नमिता (स्मिता की बहन/नीरजा की माँ) आदि स्त्री पात्र भी प्रसंगवश आये हैं। सभी स्त्री पात्र किसी न किसी रूप में पितृसत्ता के शोषण और दमन को झेल चुके हैं। कुछ स्त्री पात्र इस शोषण का विरोध कर 'स्त्री मुक्ति' की अपनी परिभाषा गढ़ते और आजीवन 'मुक्ति' का प्रयास करते दिखाई पड़ते हैं।

सदियों से स्त्रियों को लगभग धराशाई कर देने के इरादे से वर्चस्वशाली पुरुष वर्ग द्वारा उनके साथ बलात्कार किया जाता रहा है। बलात्कार की शिकार हुई स्त्री को परिवार, समाज और अपने ही परिचित आत्मीय जन एक ऐसी दृष्टि से देखने लगते हैं कि वह स्वयं को अपराधी महसूस करने लगती है। लेकिन लेखिका ने स्मिता को एक ऐसे चरित्र के रूप में गढ़ा है जो हिम्मत और साहस को तवज्जो देती है। बलात्कार की शिकार बनी स्मिता स्वयं अपने बारे में सोचती है कि "उस हादसे के बाद जब भी मैंने बलात्कृत औरत पर कोई फिल्म देखी या उपन्यास पढ़ा तो मुझे आश्चर्य हुआ, 'सूरजमुखी अँधेरे के' या 'इनसाफ का तराजू' की नायिका की तरह, मैं खुद को दूषित, पापी क्यों नहीं मानती? खुदकुशी करने को मेरा जमीर मुझे क्यों नहीं उकसाता? मेरा मन मुझे धिक्कारता था तो सिर्फ इसलिए कि मैंने प्रतिशोध नहीं लिया। भगोड़ों की तरह पलायन क्यों किया? पर क्या एक बेहतर जिन्दगी जीने का ख्वाब देखना, बुजदिली है? उफ, कितना गुस्सा था मेरे भीतर! मैं माफ नहीं कर पाई थी, करना नहीं चाहती थी, कभी नहीं। मैं रतनू माली की तरह नहीं थी जो अपनी तमाम पीड़ा-यंत्रणा के लिए, खुद को दोषी मानकर, प्रायश्चित करती रहूँ।"[134] स्मिता जिन प्रश्नों को उठा रही है वे बिलकुल वाजिब हैं लेकिन अभी समाज द्वारा ऐसे दृष्टिकोण को अपनाया जाना बाकी है।

उपन्यास में 'मुक्ति' के लिए शिक्षा और आर्थिक आत्मनिर्भरता को सबसे जरुरी माना गया है। नमिता स्मिता से कहती है "माँ मेरी पढ़ाई चौपट न करतीं तो मैं इन पर इतनी आश्रित न होती। कम-से-कम बी.ए. तो किए होती। थोड़ा-बहुत कुछ कमा सकती थी। अब तो इतने पैसे भी हाथ में नहीं होते कि तेरी फीस जमा करवा दूँ। प्रदीप के शौक की एकाध चीज खरीद लूँ। हर चीज के लिए इनके आगे हाथ फैलाना पड़ता है।"[135] स्पष्ट है कि पुरुष पर स्त्री के आश्रय का एक प्रमुख कारण उसके पास आर्थिक आधार का न होना भी है।

यद्यपि भारत में पहले के मुकाबले स्त्री शिक्षा के स्तर में सुधार आया है, फिर भी समग्र रूप में अभी भी स्थिति काफी पिछड़ी हुई है। ग्रामीण स्तर पर तो स्त्री शिक्षा की स्थिति और भी दयनीय है। एक महिला आंदोलनकारी सुमा गिल ग्रामीण लड़कियों की शिक्षा पर खर्च करने की बजाय उच्च शिक्षा में लड़कियों के आरक्षण को तवज्जो देने की बात करती है। ऐसे में असीमा उनका प्रतिवाद करती हुई कहती है कि "आप सीधे-सीधे यह क्यों नहीं कहती कि आप चाहती हैं, आपको घर के काम के लिए अक्षम और अशिक्षित औरतें बराबर मिलती रहें, ताकि आप अपने बच्चे और घरेलू कामकाज उनके जिम्मे छोड़कर, ऊँची पदवियाँ संभालने के साथ-साथ, निःशंक भाव से पति-प्रेम भी रचा सकें।...दुनिया के हर देश में प्राथमिक शिक्षा को अनुदान देकर कम दाम पर सबके लिए उपलब्ध कराया जाता है और उच्च शिक्षा में केवल विशेष रूप से, बुद्धिमान छात्रों को ही आर्थिक मदद दी जाती है।"[136] अपने वाजिब तर्कों के जरिए असीमा स्त्रियों के लिए प्राथमिक शिक्षा का समर्थन करती है।

शिक्षा केवल आर्थिक आत्मनिर्भरता और क्षमता हासिल करने के लिए ही जरुरी नहीं है बल्कि शिक्षा वह शक्ति है जिसके बल पर औरतें अपना निर्णय खुद लेने की काबिलियत अर्जित कर सकती हैं। उपन्यास में दर्जिन बीबी एक ऐसी महिला पात्र है जो मेहनत कर न केवल आर्थिक सक्षमता हासिल करती है बल्कि आत्मसम्मान के साथ जीवन यापन करती हुई नर्मदा जैसी तमाम स्त्रियों को भी समर्थ बनाने में मदद करती है। "इसी पात्र के आचरण में अंततः लेखिका उस विकल्प को रेखांकित करती है जो मुक्ति के लिए स्त्री का जन्मजात और प्रामाणिक विकल्प है- बिना किसी वाद में बहे, अपने लिए सम्मानित और ईमानदार जीवन का निर्माण और कठिन स्थितियों में संतान को सही मूल्यज्ञान।"[137] स्मिता के शब्दों में "औरत के जीवन का निर्धारण बचपन में ही हो जाता है। शिक्षा मिलने पर उसमें यह आत्मविश्वास पैदा हो सकता है, जिससे वह अपने निर्णय खुद ले सके। नर्मदा को देखिए। अमीना कहती है, अगर छोटी उम्र में उसने घर रहकर पढ़ाई-लिखाई और

सिलाई न सीखी होती तो इतनी काबिलियत के साथ, उसकी माँ का बिजनेस न संभाल पाती।"[138] वास्तव में "नर्मदा की आर्थिक आत्मनिर्भरता की यात्रा भारतीय समाज के निम्नवर्ग के विकास के हर कोण और रूप से होकर गुजरती है। उसका जाँगर और जीवट गजब का है। और इसी के भरोसे वह जीजा के चंगुल से निकलने के बाद मनचाही जिन्दगी जी पाती है तथा जीजा के साथ तक 'सरवाइव' कर पाती है। लेकिन जिस दिन वह जान जाती है कि श्रम और सेक्स के साथ जीजा व बहन की यह मिली-जुली योजना थी कि नर्मदा को गनपत जीजा की दूसरी पत्नी बनाकर घर पर पूरा अधिकार कर लिया जाए, वह स्थायी रूप से आत्मनिर्भरता के लिए सिलाई मशीन ले लेती है।"[139] ऐसा करना नर्मदा द्वारा 'मुक्ति' के लिए स्वयं किया गया प्रयास है। यदि नर्मदा की भाँति ही प्रत्येक स्त्री स्वयं अपनी मुक्ति का प्रयास करने में समर्थ हो सकेगी तो निश्चित रूप से 'स्त्री मुक्ति' का एक समग्र स्वरुप तैयार किया जा सकता है।

उपन्यास के लगभग सभी पात्र स्मिता, मारियान, असीमा, नीरजा यहाँ तक कि विपिन भी संतान प्राप्ति की इच्छा रखता है। किन्तु इच्छाओं की अपूर्णता कुछ ऐसी आत्मीय ध्वनियों से गूंज उठती है जहाँ औरत कहती है "हाँ, मैं एकदम पारंपरिक, जाहिल, गँवार, प्राकृत औरत हूँ। औरत हूँ मैं। औरत हूँ। तो? क्यों न हूँ औरत? मैं चिल्ला-चिल्लाकर कहती हूँ, मैं एक बच्चा पालना चाहती हूँ।...मैं अपनी आँखों के सामने, अपने पर निर्भर बच्चे को आत्म-निर्भर बनते देखना चाहती हूँ। उसे आत्मनिर्भर बनाने में इन्वेस्ट करना चाहती हूँ।"[140] सर्जक होने की यह चाह हर स्त्री में समान रूप से है क्योंकि सृजन स्त्री के आत्मविस्तार का परिचायक है। लेकिन किसी भी स्त्री की इच्छा पूरी नहीं हो पाती है। आखिर ऐसा क्यों? "मृदुला गर्ग की मान्यता है कि ये स्त्रियाँ भी हरियाकर सदाबहार हो जातीं, यदि इन्हें भी इनके सहचर पुरुषों की तरल संवेदना का स्पर्श मिलता; यदि विशवास, सदभाव, आत्मीयता की तरल बौछार ने इनकी हृदयगत कोमलता को निरंतर सींचा होता। स्त्रियाँ गुलाब सरीखी नहीं जो उग आने पर अपने आप खिल भी जाता है, कठगुलाब है

जिसे थोड़ी सी देखभाल से खिलाना पड़ता है। इसलिए इस तरल स्पर्श के बिना वे अपने कोख में भ्रूण पाकर भी रीती हैं और उतनी ही रीती है पुरुष की बाहरी दुनिया जो आत्मविस्तार के रूप में जाने-अनजाने संतान की कामना तो करती है, लेकिन उसके पालन-पोषण की जिम्मेदारी से बचना चाहती है।"[141] संतान प्राप्त करना स्त्री का जायज हक़ ही नहीं बल्कि उसे प्राप्त अमूल्य प्राकृतिक वरदान भी है। पुरुषों द्वारा बार-बार किए गए अमानवीय व्यवहार के कारण ये स्त्रियाँ मातृत्व की 'इच्छा' ही कर पाती है क्योंकि सृजन के लिए संतुलित पुरुष सहयोग और व्यापक मानवीय दृष्टि कुछ बुनियादी शर्तें हो सकती हैं।

स्त्री में 'स्त्रीत्व' का जो तत्व मौजूद है वही उसे पुरुष की तुलना में विशिष्ट बनाता है। इसलिए स्त्री को अपने 'स्त्री होने' से कोई गुरेज नहीं है। 'स्त्री मुक्ति' का अर्थ 'मर्द हो जाना' कतई नहीं है। इसलिए तमाम संघर्षरत रास्तों से गुजने के बाद भी स्मिता से जब मारियान पूछती है कि "तू मर्द होना चाहती है?"[142] तो स्मिता विचार करती हुई कहती है कि "मैं कौन हूँ? रूथ या मारियान? या स्मिता? और वे सब एलेना, सूजन और रॉकजांन? उनमें में से किसमें मैं नहीं हूँ? सबमें हूँ। मैं उन सबका इसेंस हूँ। विडम्बना मेरी सुवास है। मैं मर्द नहीं सर्जक होना चाहती हूँ।"[143] स्त्री जब यह तय करने में समर्थ हो जाए कि वह क्या चाहती है तब यह माना जा सकता है कि वह अपनी 'मुक्ति' का फ्रेमवर्क बनाना प्रारम्भ कर चुकी है।

'कठगुलाब' के प्रमुख स्त्री पात्र पुरुष से अलग रहकर एक स्वतंत्र और समर्थ जीवन व्यतीत करते हैं। यद्यपि पुरुष से अलग रहना न तो 'स्त्री मुक्ति' की सैद्धांतिकी में निहित है और न ही ऐसा करना कोई तर्कसंगत विकल्प ही है लेकिन स्मिता, मारियान, नर्मदा, असीमा सभी परिस्थितिवश ऐसा करती हैं। लेखिका सर्वत्र ऐसी ही दुर्दिन परिस्थिति में स्त्री के सक्षम एवं समर्थ व्यक्तित्व निर्माण पर बल देती हैं। उनके सभी स्त्री पात्र न केवल

पुरुष वर्चस्वशाली समाज व्यवस्था के सन्दर्भ में प्रश्न खड़ा करते हैं बल्कि स्वयं उत्तर खोजने और अपना पथ निर्माण करने का प्रयत्न भी करते हैं।

आवां - 'आवां' उपन्यास में स्त्री जीवन के बहुविध संघर्ष को अभिव्यक्त किया गया है। उपन्यास के विस्तृत फलक में न केवल स्त्री के उत्पीड़न और संघर्ष को उजागर किया गया है अपितु समय के साथ स्त्रियों में आई 'चेतना' और 'बदलाव' को भी रेखांकित किया गया है। यहाँ दो अलग-अलग दुनिया से ताल्लुक रखने वाली स्त्रियाँ हैं। "एक है मजदूरों के बीच की दुनिया जिसमें सुनंदा, किशोरीबाई, अनीसा और नमिता पांडे जैसी औरतें हैं, दूसरी है भद्र लोकों की दुनिया जिसमें स्मिताएं, गौतामियां, निर्मलाएं अंजना वासवानी की तरह पुरुषों की दलाल ढेर साड़ी मैडमें और मजदूर जगत से आई नमिता पांडे भी है।"[144]

नमिता इन दोनों दुनिया के बीच सेतु की तरह है इसीलिए जीवनानुभव का फलक विस्तृत है। वह कर्तव्यबोध से युक्त एक मेहनती और धर्यशील लड़की है। वह किसी भी कीमत पर अपने स्वाभिमान के साथ समझौता नहीं करती है। अन्नासाहब के कामुक आचरण के कारण घर की दयनीय स्थिति और कठिन परिस्थितियों में भी वह 'कामगार आघाड़ी' की नौकरी छोड़ देती है। इसी पर अंजना वासवानी उससे कहती है "कठिन परिस्थितियों में नौकरी का लोभ छोड़ पाना स्वाभिमानी व्यक्ति के ही बूते की बात है। तुम सचमुच बहुत साहसी लड़की हो।"[145] कठिन परिस्थितियों में निर्णय लेने की क्षमता नमिता के व्यक्तित्व का एक प्रबल पक्ष है।

स्त्री लेखन में कहीं न कहीं हर बार 'स्त्री देह' एक महत्वपूर्ण पक्ष के रूप में दिखाई पड़ती है। चित्रा मुद्गल ने नमिता के जरिए स्त्री देह के साथ किये जाने वाले छल पर नये ढंग से प्रकाश डाला है। संजय कनोई ने अंजना वासवानी के साथ मिलकर नमिता के इर्द-गिर्द प्रेम का ऐसा झूठा जाल बुना जिसका उद्देश्य नमिता की कोख पर कब्जा कर अपनी संतान प्राप्त मात्र था। सच का पता चलने पर नमिता के पैरों तले जमीन खिसक जाती है

लेकिन नमिता बेहद साहसी और आशावान है। इसीलिए वह असह्य स्थिति में भी सोचती है "अपना हक़ अपने पसीने से ही मिलता है। पसीना चाहे श्रम का हो या संघर्ष का, प्रतिवाद का हो या आक्रोश का। उसे सुलगाओ। उससे मुलाकात करो।"[146] तभी मुक्ति संभव होगी।

वास्तव में नमिता के साथ हुआ छल पूँजी केन्द्रित उपभोक्तावादी समाज की एक क्रूर सच्चाई है। जहाँ भावनाओं के लिए कोई स्थान नहीं है और यह मान कर चला जाता है कि पूँजी के बल पर साम-दाम-दण्ड-भेद द्वारा कोई भी चीज आसानी से हासिल की जा सकती है। इस सन्दर्भ में मृदुला गर्ग लिखती हैं "यह तथ्य भीतर तक झकझोर जाता है कि संजय कनोई की साजिश, प्रायोजित प्रेम और भौतिक सुविधाओं के प्रलोभन नमिता की देह नहीं उसकी कोख को खरीदने के लिए थी, सैक्सुअल ठगी के इस स्वरुप को हिंदी साहित्य में शायद पहले अभिव्यक्ति न मिली हो, कोख के लिए ब्याहे जाने की नियति तो, हिन्दुस्तानी औरत हमेशा से झेलती आयी है...आवां ने बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के इस सामजिक यथार्थ को अभिव्यक्ति दी है।"[147]

ऐसे समय में जब स्त्री चेतना और स्त्री विमर्श की बहस जोरों पर चल रही है इस समय में भी अंजना वासवानी और गौतमी जैसी पुरुषों की दलाल स्त्रियाँ भी मौजूद हैं। यद्यपि ऐसी स्त्रियाँ हर देश और काल में मिल जाएंगी। किन्तु अपने ही समानधर्मा एक स्त्री की कोख का सौदा करने का जाल बुनने वाली स्त्री का रूप पूँजीवाद और उपभोक्तावाद की चरम परिणति की स्थिति को दर्शाता है जहाँ हर चीज खरीदी और बेची जा सकती है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की इस गाथा में नमिता की माँ एक ऐसी दुविधापूर्ण स्त्री चरित्र है जो आर्थिक सक्षमता और आत्मनिर्भरता तो चाहती है लेकिन पितृसत्ता की रूढ़ नियमावली को भी नहीं छोड़ना चाहती है। इसलिए उसकी मुक्ति का कोई मुकम्मल मार्ग दिखाई नहीं पड़ता है। वह नमिता द्वारा पिता को मुखाग्नि देने और श्मशान जाने का

विरोध करती है। लड़का-लड़की के भेद को स्पष्टतः उजागर करती है। लेखिका ने स्त्रियों के मुखाग्नि न देने व श्मशान न जाने की रूढ़ि को नमिता के जरिए तोड़ने का उपक्रम प्रस्तुत किया है।

उपन्यास में वृद्धा किशोरीबाई की बेटी सुनंदा एक प्रमुख स्त्री चरित्र है। अपने चरित्र में वह नमिता के समानधर्मा है। कुछ मायनों में मैं सुनंदा को नमिता से अधिक सशक्त और परिपक्व स्त्री के रूप में देखती हूँ। सुनंदा अपनी शर्तों पर जीवन जीना चाहती है। वह मुस्लिम युवक सुहैल से प्रेम करती है, उसकी संतान की माँ बनने वाली है। लेकिन अपने सुरक्षित भविष्य के लिए वह सुहैल के पिता आरिफ के कहने पर धर्म परिवर्तन कर विवाह करना स्वीकार नहीं करती है। वह कहती है "सुहैल ने प्रेम करने के समय तो कोई शर्त नहीं रखी ? ब्याह करना होगा तो उससे नहीं, इस्लाम से करना होगा...या उसे हिंदुत्व से ?"[148] सुनंदा सांप्रदायिकता और धर्मान्धता के सूक्ष्म किन्तु भयावह पक्षों के प्रति भी सचेत है इसीलिए धर्म परिवर्तन न करने के पीछे अपना तर्क देती हुई वह नमिता से कहती है कि "धर्मान्धों के लिए मात्र मैं एक बहाना-भर हूँ। मैं बहाना न रहूँ तो कल वे कोई और बहाना तलाश लेंगे। गढ़कर उनमें तेल के पीपे उलीचेंगे। दीदी, जरुरत है, उनकी कलाइयां धर लेने की- मजबूती से, ताकि वे हाथ न छुड़ा पाएं। तीली न सुलगा पाएं। और यह काम अब कोई नहीं, सिर्फ स्त्रियाँ कर सकती हैं।"[149] सुनंदा और सुहैल के प्रेम के जरिए लेखिका ने हिन्दू-मुस्लिम समस्या को उजागर किया है। अंततः धर्म के नाम पर सांप्रदायिकता फैलाने वाले अराजक तत्वों द्वारा ही सुनंदा की हत्या कर दी जाती है। वस्तुतः समाज में स्त्री जब-जब सामजिक रूढ़ियों व अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हुई है तब-तब उसे सुनंदा की ही भांति सदा के लिए चुप करा दिया जाता है।

लेखिका ने उपन्यास के कथ्य में मूलतः श्रमिक महिलाओं की समस्याओं और उनकी मुक्ति के प्रश्न को आद्यांत गूँथा है। विमला बेन एक श्रमिक कार्यकर्ता हैं। उन्होंने

श्रमिक महिलाओं के लिए 'आघाड़ी महिला मोर्चा' और 'जागोरी संगठन' बनाया है। उन्होंने वेश्याओं को देह व्यापार छोड़ मजदूरी करने की प्रेरणा भी दी लेकिन वेश्याओं के अनुसार मजदूर जगत में जाने पर भी उनका दैहिक शोषण ही होता है। उपन्यास में इसका उदाहरण अनीसा है। उसका भोग करने वाला सहयोगी प्रेमी किरपू दुसाध ही उसके पेट में लात-घूंसा मारकर गर्भ सहित मार डालता है। वास्तव में वर्तमान में भी अनेक संगठन स्त्रियों की 'मुक्ति' के लिए संगठित होकर जुझारू रूप से कार्य कर रहे हैं लेकिन तब तक किसी भी वर्ग या समुदाय की स्त्रियों की समस्या का पूर्ण समाधान नहीं हो सकता है जब तक कि वे स्वयं अपने अनुभव के आवां में तपकर अपनी चेतना को प्रखर नहीं बना लेती हैं। लेखिका ने सुनंदा और नमिता को ऐसे ही स्त्री चरित्रों के रूप में प्रस्तुत किया है जो अपने जीवनानुभवों के आँच में पककर प्रखर बनती हैं। आज भी श्रमिक महिलाएं अपने अधिकारों के प्रति सजग नहीं हैं। यही उनके शोषण का प्रमुख कारण है। इसीलिए लेखिका ने घर-घर जाकर उनमें चेतना जागृत करने की बात सुझाई है।

चित्रा जी ने स्त्री की 'आत्मनिर्भरता' के प्रश्न को 'आवां' में बखूबी चित्रित किया है। परनिर्भर स्त्री कभी भी अपने हित को सर्वोपरि नहीं रख पाती है। घर के भीतर होने वाले शोषण और दमन को झेलती, देखती अनेक गौतमियां और स्मिताएं पैदा होती रहती हैं। गौतमी का सौतेला भाई विनोद उसका यौन शोषण करता है और स्मिता का शराबी पिता अपनी बड़ी बेटी को कामान्धता का शिकार बनाता है। चित्रा मुद्गल ने घर के भीतर स्त्रियों के यौन शोषण के भयावह पक्ष पर प्रकाश डाला है। इस सन्दर्भ में कात्यायनी लिखती हैं "औरत का यौन शोषण मात्र इसी आधार पर नहीं होता कि औरत औरत है, यह इसलिए संभव हो सकता है कि उसकी सामाजिक हैसियत का ताल्लुक उसके आर्थिक शोषण से है।"[150] यही कारण है कि स्मिता, गौतमी और नमिता कई जगहों पर स्त्री की आर्थिक आत्मनिर्भरता पर बल देती नजर आती हैं। आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के बाद स्मिता, गौतमी तथा नमिता के स्वतंत्र व्यक्तित्व के सबल पक्ष को भी लेखिका ने रेखांकित किया

है। नमिता के शब्दों में "दूसरे की नजर से देखी हुई दुनिया अपना सच नहीं होती, न अपना अनुभव।"[151]

'आवां' उपन्यास का कलेवर बड़ा है। चित्रा जी ने उपन्यास के इस विस्तृत फलक में मजदूर, श्रमिक स्त्रियों की समस्याओं को उजागर करते हुए भारतीय समाज में सांप्रदायिकता के प्रभाव और भूमंडलीकरण के युग में पूँजी केन्द्रित उपभोक्तावाद के सूक्ष्म छल-छद्म के दौर में स्त्री की वास्तविक स्थिति, उसे देह से ऊपर उठकर न देखे जाने की त्रासदी का जीवंत चित्रण किया है। उपन्यास की यह बड़ी विशेषता है कि बहुविध उत्पीड़न से गुजरने के बाद स्त्रियाँ नियतिवादी न बनकर पुनः अपने अधिकारों के लिए और अधिक सजग रूप में उठ खड़ी होती हैं। निश्चित रूप से 'आवां' को निश्चित रूप से 'आवां' बीसवीं सदी के आखिरी दशक में प्रकाशित हुए उपन्यासों की एक प्रमुख कड़ी है जिसमें लेखिका ने स्त्री विमर्श के कई नए आयामों को उभारने का प्रयास किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

[1] हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृ. 379

[2] वही, पृ. 379

[3] वही, पृ. 380

[4] उपन्यास के फ्लैप से उद्धृत

[5] हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृ. 385

[6] उत्तरशती के उपन्यासों में स्त्री, डॉ. शशिकला त्रिपाठी, पृ. 38-39

[7] हिन्दी का गद्य साहित्य, डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृ. 266

[8] साक्षात्कार, मार्च 2000, सं. आग्नेय, लेख - 'आवां की दहक'- दामोदर दत्त दीक्षित, पृ. 104

[9] तत्-सम , राजी सेठ, पृ. 22

[10] चूड़ी बाजार में लड़की, कृष्ण कुमार, पृ. 87

[11] तत्-सम, राजी सेठ, पृ. 19

[12] वही, पृ. 14-15

[13] वही, पृ. 30

[14] वही, पृ. 119

[15] वही, पृ. 122

[16] वही, पृ. 217

[17] वही, पृ. 217

[18] समीक्षा, जनवरी-मार्च, 1984, सं. गोपाल, लेख - 'मृत्यु से जीवन की संवाद कथा: तत्-सम'- मधुरेश, पृ. 44

[19] तत्-सम , राजी सेठ, पृ. 239

[20] वही, पृ. 239

[21] शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 10

[22] वही, पृ. 11

[23] वही, पृ. 25

[24] समकालीन भारतीय साहित्य, नवम्बर-दिसम्बर, 2010, अतिथि सं. प्रभाकर श्रोत्रिय, लेख - 'नासिरा शर्मा के उपन्यास 'शाल्मली' के बहाने स्त्री विमर्श' - रोहिणी अग्रवाल, पृ. 180

[25] शाल्मली , नासिरा शर्मा, पृ. 62

[26] वही, पृ. 47

[27] वही, पृ. 126-127

[28] वही, पृ. 74

[29] वही, पृ. 19-20

[30] वही, पृ. 12

[31] वही, पृ. 128

[32] छिन्नमस्ता , प्रभा खेतान, पृ. 23

[33] स्त्री लेखन: स्वप्न और संकल्प , रोहिणी अग्रवाल, पृ. 279

[34] संवेद-60, जनवरी, 2013, सं. किशन कालजयी, लेख - 'स्त्री मुक्ति का तेवर'- दीपक प्रकाश त्यागी, पृ. 175

[35] छिन्नमस्ता , प्रभा खेतान, पृ. 105

[36] वही, पृ. 16

[37] वही, पृ. 66

[38] वही, पृ. 67

[39] वही, पृ. 10

[40] वही, पृ. 11

[41] स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ , रेखा कस्तवार, पृ. 179

[42] माई , गीतांजली श्री, पृ. 34

[43] वही, पृ. 13

[44] वही, पृ. 19

[45] वही, पृ. 36

[46] वही, पृ. 51

[47] उत्तरशती के उपन्यासों में स्त्री , डॉ. शशिकला त्रिपाठी, पृ. 39

[48] माई , गीतांजली श्री, पृ. 53

[49] वही, पृ. 22

[50] वही, पृ. 165

[51] स्त्री लेखन: स्वप्न और संकल्प , रोहिणी अग्रवाल, पृ. 180

[52] कठगुलाब , मृदुला गर्ग, पृ. 52

[53] हंस, सितम्बर,1998, सं. राजेंद्र यादव, लेख - 'अन्वेषी मन:सृष्टि का उपन्यास: कठगुलाब' - सुनीता जैन, पृ. 89

[54] कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 97

[55] वही, पृ. 101

[56] वही, पृ. 119

[57] वही, पृ. 152

[58] वही, पृ. 177

[59] इतिवृत्त की संरचना और संरूप, रोहिणी अग्रवाल, पृ. 79

[60] औरत: अस्तित्व और अस्मिता, अरविन्द जैन, पृ. 116

[61] आवां, चित्रा मुद्गल, पृ. 20

[62] वही, पृ. 136

[63] वही, पृ. 258

[64] आवां, चित्रा मुद्गल, पृ. 410

[65] वही, पृ. 240-241

[66] वही, पृ. 399

[67] वही, पृ. 539

[68] समीक्षा, अप्रैल-जून, 1983, लेख - 'तत्-सम'- गोपाल राय, पृ. 35

[69] वही, पृ. 34

[70] तत्-सम, राजी सेठ, पृ. 15

[71] वही, पृ. 38-39

[72] वही, पृ. 39

[73] वही, पृ. 102

[74] समीक्षा, जनवरी-मार्च, 1984, सं. गोपाल, लेख - 'मृत्यु से जीवन की संवाद कथा : तत्-सम'- मधुरेश, पृ. 43

[75] तत्-सम, राजी सेठ, पृ. 17

[76] वही, पृ. 18

[77] वही, पृ. 19

[78] वही, पृ. 40

[79] वही, पृ. 178-179

[80] वही, पृ. 23

[81] वही, पृ. 24

[82] वही, पृ. 239

[83]वही, पृ. 240

[84]वही, पृ. 280

[85] आधुनिक कथा साहित्य में नारी: स्वरुप और प्रतिमा, सं. डॉ. उमा शुक्ला, डॉ. माधुरी छेड़ा, लेख- 'तोड़ो, कारा तोड़ो : समकालीन हिन्दी उपन्यास में नारी' - प्रो. गोपाल राय, पृ. 32

[86] शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 19

[87] वही, पृ. 11

[88] वही, पृ. 40

[89] वही, पृ. 75

[90] वही, पृ. 74

[91] वही, पृ. 102

[92] वही, पृ. 102

[93] समकालीन हिंदी उपन्यास की आधुनिका, डॉ. प्रतिभा पाठक, पृ. 137

[94] शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 94

[95] वही, पृ. 151

[96] वही, पृ. 157

[97] वही, पृ. 166

[98] समकालीन हिंदी उपन्यास की आधुनिका, डॉ. प्रतिभा पाठक, पृ. 141

[99] शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 165

[100] आधुनिक कथा साहित्य में नारी : स्वरुप और प्रतिमा, सं. डॉ. उमा शुक्ला, डॉ. माधुरी छेड़ा, लेख- 'तोड़ो, कारा तोड़ो : समकालीन हिन्दी उपन्यास में नारी' - प्रो. गोपाल राय, पृ. 34

[101] छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, पृ. 21

[102] वही, पृ. 9

[103] वही, पृ. 11-12

[104] वही, पृ. 59

[105] स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प, रोहिणी अग्रवाल, पृ. 285

[106] छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, पृ. 78

[107] वही, पृ. 72

[108] वही, पृ. 107

[109] स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प, रोहिणी अग्रवाल, पृ. 286

[110] संवेद-60, जनवरी, 2013, सं. किशन कालजयी, लेख - 'स्त्री मुक्ति का स्वर' - दीपक प्रकाश त्यागी, पृ. 174

'[111] Where women have relatively more economic power, they are able to have somewhat more control over their lives than in societies where they have no economic power'. The Creation Of Patriarchy, GERDA LERNER, P. 217

[112] छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, पृ. 10

[113] वही, पृ. 172

[114] वही, पृ. 189

[115] आदमी की निगाह में औरत, राजेंद्र यादव, पृ. 230

[116] माई, गीतांजलि श्री, पृ. 9

[117] वही, पृ. 49

[118] वही, पृ. 41

[119] वही, पृ. 90

[120] वही, पृ. 50

[121] वही, पृ. 64

[122] वही, पृ. 60

[123] वही, पृ. 59

[124] वही, पृ. 94

[125] हंस, दिसंबर, 1997, सं. राजेन्द्र यादव, लेख - 'माई : अतिक्रमण करती बेटियां' - अरविंद जैन, पृ. 83

[126] माई, गीतांजली श्री, पृ. 47

[127] वही, पृ. 51-52

[128] स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, रेखा कस्तवार, पृ. 172

[129] माई, गीतांजली श्री, पृ. 153

[130] वही, पृ. 168

[131] उत्तरशती के उपन्यासों में स्त्री, डॉ. शशिकला त्रिपाठी, पृ. 40

[132] माई, गीतांजली श्री, पृ. 168

[133] स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, रेखा कस्तवार, पृ. 168

[134] कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 34

[135] वही, पृ. 20

[136] वही, पृ. 195

[137] हंस, सितम्बर, 1998, सं. राजेन्द्र यादव, लेख - 'अन्वेषी मनः सृष्टि का उपन्यास : कठगुलाब', सुनीता जैन, पृ. 90

[138] कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 234

[139] दस्तावेज-84, जुलाई - दिसंबर, 1999, सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, 'कठगुलाब' - सत्यदेव त्रिपाठी, पृ. 57

[140] कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 112

[141] स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प, रोहिणी अग्रवाल, पृ. 181

[142] कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 113

[143] वही, पृ. 113-114

[144] आवां विमर्श, सं. करुणाशंकर उपाध्याय, लेख - 'औरत के वजूद से जुड़े सवालों का दहकता सुलगता दस्तावेज' - डॉ. शिवकुमार मिश्र, पृ. 45

[145] आवां, चित्रा मुद्गल, पृ. 143

[146] वही, पृ. 541

[147] कथादेश, अगस्त, 2000, सं. हरिनारायण, लेख - 'बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की गाथा' - मृदुला गर्ग, पृ. 62

[148] आवां, चित्रा मुद्गल, पृ. 112

[149] वही, पृ. 113

[150] हंस, मार्च, 1998, पृ. 75

[151] आवां, चित्रा मुद्गल, पृ. 542

पंचम् अध्याय : महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री चेतना (2000 से अब तक)

21वी. सदी में स्त्री लेखिकाओं के उपन्यासों में अनेक नए सन्दर्भ उभरकर सामने आए हैं। अब दलित और आदिवासी स्त्रियों की समस्याएं भी उनके उपन्यासों में कमोबेश अभिव्यक्त होने लगी हैं। कहानियों के जरिए तो उनकी समस्याएं बखूबी अभिव्यक्त हुई हैं। लेकिन स्त्री उपन्यासों में उनकी चर्चा अभी भी बहुत कम है। 'अल्मा कबूतरी' (मैत्रेयी पुष्पा), मिस रमिया (कावेरी) और 'दस द्वारे का पींजरा' (अनामिका) उपन्यासों को इस अध्याय के अंतर्गत विश्लेषित किया गया है। मैत्रेयी पुष्पा ने जहाँ कबूतरा जनजाति की स्त्रियों के जीवन संघर्ष और क्रूर अमानवीय स्थितियों से बाहर निकल आने की उनकी छटपटाहट का वर्णन किया है। वहीं दलित लेखिका कावेरी ने अपने उपन्यास के जरिए एक पढ़ी-लिखी दलित स्त्री के जीवन संघर्ष के विविध पहलुओं को सूक्ष्मता से उजागर किया है। अनामिका का उपन्यास 'दस द्वारे का पींजरा' स्त्री के शोषण और संघर्ष के लगभग दो सौ वर्षों के इतिहास को अपने विस्तृत फलक में समेटे हुए है। नई सदी स्त्रियों के लिए नई चुनौतियाँ लेकर आई है। इन उपन्यासों में पितृसत्ता के स्वरूप और मुक्ति के लिए स्त्री पात्रों द्वारा किए गए प्रयत्नों के अनेक चित्र देखे जा सकते हैं।

क. प्रमुख उपन्यास

अल्मा कबूतरी - 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास 'कबूतरा जनजाति' के जीवन संघर्ष की कहानी बयाँ करता है। "भारत में आज भी कुछ ऐसी अभागी जनजातियाँ हैं जो आजादी का अर्थ नहीं जानती। उनके पास न अपनी जमीन है, न ठिकाने का घर बार। औपनिवेशिक शासन ने इन्हें 'जरायमपेशा' जाति घोषित कर न केवल तथाकथित सभ्य समाज की नजरों में उपेक्षा और घृणा का पात्र वरन् पुलिस के अत्याचार का नरम चारा भी बना दिया था। यद्यपि देश के आजाद होने के बाद इन जातियों को समान नागरिकता का अधिकार प्राप्त

हो गया है, पर जीविकोपार्जन का कोई सम्मानजनक साधन न उपलब्ध होने के कारण इनके पुरुष अपराधकर्म और स्त्रियाँ देह व्यापार के लिए विवश होती हैं।"[1] स्वतंत्रता के इतने वर्ष बीत जाने के बाद आज भी इनकी स्थिति में बदलाव नहीं आया है। इस सत्य की सहज अभिव्यक्ति मैत्रेयी पुष्पा ने 'अल्मा कबूतरी' में गहन संवेदनशीलता के साथ की है। उपन्यास के आधे से अधिक भाग में कदमबाई कबूतरी की कहानी प्रमुख है। जिसका विवाह जंगलिया से हुआ है। लेकिन शीघ्र ही जंगलिया को मार दिया जाता है। एक तरफ जंगलिया की मृत्यु होती है और दूसरी तरफ कदमबाई कज्जा वर्ग (ऊँची जाति) के मंसाराम से संपर्क में आने पर गर्भवती हो जाती है और राणा का जन्म होता है। राणा सभ्य समाज और अपराधी समाज के बीच द्वंद्व की कड़ी बन जाता है। भूरी ने अपने कबूतरा समाज और कज्जा समाज दोनों का विरोध कर अपने बेटे रामसिंह को पढ़ाया-लिखाया और अपराध कर्म से दूर रखने का प्रयत्न किया। अल्मा इसी पढ़े-लिखे, सभ्य बनने का प्रयत्न करने वाले रामसिंह की बेटी है। राणा और अल्मा के बीच प्रेम संबंध बनते हैं लेकिन परिस्थितिवश अधिक दूर तक यह संबंध नहीं चल पाता है। क्योंकि रामसिंह पुलिस मुठभेड़ में मारा जाता है और अल्मा रामसिंह के विरोधियों के हाथ लग जाती है। अंततः धीरज की मदद से सूरजभान की कैद से भागी हुई अल्मा श्रीराम शास्त्री के घर पहुंचती है। जो पहले डाकू था लेकिन अब समाज कल्याण मंत्री है। अल्मा का विवाह श्रीराम शास्त्री से हो जाता है। श्रीराम शास्त्री की हत्या के बाद खाली हुई बबीना विधान सभा सीट के लिए सत्तारूढ़ पार्टी की तरफ से अल्मा उम्मीदवार बनती है। यहीं आकर उपन्यास समाप्त हो जाता है। उपन्यास में एक तरफ जहाँ पूरी कबूतरा जनजाति के आंतरिक संघर्ष और बदलाव के प्रयास दिखाई पड़ते हैं, वहीं उसी के समानांतर कबूतरा स्त्रियों के लिए केवल 'देह' बनकर रह जाने की पीड़ा और इससे उबरने की छटपटाहट भी उभरकर सामने आई है। इससे पहले रांगेय राघव ने 'कब तक पुकारूं' उपन्यास में 'नटों' के जीवन का चित्रण किया था। लेखिका ने बुंदेलखंड में रहने वाली कबूतरा जनजाति के जीवन को वर्तमान परिदृश्य में समाज और

राज्यसत्ता के समीकरणों से जोड़ते हुए विस्तृत फलक पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। जो उनकी सर्जनात्मक लेखन क्षमता और यथार्थ चित्रण के कारण महत्वपूर्ण बन पड़ा है।

मिस रमिया - 'मिस रमिया' कावेरी द्वारा दलित जीवन को केन्द्र बनाकर लिखा गया उपन्यास है। यह उपन्यास रमिया और श्यामली नामक दो प्रतिभाशाली, चेतनासंपन्न स्त्री पात्रों के जीवन के इर्द-गिर्द बुना गया है। रमिया दलित टोला से संबंध रखती है और श्यामली कायस्थ टोला से, लेकिन दोनों आपस में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखती हैं। स्कूल में पहली कक्षा के दिन से ही रमिया और श्यामली के बीच दोस्ती हो जाती है जो अंत तक बरकरार रहती है। अलग-अलग वर्ग और जाति से संबद्ध होने के बावजूद समाज की परवाह किए बगैर रमिया और श्यामली बराबर एक-दूसरे के घर आती-जाती हैं, साथ में खाती हैं, पूजा-अर्चन करती हैं तमाम अड़चनों का मिलकर सामना करती हैं। लेखिका ने रमिया के समान ही श्यामली के चरित्र को भी विस्तार दिया है। एक तरह से सम्पूर्ण उपन्यास में श्यामली ही रमिया का संबल जान पड़ती है। स्कूल में ब्राह्मण शिक्षक द्वारा पानी की बाल्टी छू देने पर रमिया को पड़ी मार की घटना हो या ट्रेनिंग के दौरान हॉस्टल में उच्च जाति की लड़कियों द्वारा रमिया को हॉस्टल में न रहने देने की घटना सर्वत्र श्यामली रमिया का पक्ष लेती है। नौकरी में भी रमिया को दलित होने का दंश झेलना पड़ा। जहाँ ए. के. सिंह एक दिन भरी सभा में रमिया को गाली देकर अपमानित करता है। रमिया चुप नहीं बैठती है और ऐसे अपमानजनक व्यवहार के लिए उसके खिलाफ कार्यवाही करती है। लंबी कार्यवाही के बाद अपने उदात्त चरित्र के अनुरूप वह ए. के. सिंह को माफ भी कर देती है। एक प्रमुख बात जो ध्यान देने की है वह यह कि प्रारम्भ से ही रमिया और श्यामली दोनों के परिवार उन्हें पढ़ाना-लिखाना चाहते हैं। वे जाति-पाति के भेदभाव को भी नहीं मानते हैं। यह लेखिका की परिकल्पना का ही सुंदर समाज है। उपन्यास का प्रमुख पुरुष पात्र बैजू भी दलित है लेकिन श्यामली से प्रेम करता है। श्यामली भी उससे प्रेम

करती है। इसी कारण उच्च वर्ग के लड़के रतन, शंकर और अनुज बैजू से मारपीट करते हैं और उसे नीचा दिखाते हैं लेकिन श्यामली हमेशा बैजू के साथ डटकर खड़ी रहती है। जातिगत सामाजिक रूढ़ियों के चलते श्यामली का विवाह कहीं और हो जाता है। श्यामली का ससुराल अभावग्रस्त संयुक्त परिवार है। इसीलिए वह वापस अपने मायके आकर स्कूल में पढ़ाने लगती है और आगे की अपनी पढ़ाई जारी रखती है। बैजू आजीवन विवाह नहीं करता है। रमिया भी विवाह न कर 'समाज सेवा' करने का संकल्प लेती है। अंततः रमिया अपने गाँव के लोगों व बच्चों को बाबा साहब अम्बेडकर की कहानी सुनाती है और उन्हें बाबा साहब द्वारा बताए मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करती है।

इस उपन्यास के संदर्भ में अनिता भारती लिखती हैं कि " 'मिस रमिया' उपन्यास दलित, गैर-दलित साहित्य में कई मायनों में विशेष महत्व रखता है। इसका पहला महत्व तो यही है कि उत्तर भारत में दलित स्त्री लेखन में किसी दलित लेखिका का अभी तक आया यह पहला उपन्यास है। इस उपन्यास की दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि उपन्यास के मुख्य पात्र दलित और पिछड़े समाज की महागाथा के रूप में उभर कर आते हैं। कावेरी अपने उपन्यास के माध्यम से भविष्य में दलित-पिछड़े समाज द्वारा एकजुट होकर लड़ी जाने वाली वृहद लड़ाई का उद्घोष करती हैं।"[2]

दस द्वारे का पींजरा - यह उपन्यास लेखिका के स्कूल की सहपाठिनी 'मासूमा नाज' की स्मृति को समर्पित है। स्मृति का यह तंतु रमाबाई और ढेलाबाई जैसे दो अलग-अलग व्यक्तित्व और परिवेश से संबद्ध स्त्रियों की कहानी को अंततः आपस में जोड़ देता है। उनके जीवन संघर्ष और स्त्री मुक्ति के लिए उनके द्वारा किए गए प्रयासों को भी लेखिका ने ऐतिहासिक तथ्यों और कल्पना के मिश्रण से बखूबी व्यक्त किया है।

उपन्यास के आरम्भ में यह जानकारी प्राप्त होती है कि रमाबाई और उनकी पट्टशिष्या ढेलाबाई पर डाक्यूमेंट्री फिल्म बनाने की योजना चल रही है। जिसके तहत एकत्र

की गई सामग्री के आधार पर रमाबाई और ढेलाबाई की कहानी लिखी गई है। उपन्यास का प्रारम्भ रमाबाई के पिता अनन्तशास्त्री द्वारा स्त्री शिक्षा के लिए किए गए ठोस समर्थन से होता है, जिसके लिए उन्हें जाति बहिष्कृत भी कर दिया गया था। इसके साथ ही "पूरा उपन्यास उन्नीसवीं सदी की घटनाओं और आंदोलनों को किस्सों की लड़ी में पिरोता चला जाता है। आर्य समाज का आंदोलन, केशवचंद्र सेन जैसे सुधारकों के प्रसंग, पुणे में ज्योतिबा फुले और उनकी पत्नी सावित्रीबाई के द्वारा शूद्रों के लिए चलाया जा रहा शिक्षा आंदोलन, बम्बई के जस्टिस रानाडे के पारिवारिक हालात, सभी कुछ तारतम्य के साथ उपन्यास में उपस्थित हैं, क्योंकि इन सभी घटनाओं और व्यक्तियों का जीवन रमाबाई के जीवन से गहरे तक जुड़ा हुआ था।"[3] माता-पिता की मृत्यु के बाद रमाबाई के जीवन में भाई और पति सदाव्रत का साथ भी बहुत दिनों तक नहीं रह सका। आगे चलकर वह ईसाई मिशनरियों के संपर्क में आईं और धर्मान्तरण भी किया। वे देश में हों चाहे विदेश सर्वत्र स्त्री सरोकारों के लिए संघर्षरत रहीं।

उपन्यास का दूसरा खण्ड वेश्या ढेलाबाई के जीवन पर आधारित है। जहाँ कथावाचक हैं बाबा लोहा सिंह। वे जोगिनिया कोठी (मुजफ्फरपुर) से जुड़ी अनेक कहानियाँ सुनाते हैं। इन कहानियों के केन्द्र में ढेलाबाई और भोजपुर के जनकवि और क्रान्तिकारी महेंद्र मिसिर प्रमुख हैं। महेंद्र मिसिर ही छोटी उम्र में ढेलाबाई को अगवा कर बाबू हलवंत सहाय की कामेच्छा की पूर्ति हेतु लाए थे, लेकिन आगे चलकर ढेलाबाई और महेंद्र मिसिर में प्रेम संबंध भी बना। ढेलाबाई ने ही स्वतंत्रता संग्राम के दौर में एक-एक पाई जुटाकर उन्हें जेल से छुड़वाया था। अंत में ढेलाबाई अपनी नन्ना और महेंद्र मिसिर की प्रेरणा से रमाबाई के 'शारदा सदन' से जुड़ जाती हैं और रमाबाई के 'मुक्ति संघर्ष' का हिस्सा बनती हैं। इस प्रकार अंत में ये दोनों कहानियाँ 'स्त्री मुक्ति' के संघर्ष में एक साथ आ मिलती हैं।

ख. उपन्यासों में पितृसत्ता

कबूतरा जनजाति की स्त्रियाँ एक तरफ कज्जा (उच्च वर्ग) पुरुषों और दूसरी तरफ अपने ही कबीले के पुरुषों के पितृसत्तात्मक व्यवहार का सामना करने के लिए विवश होती हैं। लेखिका ने 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में इस बात को बखूबी अभिव्यक्त किया है। मंसाराम (कज्जा) कदमबाई के साथ धोखे से दैहिक संबंध बना लेता है लेकिन जब वह गर्भवती हो जाती है तो उसका उच्च वर्गीय, सभ्य माना जाने वाला अहम् जागृत हो जाता है, और वह सोचने लगता है "अगर मैं उसका पिता बना तो इस गृहस्थ का मालिक नहीं रहूंगा। लेकिन मैं इस घर का मालिक होकर ही सोहता हूँ। क्योंकि मैं उन लोगों से ऊँचा हूँ। मेरे मन में एक भद्र पुरुष बैठा हुआ है। मेरी जिंदगी उसी संस्कारवान पुरुष के आसपास होनी चाहिए। आनंदी मेरी पत्नी और मैं उसका पति। कदमबाई कहाँ से आई? मन से लग गई थी, मन में ही मर जाएगी।...नीच कौम की संगत का हमारे समाज-विधान में गहरा निषेध है। वह पुरुष मुझमें नहीं रहेगा, जो कदमबाई के बारे में सोचता है। उससे संबंध रखता है।"[4] एक स्त्री का उपभोग कर और उसे अनेक कठिनाइयों में झोंककर, उस स्त्री के विचार तक को झटककर आगे बढ़ जाना मानों वह कोई वस्तु हो जिसका इस्तेमाल हो जाने पर उपयोगिता खत्म हो गई हो। ऐसा व्यवहार पितृसत्तात्मक व्यवस्था में सहज ही संभव रहा है।

कदमबाई चूँकि कबूतरा जनजाति की स्त्री है इसीलिए गर्भवती होने के बावजूद तथाकथित सभ्य समाज के लोग उसके साथ अमानवीय बर्ताव करते हैं। वह स्वयं बताती है कि "भारी गगरी-सा पेट लेकर मोंठ से महुआ लाना आसान नहीं था, पर रोजी-रोटी का सवाल था। दो जीवों का आहार जुटाना था। भूख ने बेशर्मी पैदा कर दी - बस रुकी खड़ी थी, मैं चढ़ना चाहती थी। पहली सीढ़ी पर पाँव ही रखा था कि बस में से आवाजें उठीं - कबूतरी है, कबूतरी ! गाड़ी में बच्चा पैदा कर देगी। बच्चा साला रोएगा नहीं, जेबें झाड़ेगा। अरे नहीं, नहीं, सब ढोंग है। घाघरा खुलवाओ। पेट पर कपड़ा बाँध रखा होगा। बड़ी प्रपंचिन

औरतें होती हैं ये।"[5] उच्च वर्ग के लोगों द्वारा कदमबाई के साथ किए जाने वाले बर्ताव का मुख्य कारण कबूतरा जनजाति की स्त्री होना है, साथ ही इस जनजाति को नीच, असभ्य और अपराधी भी माना जाता रहा है। वास्तव में "अंग्रेजों ने इन्हें अपराधी करार दिया...सभ्यों ने अपने प्रभु की इच्छा स्वीकारी और ये दुर्दांत टोल अपराध कर्म से ही अपनी जीविका जुटाने लगे। छापामारी, सेंधमारी करने वाले कबूतरा के पड़ाव जंगल और जेल हुए तो कबूतरी शराब की भट्टी तथा श्री मंतों की सेज पर जा सजी।"[6]

कबूतरा जनजाति में भी स्त्रियाँ पितृसत्ता की दो तरफा मार झेलती हैं। एक तरफ कज्जा लोगों की पितृसत्तात्मक व्यवस्था है तो दूसरी तरफ कबीले के पुरुषों द्वारा निर्धारित कायदे-कानून हैं। कदमबाई का बेटा राणा बिरादरी के पेशे के अनुरूप चोरी नहीं कर पाता है। जिसकी सजा सरमन मुखिया द्वारा उन्हें सुनाई जाती है। सरमन के फैसले के अनुसार "राणा ने बिरादरी को नहीं, कबूतरा धरम को धोखा दिया है। अपनी हठ के चलते विरासत पर लात मार रहा है। हजारों का नुकसान...कदमबाई ता-जिन्दगी बेगार करे, तब ही भरपाई होगी? अब इतना ही कि महीने में तीस दिन के हिसाब से हर डेरे को दारू बनाने का जो एक दिन मिलता है, वह कदमबाई को नहीं मिलेगा। मुखिया के कब्जे में आ गई वह बारी।"[7] यद्यपि कदमबाई ने राणा पर बहुत दबाव डाला था कि वह किसी भी तरह कबीले की कार्यशैली को सीख ले लेकिन राणा सदैव अक्षम ही रहा। पंचायत के फैसले ने कदमबाई और राणा को भूखों मरने के लिए विवश कर दिया।

भूरी को भी कबूतरा पंचायत ने 'जल-समाधि' की सजा सुनाई थी। उसका अपराध यह था कि पति की मृत्यु के बाद उसकी जिद थी कि वह अपने बेटे रामसिंह को पढ़ा-लिखाकर बड़ा आदमी बनायेगी। इसीलिए उसने अपनी देह का समझौता कई बार किया था। यह बात बिरादरी में सभी जानते थे। पंचायत और बिरादरी ने उसकी जिद को तोड़ने के लिए एलान किया कि "बदकार औरत! सजा दो। रिवाज टूट जाएंगे तो बिरादरी का क्या मतलब? शादी-

ब्याह की महिमा क्या? भूरी कबीले में छूत की बीमारी फैला रही है। लुगाइयाँ मनमानी करेंगी, मर्द तबाह हो जाएँगे।"[8] भूरी पंचायत का विरोध करती है। जिसके परिणामस्वरूप पंचायत द्वारा उसे जल समाधि की सजा दे दी जाती है। जिसके तहत "पुराने समय से चले आ रहे रिवाजों के हिसाब से लोग गहरे तालाब के किनारे जुटते हैं- रात के समय। जल-परीक्षा लेने वाला आदमी ताल के दूसरी ओर पत्थर फेंकेगा। जहाँ पत्थर गिरे, वहाँ लाल कपड़े के रूप में औरत की जिंदगी रख दी जाती है। सजायाफ्ता औरत को तब तक पानी में डूबा रहना पड़ता है, जब तक कि सामने के छोर पर तैनात आदमी जल-परीक्षक को वह कपड़ा उठाकर न दे दे। उतनी दूर आना और जाना...साँसों से साँसों तक की दूरी। जिंदगी और मौत का दांव। प्राणों को डुबाकर भी स्त्री बच जाए तो उसका भाग्य। उसकी पवित्रता का सबूत।"[9] यद्यपि पंचायत का यह फैसला सफल नहीं हो पाता है लेकिन यह विचारणीय है कि अपने ही कबीले के पुरुषों द्वारा एक स्त्री के लिए जल-समाधि की कठोर परीक्षा मुकर्रर की जाती है। तात्पर्य यह कि समाज चाहे कोई भी हो पुरुष वर्चस्ववादी व्यवस्था होने के कारण स्त्री हमेशा सबसे निचले पायदान पर खड़ी केवल चोटिल होती रहती है।

कबूतरा स्त्रियों को केवल देह के रूप में देखा जाता है। उच्च वर्ण के पुरुष उन्हें केवल अपनी वासना पूर्ति का साधन समझते रहे हैं। इसीलिए दीवानजी रामसिंह का अपमान करते हुए उससे कहते हैं "अम्मा की छातियाँ देखी हैं, समय खाए लटक गई हैं। बहन न हो तो बदले में कोई और ही दिला। हम भी जोरू-बच्चों को छोड़कर यहाँ पड़े हैं।"[10] भूरी ने बेहद कष्ट सहकर रामसिंह को पढ़ाया-लिखाया था। रामसिंह मास्टर बन गया था। लेकिन भूरी का यह त्याग रामसिंह और भूरी दोनों को समाज में सम्मान न दिला सका। चपरासी भी रामसिंह को यह सुना गया कि "साले ऊँची जाति के लड़कों के हकों को हड़पकर चोर-उचक्कों से मास्टर-फास्टर बन गए। अब तक अम्मा लहँगा उठाए फिरती थी।

बेटा कुर्सी पर क्या बैठा अम्मा सती-सावित्री हो गई। सिपाही अब तक होंठ चाटते हैं - बूढ़ी हो गई तो क्या औरत नहीं रही?"[11]

कबूतरा जनजाति में स्त्री को केवल पण्य-वस्तु के रूप में देखा जाता है। आवश्यकता पड़ने पर जिनकी खरीद फरोख्त का चलन भी सदियों से होता रहा है। अल्मा को भी दुर्जन कबूतरा के पास गिरवी रख दिया जाता है। दुर्जन कहता है "अल्मा तू गिरवी धरी है, समझे रहना। भला इसमें बुराई भी नहीं। हम कबूतरों में तो यह चलन रहा है - जेवर-गहना-बासन और बेटी मुसीबत के समय काम आते हैं। अब तू मेरी खरीदी हुई..."[12]

दुर्जन के यहाँ से अल्मा सूरजभान के पास पहुँचा दी जाती है। सूरजभान भी उसे केवल अपनी कामवासना की पूर्ति का साधन बनाता है। धीरज और नत्थू दो लोगों को सूरजभान ने अल्मा की पहरेदारी के लिए नियुक्त किया है। सूरजभान के यहाँ अल्मा के साथ हुए दुर्व्यवहार के सन्दर्भ में नत्थू धीरज को बताता है "इस लड़की का नग-नग तलाशा था सूरजभान ने। संग में परसराम था। वे इसके कपड़े खोलते, यह उन पर धावा बोलती। उछलकर लात मारी थी परसराम की छाती पर। तब परसराम भी बिफर गया था, रेशा-रेशा नोंचा। हमसे तो देखा न गया बाबूजी! खुद ही आँखे मुंद गईं। कबूतरी है, पर है तो इंसान की बच्ची ही।"[13]

अल्मा चूँकि 'कबूतरी' थी इसलिए उसे अपनी देह को कामग्रस्त पुरुषों के सामने बार-बार परोसने के लिए विवश किया जाता रहा। सूरजभान ने उसकी जातिगत पहचान को जाहिर करने के लिए उसके हाथ में जबरदस्ती 'अल्मा कबूतरी' गुदवा दिया था। अल्मा के संदर्भ में धीरज सोचता है "इसका रूप इसकी सजा का कारण है, क्योंकि धन तो इसके पास है नहीं। हाँ धन का साधन जरूर बन सकती है। गुदने से कई मसले हल हो गए। लड़की होने के नाते इस पर जो गुजरेगा, यह सहना नहीं चाहेगी तो कबूतरी जाति होने के लिए झेलना पड़ेगा? अल्मा भी समझती होगी कि उसकी कौम के मर्द और औरतें किस

काम आते हैं।"[14] लेखिका ने कदमबाई, भूरी और अल्मा के जरिए कबूतरा जनजाति की स्त्रियों के जीवन में पितृसत्ता के स्वरूप को उद्घाटित करने का प्रयास किया है।

मिस रमिया- 'मिस रमिया' उपन्यास में लेखिका ने ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के तहत रहने वाली एक दलित लड़की 'रमिया' के जीवन संघर्षों का वर्णन किया है। ब्राह्मणवादी पितृसत्ता की 'जाति' और 'वर्ग' के आधार पर होने वाले शोषण का सूत्र संचालन करती हैं। और इस व्यवस्था की सीधी मार दलितों पर पड़ती है। दलितों में भी दलित स्त्री पर क्योंकि वह समाज व्यवस्था के सबसे निचले पायदान पर खड़ी है। "दलित महिलाएं अपने ऊपर कई तरह से हिंसा व उत्पीड़न सहती हैं। पहला, उस पर हिंसा का कारण महिला होना, दूसरा, उसका दलित महिला होना, तीसरा, गरीब होना तथा चौथा, घर में भी लिंग-भेद के कारण उस पर हिंसा होना है।"[15] रमिया को भी स्कूल से लेकर नौकरी तक में सर्वत्र शोषण और उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता है।

विद्यालय समानता और बन्धुत्व का प्रसार करने वाले केन्द्र माने जाते हैं। लेकिन हमारे देश में ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक मानसिकता से ग्रस्त शिक्षकों की कमी नहीं है जो जाति के आधार पर भेदभाव करते हैं। स्कूल में एक बार प्यास लगने पर, स्कूल के बागान में बने कुंए से पानी पीने के लिए ऑफिस के सामने से "रमिया दौड़कर बाल्टी उठा लायी। उठाते ही उसे एक गर्जन भरी डांट सुनायी पड़ी, "अरे! तू कौन है? बाल्टी छू दी।" बगुली वाला डंडा को गर्दन में फंसाकर टीकाधारी मास्टर ने उसे अपनी ओर खींचा और तड़ातड़ दो झापड़ जड़ दिये।"[16] दलित स्त्रियों के साथ इस प्रकार की हिंसा आम बात है।

मैट्रिक की पढ़ाई के बाद रमिया अपने ही गाँव के बच्चों को एकत्र कर निःशुल्क पढ़ाने लगती है। यहाँ भी सवर्ण माधो चाचा की नजर रमिया के इस काम पर पड़ जाती है और वे रमिया द्वारा मेहनत कर एकत्र किए गए सौ बच्चों की इस पाठशाला से फायदा उठाना चाहते हैं। जिसके लिए चार साल का झूठा रिकार्ड बनाकर सरकारी मान्यता प्राप्त

करने में कामयाब हो जाते हैं। इस सरकारी स्कूल में सवर्ण जाति की मधु को प्रधानाध्यापिका नियुक्त किया जाता है और रमिया एक मामूली शिक्षिका बनकर रह जाती है। जबकि मधु स्कूल के दलित बच्चों के साथ छुआछूत, भेदभाव मारपीट और गाली-गलौज भी करती है। रमिया जब इसका विरोध करती है तो ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक मानसिकता से ग्रस्त और उच्च जाति के दंभ से आपूरित मधु कहती है "रमी, तुम हमको आँख दिखायेगी। आखिर मैं कितना भी हूँ तुमसे जाति की ऊँची हूँ। इस नीच गधे को मारूं नहीं तो और क्या? सब कुत्ते गंगा नहायेंगे तो बर्तन कौन ढुनढुनायेगा। ये लोग पढ़-लिखकर क्या करेंगे।"[17] यही है पितृसत्तात्मक वर्णवादी मानसिकता और तथाकथित उच्चवर्गीय संस्कार जो जाति के आधार पर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव रखते हैं।

शिक्षा किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती है। इसीलिए रमिया गरीब दलित बच्चों को मुफ्त शिक्षा देती है, लेकिन मधु के शब्दों में "हमसे ऐसा नहीं होगा। एक तो हल चलाने वाले और नीच कर्म करने वालों को पढ़ाकर मूर्ख बनना। दूसरा मुफ्त! आज ये लोग पढ़ जायेंगे तो कल हमारी बराबरी करने लगेंगे। हमारे बच्चों के जैसा खाना-पहनना खोजेंगे।" यह कहकर नाक सिकोड़ने लगी, मानो अछूत का गंध उसके नाक में छेद कर देगा।"[18] मधु को ऐसी सोच ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था ने प्रदान की है। "मनुस्मृति में वर्णित ब्राह्मणवादी वर्चस्व वाली वर्णव्यवस्था की मानवता के आधार पर कटु आलोचना करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने नवम्बर 1929 में लंदन में आयोजित प्रथम गोलमेज सम्मलेन में अपने वक्तव्य में कहा कि 'भारतीय समाज जाति-पाँति की एक सीढ़ी के समान है। इसमें सबसे ऊपरी पायदान पर ब्राह्मण, बीच में क्षत्रिय, उसके बाद वैश्य और सबसे नीचे शूद्र हैं। इनका आदर और अनादर इसी क्रम में श्रेणी के अनुसार होता है। भारतीय समाज श्रेणीबद्ध जातियों का ऐसा समूह है, जो समता और भ्रातृत्व भावना को उपजने नहीं देता।"[19]

रमिया और श्यामली शिक्षक प्रशिक्षण के लिए गया जाती हैं। वहाँ भी हॉस्टल में रह रही कुछ सवर्ण सीनियर लड़कियां दलित होने के कारण बात-बात पर रमिया को अपमानित करती हैं। एक बार श्यामली को एक सीनियर ने डांटते हुए कहा कि "तुम अपने साथ एक एस.सी. लड़की को सुलाती हो?...तुम भी कायस्थ हो या उसकी जाति की?"[20] इतना ही नहीं "खाना खाते समय सीनियर पंक्ति से अलग बैठने को सीनियर कहती। उससे खाना छू न जाये, सब बचकर रहती।"[21] लेखिका ने समाज की इस कड़वी सच्चाई को मुखरता से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है कि सवर्ण चाहे पुरुष हों या स्त्री सभी दलितों को नीची निगाह से देखते हैं और अपमानजनक व्यवहार करते हैं।

माधो चाचा और ए.के. सिंह जैसे पुरुष ब्राहमणवादी पितृसत्ता के पोषक हैं। पितृसत्ता ने तो मानो ऐसे लोगों को दलितों को नीचा दिखाने की छूट ही दे रखी है। इसीलिए 26 जनवरी के अवसर पर रमिया द्वारा अपने स्कूल के बच्चों को प्रोग्राम में हिस्सा न लेने देने के विरुद्ध उठाए गए जायज प्रश्न पर भरी सभा में ए.के. सिंह ने उसे गालियाँ देते हुए कहा कि "चुप, चुप, एकदम चुप...हरामजादी अपने आप को क्या समझती है?"[22] एक दलित स्त्री के अभिव्यक्ति के अधिकार और अन्याय के खिलाफ उठाई गई आवाज पर एक उच्च वर्ग के पुरुष द्वारा अपमानजनक भाषा का प्रयोग जाहिर करता है कि आज भी पढ़ी-लिखी नौकरीपेशा युक्त दलित स्त्रियों को कहीं न कहीं पुरुषों के ऐसे दुर्व्यवहार का सामना करना पड़ता है।

दस द्वारे का पींजरा- 'पितृसत्ता' का अर्थ सर्वत्र नकारात्मकता को इंगित करना नहीं होता है। स्त्री के सन्दर्भ में पितृसत्ता का तात्पर्य अधिकांशतः अतिवादी तथा आक्रामक रूप में ही मुखर दिखाई पड़ता है। अनामिका ने अपने उपन्यास 'दस द्वारे का पींजरा' में पितृसत्ता के स्त्री समर्थक और विरोधी दोनों रूपों को बखूबी अभिव्यक्त किया है।

रमाबाई के पिता अनन्तशास्त्री ने स्त्री शिक्षा का पुरजोर समर्थन किया था। ब्राह्मण समाज इसका घोर विरोधी था। रमाबाई के पूरे परिवार को इसकी बड़ी कीमत भी चुकानी पड़ी थी। "इन्हें महाराष्ट्र के अपने ब्राह्मण समाज से जाति-बहिष्कृत किया गया! अपराध? यही कि वे पत्नी को और पुत्रियों को भी शास्त्र पढ़ाते, सुबह-शाम उनसे तरह-तरह के गूढ़ विषयों पर विचार-विमर्श करते देखे गए!"[23] ब्राह्मणवादी पितृसत्ता और शास्त्रज्ञों ने स्त्री शिक्षा का विरोध इसलिए भी किया कि शिक्षा प्राप्त होने पर स्त्रियाँ चौका-बर्तन से बाहर निकलने का कोई न कोई मार्ग ढूंढ निकालने में सक्षम हो जाएंगी जो पुरुष वर्ग की सहूलियतों में बाधा बन जाती।

रमाबाई के समय में स्त्री के पास अपनी बौद्धिक प्रखरता दिखाने का न तो कोई स्पेस था और न ही उसे कोई महत्व दिया जाता था। उसे केवल देह के रूप में देखा जाता था। यह स्थिति आज भी बनी हुई है। रमाबाई को पुरुषों की इस दृष्टि का सामना तब करना पड़ा जब उनके जीवन के लगभग अंतिम सहारे भाई श्रीधर का असमय निधन हो गया। तब "कोई शोक जताने भी आता तो जाने का नाम ही नहीं लेता! मुहल्ले या बृहत्तर समाज का हर परिचित सुबह-शाम किसी वक्त हाजिर - और सबकी निगाहों में राल! मुँह से टपकती राल तो रमाबाई ने पहले भी देखी थी - भूखों के बीच ही जीवन गुजारा था - पर आँखों से टप-टप टपकती हुई राल, खाए-पिए और अघाए से पुरुषों की राल भाई के गुजरने के बाद ही दिखी!"[24]

रमाबाई पढ़ी-लिखीं, सबल स्त्री थीं। इसीलिए अधिकांशतः वह पुरुषों की उस रुग्ण दृष्टि का विरोध कर पाई जो स्त्री को केवल उपभोग की वस्तु के रूप में देखती है। लेकिन "रमाबाई की दीदी कृष्णा बीमार है। पति के अनाचार से शर्मिन्दा स्त्री! बच्चे पर बच्चे हुए जाते हैं! स्त्री- काया की यह दुर्गति रमाबाई को परेशान रखती है! दिन-भर घर की चाकरी और खब्ती पति की मार-डांट, रात को फिर उसके साथ सोने की मजबूरी और सोने का

नतीजा ये गोदी के लालने-गद पर गद! बाकी का सारा जीवन चकल्लस, खिदमत और अम्मागिरी की बड़ी कैद!"[25] कृष्णा के जीवन की कहानी पितृसत्तात्मक समाज में एक आम स्त्री की मजबूरी को अभिव्यक्त करती है।

रमाबाई आजीवन क्रांतिकारी जज्बे के साथ जीती रहीं। इसके लिए कदम-कदम पर पितृसत्ता से उनकी टक्कर भी होती रही। उन्होंने अपने से छोटी जाति के सदाव्रत से प्रेम विवाह करने की ठान ली थी जो उनकी माँ के लिए चिंता का विषय बन गया था। वे सोचती हैं कि "सदाव्रत का इनके साथ-साथ फिरना भी ठीक नहीं है, लोग बातें बनाएंगे। प्रेम-विवाह उनका भी हुआ था, पर जाति में ही! जाति के बाहर अज्ञातकुल बालक से बेटी की शादी मस्तिष्क में अंटती ही नहीं थी!"[26] भारत में आज भी जाति एक बड़ा मुद्दा है। पितृसत्तात्मक संस्कार रूढ़ हो चुकी जाति व्यवस्था को बनाए रखने के लिए लम्बे अर्से से स्त्री एवं पुरुष दोनों को समान रूप से तथाकथित नैतिक शिक्षा प्रदान करते रहे हैं।

रमाबाई अपनी इंग्लैण्ड यात्रा के दौरान क्रिश्चियन मिशनरियों से बेहद प्रभावित हुई थीं। उन्होंने धर्मान्तरण भी कर लिया था। लेकिन सावित्री बाई फुले और महात्मा फुले के अतिरिक्त किसी ने भी मिशनरी से उनके जुड़ने का समर्थन नहीं किया था। विवेकानंद और लोकमान्य तिलक तो लगातार निंदा कर ही रहे थे। लेकिन "सबसे ज्यादा चोट रमाबाई को रामकृष्ण परमहंस की आलोचना से लगी जब उन्होंने इनके मतांतरण को अहम्मन्यता और नाम-धाम पाने की लालसा कहा।"[27] वास्तव में 'धर्म' अपने तमाम पहलुओं के बावजूद प्रत्येक व्यक्ति का निजी मसला भी है। जो उसकी अवधारणाओं और दृष्टिकोण को सुनिश्चित करता है। लेकिन पितृसत्ता के तहत स्त्री की किसी भी स्वतंत्र अवधारणा और दृष्टिकोण को सदैव कम करके आंका जाता रहा है।

उपन्यास में फैनी पावर्स एक विदेशी महिला है। वह रमाबाई को अपने जीवनानुभव बताती हुई कहती है कि "ये ही सपना था कि कोई एक प्रेमी होगा, उससे ही शादी करूंगी,

वो टूटकर मुझको प्यार करेगा...लेकिन वो तो ऐसा निकला - बात-बेबात पर धुन देने वाला। औरत नहीं- उसको रबर की गुड़िया चाहिए थी- हरदम मुस्कानेवाली, हर बात पर 'यस सर, यस सर' कहने वाली...धीरे-धीरे मेरे सपने पंक्चर टायर की तरह मुझे बीच रस्ते ही छोड़ गए! बैठ गई मैं बीच रस्ते! बैठकर सोचने लगी कि करूं क्या, कहाँ जाऊं!"[28] पितृसत्ता में स्त्री तभी भली है जो न प्रश्न करे, न प्रतिवाद बस पुरुष की हाँ में हाँ मिलाती जाए।

रमाबाई विधवा थीं। पितृसत्ता द्वारा विधवा स्त्री के लिए तमाम नियमावलियां तय थीं। "एक विधवा जो कन्या शिशु की माँ हो, उसके साथ उपेक्षापूर्ण और कभी-कभी विशुद्ध तिरस्कारपूर्ण व्यवहार किया जाता था। विशेष रूप से तब, जब पति के जीवन काल में बेटी का विवाह न हुआ हो।"[29] जस्टिस रानाडे और उनकी पत्नी द्वारा रमाबाई के प्रति अपनाया जाने वाले स्नेहपूर्ण व्यवहार को रानाडे परिवार के अन्य सदस्य शंका की दृष्टि से देखते थे। बार-बार रमाबाई के कानों में कुछ ऐसी बातें पड़ती रहती कि "ये ढंग है विधवा के रहने का? पति गए तो भ्रमण की मुक्ति ही मिली। पहले तो बाल कटे भी हुए थे, अब बढ़ने लगे हैं। बच्ची को झोले में डाला और क्रिस्तानी बनकर खुद सात समुन्दर पार चलीं कि दुनिया देखे।"[30]

केशवचंद्र सेन, विवेकानंद जैसे विद्वानों और समाज सुधारकों ने कई मौकों पर स्त्री विरोधी टिप्पणियाँ की हैं जिनका उल्लेख प्रसंगानुरूप लेखिका ने उपन्यास में किया है। कलकत्ता जाने पर रमाबाई केशवचंद्र सेन के उदारतापूर्ण व्यवहार से काफी प्रभावित थीं। बाद में पढ़ने-सुनने पर पता चला कि "स्त्रियों के मेडिसिन पढ़ने के पक्ष में वे बिल्कुल नहीं थे, उन्हें लगता था कि विश्वविद्यालय तक की शिक्षा, खासकर मेडिसिन की शिक्षा, स्त्रियों से स्त्री-सुलभ कमनीयता छीन लेगी। दिमाग पर इतना जोर कोमलांगियों को बर्दाश्त नहीं होगा, वे बीमार पड़ जाएंगी। शरीर की तरह उनका दिमाग भी छोटा होता है, उसकी धारकता कम होती है।"[31] विवेकानंद ने तो यह विवादास्पद टिप्पणी भी की थी कि

“भारतीय महिलाओं को तो सैकड़ों वर्षों से संपत्ति का अधिकार भी है। पति की मृत्यु के बाद पूरा का पूरा राजपाट तक स्त्रियों के नाम हो जाता है।”[32] ऐसे देश में जहाँ स्त्रियों ने सती और जौहर जैसी जघन्य और क्रूर प्रथाओं का दंश झेला हो, वहाँ सच के विपरीत विवेकानंद की यह टिप्पणी उनके स्त्री संदर्भित दृष्टिकोण पर प्रश्न चिह्न खड़ा करती है।

उपन्यास में ढेलाबाई के जरिए लेखिका ने पितृसत्तात्मक समाज में वेश्याओं की स्थिति का अंकन बखूबी किया है। ढेलाबाई एक वेश्या की पुत्री थी और आजीवन एक वेश्या जैसा जीवन जीने के लिए विवश रही। हलुवन्त सहाय का उस पर दिल आ गया। हलुवन्त सहाय के चहेते महेन्दर मिसिर उसे कोठे से उठाकर हलुवन्त सहाय की कोठी पर ले आए। हलुवन्त सहाय ने वादा किया था कि वह ढेला को अपनी पत्नी के रूप में रखेंगे। लेकिन क्या इससे उसका जीवन बदल गया। अपनी स्थिति महेन्दर मिसिर को बताते हुए वह कहती है कि “रंडी की बेटी जिसे कोई कुछ भी कह सकता है, कहने की कौन कहे- कर सकता है कोई कुछ भी जिसके साथ : कभी भी, किसी भी समय दरवाजा धकियाकर घुस सकता है भीतर! वो जो दीवार देखते हैं न - भगवान बाजार के उस खंडहर की दीवार-ढोर-डंगर जिसकी छाया में पगुराते हैं - पिच्च-पिच्च फेंकी हुई कितनी पीकें वहाँ हैं ! सामने पान की दूकान है ! कोई उस दीवार से पूछ कर तो पीक नहीं फेंकता उस पर ! मैं हूँ वह दीवार ! हर रंडी वही दीवार है- कोठे पर हो चाहे कोठी में !”[33] एक वेश्या केवल पुरुष की कामेच्छाओं की पूर्ति का साधन भर है। पितृसत्तात्मक समाज में उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को देह में तब्दील कर उसे मात्र उपभोग की वस्तु के रूप में देखा जाता है।

बलात्कार पुरुष द्वारा स्त्री पर किया जाने वाला ऐसा आघात है जो उसके समूचे अस्तित्व को गहराई तक भेद जाता है। ढेलाबाई की नातिन काननबाला बलात्कार की शिकार बनती है। “कौन जानता था कि ऐसी हँसती-खेलती, चुहलबाज और निडर लड़की पर लड़की होना ऐसा भारी पड़ेगा। ढेलाबाई के पुराने शत्रु, फेनूगिलास, तब पटना के दारोगा थे।

बहुत दिनों से ताक में थे कि चिड़िया हाथ लगे।...उस रात रिहर्सल में देर हो गई थी। एकदम से धर दबोचा।"[34] फेनूगिलास बाबू हलुवन्त सहाय का भांजा था और एक समय में ढेला से विवाह करना चाहता था। ऐसा न हो पाने पर वह काननबाला का पीछा करने लगा था। यह पितृसत्ता का हथकण्डा है कि यदि स्त्री पुरुष की कोई बात न माने तो पहले उसकी अस्मिता पर प्रहार करना और फिर उसके चरित्र और इज्जत का ऐसा ढिंढोरा पीटना कि वह पूरी तरह से धराशायी हो जाए।

इस प्रकार एक तरफ जहाँ रमाबाई को आजीवन पितृसत्तात्मक विचारधारा की घोर आलोचना से गुजरना पड़ा वहीं ढेलाबाई रूढ़ सामंती पितृसत्ता के तले जीने के लिए अभिशप्त रहीं।

ग. प्रमुख स्त्री चरित्र एवं मुक्ति का प्रश्न

अल्मा कबूतरी - इस उपन्यास में लेखिका ने न केवल अपराधी समझी जाने वाली कबूतरा जनजाति की स्त्रियों की मुक्ति की बात कही है बल्कि वह उस पूरे समाज की मुक्ति की बात करती हैं। वास्तव में "अपराधी जनजातियाँ या मैदानी आदिवासी ऐसा मानवता समूह हैं जो कि विकसित समाज के घूरों पर बसी हुई हैं। इन्हें अरण्य आदिवासी समाज और कृषक शहरी समाजों के बीच कहीं रखा जा सकता है। मोटे तौर पर मैदानी और अपराधी जनजातियाँ न तो कभी अरण्य आदिवासी समाज की धारा में शामिल हो सकी और न ही सभ्य देहाती समाज ने इन्हें अपने एक हिस्से के रूप में स्वीकार किया। यदि गैर समाजशास्त्रीय शब्दों में कहें तो इनकी नियति उस 'त्रिशंकु समाज' की है जो 'अवांछित' बने रहकर गुजर-बसर करते हैं। ऐसे ही अवांछित लोगों की गाथा है अल्मा कबूतरी।"[35] लेखिका ने पूरे कबूतरा समाज की बात करते हुए भी उस समाज की स्त्री की समस्याओं को, जीवन स्थितियों को प्रमुखता से उजागर किया है। उपन्यास में भूरी, कदमबाई, अल्मा प्रमुख स्त्री चरित्र के रूप में उभर कर आती हैं।

भूरी कबूतरा समाज की ऐसी पहली स्त्री थी जिसने अपने पति की मृत्यु के बाद भी अपने बेटे रामसिंह को शिक्षित करने की ठान ली थी। "बस्ती की सबसे पहली माँ थी भूरी, जिसने बेटे को कुल्हाड़ी-डंडा न थमाकर पोथी-पाती पकड़ाई और मन कागज की तरह हल्का कर लिया।"[36] यद्यपि इसके लिए उसे कई बार अपनी देह और ईमान का सौदा करना पड़ा था लेकिन वह समझ चुकी थी कि 'मुक्ति' के लिए शिक्षा ही एक कारगर माध्यम हो सकती है।

भूरी की अगली पीढ़ी में कदमबाई का पदार्पण होता है। वह बेहद साहसी थी। उसके पति जंगलिया को मार डाला गया था फिर भी उसने अपने पुत्र राणा को शिक्षित करने के विषय में गंभीरता से विचार किया था। वह रामसिंह के जरिए राणा को पढ़ा-लिखाकर एक मुकम्मल इंसान बनाने का सपना देखने लगी थी। "कदमबाई रामसिंह के साए में बेटे की तसवीर देख रही है। तसवीर किसी नदी के किनारे के एकांत या सुनसान जंगल के पेड़ों के नीचे रोने की नहीं, गांवों- कस्बों में जमी सत्ताओं से टकराने की है। वह छिपने का नहीं, लड़ने का सपना देखने लगी है।"[37] एक ऐसा समाज जो लूटपाट और सेंधमारी से मुक्त हो। कदमबाई अपने बेबस समाज की स्थितियों पर प्रकाश डालती हुई कहती है कि "जिंदा रहें, सलामत रहें। खुलकर जिएं। तब तो ब्याह की बात भी अच्छी लगती है। रस-रंग सुहाते हैं। बंधे-जकड़े लोगों के कैसे ब्याह? लछमन की बहू का कैसा सुहाग? मेरी भाभी के कैसे संजोग? मुखिया, हमारी उम्र दूसरा-तीसरा-चौथा मर्द करने में पूरी हो जाती है।"[38] कदमबाई के इस कथन के जरिए उस समाज की अव्यवस्था और पतनोन्मुख स्थितियों से 'मुक्ति' की छटपटाहट को साफ देखा जा सकता है।

'अल्मा' उपन्यास के आधे भाग की नायिका है। लेकिन अंत तक आते-आते सभी कथासूत्र कहीं न कहीं अल्मा से जुड़ जाते हैं। तब 'अल्मा कबूतरी' को स्पष्टत: उपन्यास की केन्द्रीय स्त्री पात्र के रूप में देखा जा सकता है। अल्मा राणा की प्रेमिका और कदमबाई

की अगली पीढ़ी की प्रतिनिधि स्त्री पात्र है। अल्मा के पिता रामसिंह ने उसे पढ़ाया-लिखाया और एक सुसंस्कृत जीवन-मार्ग दिखाने की भरपूर कोशिश की थी। फिर भी कबूतरी होने के दंश से वह बच नहीं सकी। "अल्मा कबूतरी" कबूतरा जनजाति का एक प्रेम-संपृक्त, जीवन-उन्मेषी पात्र है। प्रेम, अपनत्व, घरेलूपन ये कुछ ऐसे आत्मराग हैं, जिनमें कई बार यथार्थ के शिलालेख समाकर अपनी लिपि खो बैठते हैं। अल्मा यथार्थ की एक लिपि मिटा देने वाली कबूतरी है, तो दूसरी लिपि लिखना भी चाहती है जो उसकी देह और आत्मा से फूटती लिपि है। इसलिए जनजातिगत जो आपराधिक कुविशेषण सभ्यता ने कबूतरा जनजाति के नाम पर रखे हैं उन कुविशेषणों के विरुद्ध अल्मा एक प्रकार का विद्रोह है।"[39]

कबूतरा जनजाति की स्त्रियों के संदर्भ में लेखिका ने जिन प्रश्नों को उजागर किया है उनमें उन्हें बार-बार आद्यंत केवल 'देह' के रूप में देखा जाना और उनकी खरीद-फरोख्त प्रमुख है। भारत में स्त्री व्यापार का कारोबार तेजी से बढ़ रहा है। "अंतर्राष्ट्रीय संस्था (थॉम्पसन रॉयटर फाउन्डेशन पोल) द्वारा कराए गये सर्वेक्षण की एक रिपोर्ट कहती है कि भारत दुनिया में औरतों के लिए चौथा सबसे खतरनाक देश है।...भारत में मानव तस्करी के और सटीक आँकड़े राष्ट्रीय महिला आयोग की रिपोर्ट में भी दर्ज हैं। रिपोर्ट कहती है कि देश के 378 जिलों में करीब 1794 ऐसे स्थान हैं, जहाँ से लड़कियों की तस्करी की जाती है।"[40] उपन्यास में लेखिका ने कबूतरा समाज में स्त्रियों की खरीद-फरोख्त और इस स्थिति से 'मुक्ति' पाने की तीव्र छटपटाहट को बखूबी अभिव्यक्त किया है। अल्मा जो पढ़ी-लिखी कुशाग्र बुद्धि की लड़की है उसे भी एक तो स्त्री होने और दूसरा 'कबूतरी' होने के कारण एक-एक कर कई हाथों में बेचा जाता है और इस प्रकार अंततः 'देह' में तब्दील कर दिया जाता है। 'कदमबाई' स्वयं को आजीवन देह के रूप में देखने के लिए बेबस थी। 'मुक्ति' उसके लिए स्वप्न भर थी। अल्मा को एक तो स्त्री होने, और उस पर भी कबूतरी होने के कारण अनेक कष्ट झेलने पड़े थे। तमाम कष्टों से गुजरते हुए उसके भीतर की विद्रोही चेतना और अधिक तीव्रतर होती जा रही थी। इसीलिए अंत में जब अल्मा श्रीराम शास्त्री के

घर पहुंचती है उस समय उसके "भीतर ही भीतर संवाद चल रहा था - आप जानते हैं मैं यहाँ क्यों रूकी हुई हूँ? आप समझते हैं कि मैं ज़िंदा भी क्यों हूँ? बड़ी सीधी बात है, आप लोगों ने हमारी दुनिया उजाड़ी है, मैं आपको उजाड़े बिना नहीं मरूंगी। मैं सबको बता दूँगी कि पाप कहाँ पलता है? अपराध कौन लोग करते हैं? सताने और मारनेवाले ठेकेदार कौन हैं?"[41] यद्यपि लेखिका ने इस बात की ओर संकेत किया है कि श्रीराम शास्त्री की मृत्यु के बाद अल्मा बबीना विधान सभा सीट के लिए उम्मीदवार होंगी। इस तरह अल्मा को स्वयं को साबित करने का, अपने विद्रोह को मुकम्मल अंजाम देने का मौका मिलता है। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि जब तक सत्ता और समाज के अंतर्संबंध सुदृढ़ नहीं होंगे, वर्ग और जाति का बोलबाला समाज में बना रहेगा, तथाकथित सभ्यता के आवरण को जब तक निरावृत्त नहीं किया जाएगा तब तक सत्ता और शक्ति से परिपूर्ण समाज व्यवस्था के नियामकों द्वारा अपराधी करार दी गई सम्पूर्ण 'कबूतरा जनजाति' और उस जनजाति की 'स्त्रियों' की 'मुक्ति' के लिए कड़े संघर्ष की आवश्यकता बनी रहेगी।

मिस रमिया- 'मिस रमिया' उपन्यास में 'रमिया' और 'श्यामली' दो प्रमुख स्त्री चरित्र हैं। रमिया दलित है किन्तु श्यामली दलित न होते हुए भी सदैव रमिया के साथ होने वाले अन्याय के विरुद्ध उसके पक्ष में खड़ी रहती है। इस तरह लेखिका ने इन पात्रों के जरिए दलित स्त्री की 'मुक्ति' के प्रश्न को उठाया है। दलित स्त्रियों का एक बड़ा हिस्सा "आज भी समाज की मुख्यधारा से पूर्णतया कटा हुआ होने के साथ-साथ शिक्षा, स्वास्थ्य, आर्थिक स्थिति में बदहाली की स्थिति में जी रहा है। आत्म-सम्मान से जीना इस वर्ग के लिए दिवास्वप्न जैसा है। संविधान द्वारा प्रदत्त समानता के लक्ष्य से यह वर्ग कोसों दूर है।"[42]

रमिया एक प्रतिभाशाली छात्रा है। वह कक्षा में सदैव अव्वल आती है। आर्थिक तंगी के बावजूद भी उसके माता-पिता उसे पढ़ाते हैं। यहाँ लेखिका डॉ. अम्बेडकर के विचारों से पूरी तरह प्रभावित जान पड़ती हैं। वस्तुतः "अम्बेडकरी आंदोलन औरतों को पुरुषों के समान

हक देने के लिए था"[43] डॉ. अम्बेडकर ने अपने पिता के मित्र को लिखे एक पत्र में कहा था कि "यह गलत है कि माँ-बाप बच्चों को जन्म देते हैं कर्म नहीं देते। माँ-बाप बच्चों के जीवन को उचित मोड़ दे सकते हैं, यह बात अपने मन पर अंकित कर यदि हम लोग अपने लड़कों की शिक्षा के साथ ही लड़कियों की शिक्षा के लिए भी प्रयास करें तो हमारे समाज की उन्नति तीव्र होगी।"[44] वास्तव में आज भी दलित स्त्री शिक्षा का स्तर बेहद निम्न है। जबकि शिक्षा ही वह प्रथम माध्यम है जिसके जरिए एक तो वह अपने साथ सदियों से हुए शोषण और अन्याय के खिलाफ आवाज उठा सकती है और दूसरा दलित स्त्री और पूरे दलित समाज के विकास में अपना योगदान दे सकती है। इसलिए शिक्षा ही स्त्री मुक्ति की दिशा में प्रथम कदम है। रमिया शिक्षा के महत्व को बखूबी समझती है और आगे चलकर अपने गाँव के बच्चों को मुफ्त में पढ़ाती भी है।

लेखिका रमिया का वर्णन एक सद्चरित्र और मेहनती लड़की के रूप में करती हुई लिखती हैं "कितनी डोम टोली, कहर टोली, ब्रह्म टोली की लड़कियां बड़का घर के छोकरों के साथ मेला-हाट घूमती हैं और इधर-उधर मौका मिलने पर बिछावन भी गरमा देती हैं। उन छोरियों का फैशन देखते बनता है। किन्तु रमिया है कि केवल दो ही साड़ी पर पूरी पढ़ाई खत्म की है। आज उसके पास फार्म भरने के लिए पैसा नहीं है।"[45] घोर आर्थिक तंगी के बावजूद न तो रमिया के माता-पिता ने उसकी पढ़ाई छुड़ाई और न ही रमिया ने उन्हें कभी निराश किया। लेखिका रमिया के चरित्र के जरिए यह बताना चाहती हैं कि मेहनत और लगन से सबकुछ हासिल किया जा सकता है।

कड़े संघर्ष से पढ़ने-लिखने के बाद रमिया शिक्षिका बनने में कामयाब हो गई। नौकरी में भी दलित होने के कारण उसे अन्य सहकर्मियों के द्वारा कई बार अपमानित किया गया। एक बार गणतंत्र दिवस पर ए.के. सिंह द्वारा अनावश्यक ही भरी सभा में चिल्लाकर गाली दिए जाने पर वह चुप न रह सकी। "मिस रमिया ने कमरे में बंद होकर काफी चिंतन

किया। आखिर क्यों ऐसा हुआ? मुझसे सिंह जी का कभी कोई झंझट नहीं था, आखिर क्या समझकर भरी भीड़ में उसने ऐसा कहा? क्या दलित के घर पैदा होना गुनाह है? गाँव में वह अपमान झेलती थी। वह तो अनपढ़ थे। आज बीस वर्ष बाद भी बुद्धिजीवियों के अंदर वही भावना है। उनकी मनमानी को कोई रोक नहीं सकता? मिस रमिया ने सोचा, 'नहीं ऐसा नहीं होने दूँगी। न्याय के लिए लड़ूंगी।"[46] रमिया का यह फैसला पढ़ी-लिखी चेतना सम्पन्न स्त्री का फैसला है। "मिस रमिया भी डट गयी। स्वयं तो गाली उसने खायी। परन्तु लोकतांत्रिक देश में राष्ट्रीय झंडा के सामने किसी और नारी को इस तरह गाली कोई न दे वह मुकाबला के लिए तैयार हो गयी। यदि वह आज झुक जायेगी तो कल सरेआम और किसी नारी को प्रताड़ित किया जा सकता है। सिर्फ उसका अपमान नहीं, नारी समाज का अपमान हुआ है।"[47] अपने साथ हुए अपमानजनक व्यवहार के सन्दर्भ में न्याय के लिए रमिया डटी रही और अंततोगत्वा उसे सफलता भी मिली। "अनुसूचित जाति एक्ट (हरिजन एक्ट) लगने से दलितों को न्याय का आधार मिला। अनुसूचित जाति-जनजाति की संस्थाएं भी जागरूकता के साथ दलितों को न्याय दिलाने में संघर्षरत थीं। अम्बेडकरवादी आंदोलन से दलितों में जागृति आ गई थी। रमिया ने संघर्ष किया, न्याय भी पाया। मगर मानवतावादी दृष्टिकोण से अपराधी को क्षमा करके उससे नौकरी नहीं छीनी। उसके बीवी-बच्चों के साथ अन्याय नहीं किया।"[48] लेखिका ने रमिया के चरित्र का गठन एक ऐसी दलित स्त्री के रूप में किया है जो यह जानती है कि 'मुक्ति' कभी भी चुप बैठकर नहीं मिल सकती है। इसीलिए वह न्याय के लिए लड़ती है। आज 'दलित स्त्री समाज' को रमिया जैसी स्त्रियों की ही आवश्यकता है जो पढ़-लिखकर इतनी जागरूक हो जाएँ कि अपने साथ होने वाले दुर्व्यवहार के लिए स्वयं आवाज उठा सकें।

दूसरी प्रमुख स्त्री चरित्र है श्यामली। वह रमिया की अभिन्न मित्र है। यद्यपि दोनों अलग-अलग वर्ग से संबंध रखती हैं। रमिया दलित है और श्यामली कायस्थ टोले से सम्बन्धित है। दोनों बचपन से ही साथ पढ़ती आई हैं। श्यामली रमिया के साथ होने वाले

जातिगत भेदभाव के खिलाफ हमेशा रमिया का साथ देती है। लेखिका ने उपन्यास की शुरुआत ही इस कथन के साथ की है कि "श्यामली छोटी थी तभी से दुनिया का अजीबोगरीब धंधा देखकर दंग है।"[49] श्यामली जातिगत भेदभाव से कोसों दूर है। एक बार एक दलित पुरुष पात्र बैजू को उच्च वर्ग के कुछ लड़कों द्वारा श्यामली से बात करते देखे जाने पर खूब मारा-पीटा गया था। जाति के आधार पर ऐसी अमानवीयता बरतने वाले उच्च वर्ग के लोगों से श्यामली प्रश्न करती हुई कहती है कि "आवारों की तरह घूमते हैं। काला अच्छर भैंस बराबर है। ऊपर से पंडित कहलाने के अधिकारी हैं। क्योंकि उनके बाप-दादा पंडित कहलाते आये हैं। बिना गुण का। लेकिन मेरी नजर में तू ही पंडित है। मैं मूर्खों की लिखी बातों में विश्वास नहीं करती। इन लोगों ने कौन-सा नियम बना रखा है कि पंडित पीढ़ी दर पीढ़ी पंडित ही कहलाये जबकि एक अच्छर का ज्ञान नहीं, और दूसरे वर्ग के लोग वास्तव में पंडित रहते हुए भी अपने पूर्वजों के रंग में ही रंगे रहें।"[50] एक अन्य स्थान पर वह कहती है कि "दूसरे देश चाँद सितारा पर घर बसाने जा रहे हैं यहाँ तो भारतीय अपनी जातीयता की सड़ी दुर्गन्ध से सड़ रहे हैं। कौन उतारेगा इन्हें ढोंगीपन से। मैं कहती हूँ कि जब बनाने वाला जाति भेद करके नहीं बनाता तो इन सड़ांधों में रहने वाले लोग क्यों भेद बनाये?"[51]

श्यामली समानता की पक्षधर है। गया के हॉस्टल में सीनियर लड़कियों द्वारा दलित होने के कारण रमिया से बार-बार दुर्व्यवहार किये जाने पर जब रमिया हॉस्टल छोड़कर चली जाती है तो श्यामली अत्यंत कड़ा रुख अख्तियार कर लेती है। "शमी हॉस्टल में किसी से बात नहीं करती थी। रमिया एक होनहार, प्रतिभा से पूर्ण, तीव्रबुद्धि की लड़की के साथ ऐसा व्यवहार? उसे इस पर क्रोध आता। भारत की दशा क्या होगी? आजादी मिली है। किसको मिली? भारत के वीरों ने अपनी कुर्बानी दी किसके लिए? हँसते-हँसते फाँसी को गले में लगाया किसके लिए? चंद चाटुकारों और भोगियों के लिए, जिन्हें सत्ता सुख चाहिए? देश के नागरिक अभी भी असहाय और लाचार हैं।"[52] इस तरह श्यामली कभी बैजू

के पक्ष से तो कभी रमिया के पक्ष से जातिगत भेदभाव का आद्यांत विरोध करती है और 'जाति से मुक्ति' के प्रश्न को बार-बार उठाती है।

लेखिका ने श्यामली को एक ऐसी पढ़ी-लिखी और विवेकसम्पन्न स्त्री के रूप में चित्रित किया है जो दलित न होते हुए भी हमेशा रमिया का साथ देती है और अन्याय के खिलाफ कहीं-कहीं रमिया से भी अधिक मुखर दिखाई पड़ती है। वास्तव में श्यामली लेखिका द्वारा गढ़ा गया एक ऐसा 'चेतनासंपन्न' चरित्र है जिसकी आवश्यकता आज भी बनी हुई है।

रमिया यदि स्त्री मुक्ति के लिए आजीवन अविवाहित रहकर और अम्बेडकरवादी विचारधारा का अनुसरण कर अपने समाज में व्याप्त 'अज्ञानता' को दूर करना चाहती है तो श्यामली भेदभाव से परे समाज के निर्माण में सदैव उसका साथ देना चाहती है। इस प्रकार लेखिका ने एक ऐसे 'काम्य संसार' की सृष्टि की है जहाँ अलग-अलग वर्ग की स्त्रियाँ मिलकर 'स्त्री मुक्ति' का प्रयास कर रही हैं।

दस द्वारे का पींजरा- "अहो मैं मुक्त नारी / मेरी मुक्ति धन्य है!

पहले मैं मूसल ले धान कूटा करती थी,

आज उससे मुक्त हुई!

गए मेरी दरिद्रावस्था के छोटे बरतन-

मैं जिनसे घिरी हुई बैठा करती थी-

मैली-कुचैली!

गया मेरा निर्लज्ज पति गया

जो मुझे उन छातों से भी तुच्छ समझता था

जिन्हें बनाता था वह जीविका के लिए।"[53]

ये सभी स्त्रियों की आकांक्षित पंक्तियाँ हैं और रमाबाई इससे भरपूर इत्तेफाक रखती हैं। रमाबाई एक ऐसी ऐतिहासिक चरित्र हैं जो आजीवन स्त्री सरोकारों से जुड़ी रहीं और स्त्री-मुक्ति के लिए लड़ती रहीं। "रमाबाई ने जहाँ स्त्री-शिक्षा (जबकि शिक्षित औरतों को उस समय डायन समझा जाता था) विधवा विवाह, स्त्रियों के संपत्ति पर अधिकार की पुरजोर वकालत की, वहीं बेमेल विवाह, बच्चियों का बूढ़ों के साथ विवाह, विधवाओं के केश कतरने और समाज में उनके उत्पीड़न का विरोध किया। सहिष्णुता, धीरज और त्याग बड़े मूल्य हैं, पर इन्हें औरतों का ट्रेड मार्क नहीं माना जाना चाहिए। यह भी कहा कि स्त्रियाँ अगर अपने निर्णय स्वयं नहीं लेंगी तो शिक्षा सिर्फ सजावट होकर रह जाएगी।"[54]

रमाबाई बचपन से ही बेहद कुशाग्र बुद्धि की थीं। किसी भी विषय का सूक्ष्म निरीक्षण करने में वह कुशल थीं। स्त्री की गुलामी में धर्म की भूमिका पर तर्कशील ढंग से बोलती हुई वे कहती हैं कि "स्त्रियाँ कभी खाली हाथ कथा-कीर्तन सुनने नहीं आतीं। उन्हें हमेशा इसकी चिंता रहती है कि कीर्तनकार और कथाकार खुद कुछ मांगेंगे नहीं, लोग कुछ खुद नहीं देगें तो इनका परिवार कैसे पुसेगा।...आदमी आते हैं, मन्दिर का घंटा डुलाकर नमस्कार करते हैं और चल देते हैं काम पर।...धर्म के नाम पर स्त्रियाँ ही निराश्रितों को कुछ देती हैं, और धर्म है कि स्त्रियों को कुछ समझता नहीं, धर्म की राह पर इनको बाधा मानता है। धर्मग्रन्थ पढ़ने की भी सुविधा उनको नहीं देता।...और तुर्रा उस पर यह कि विद्या की देवी हो या धन की देवी, साहस की मूर्ति या षोड्स कलाओं की अधिष्ठात्री देवी श्रीविद्या- सबकी संकल्पना स्त्री काया में हुई है।"[55] वे स्त्रियों में चेतना का संचार करने के उद्देश्य से उन्हें दो टूक शब्दों में यह भी बताती हैं कि धर्मशास्त्र 'मुक्ति' का मार्ग स्त्रियों को नहीं अपनाने देते हैं। "धर्मशास्त्र पढ़ते हुए मैंने जाना कि हिंदुत्व की अगाधता जरा

ज्यादा ही है। हर बात के दो-दो पहलू मौजूद हैं वहाँ। अंतर्विरोध बहुत हैं। एक किताब किसी चीज को वरेण्य मानती है तो उसी पाए की दूसरी किताब उसके विपक्ष में खड़ी होती है।"[56]

रमाबाई द्वारा ईसाई धर्म अपनाए जाने का रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद आदि ने तीव्र विरोध किया था। लेकिन धर्मान्तरण को रमाबाई न केवल आत्मनिर्णय बताती हैं बल्कि 'मुक्ति' के लिए उस समय आवश्यक भी मानती हैं। उनके अनुसार "धर्म सिर्फ राजनीति नहीं है। यह एक जीवन पद्धति भी है। हिंदुत्व अपनी मूल अवधारणा में चाहे जितना प्रशस्त मार्ग खोलता हो लेकिन फिलहाल उसके रास्ते में स्त्रियों और शूद्रों के लिए गड्ढे ही गड्ढे खुदे पड़े हैं- मौका मिला नहीं कि बटमार मार-पीटकर गड्ढे में धकेल देते हैं। ऐसे में राह बदलकर किसी सुगम-स्वच्छ मार्ग से अपनी 'मुक्ति' की तलाश कैसे हेय मानी जा सकती है।"[57] यद्यपि इन्हें मुक्ति का मार्ग धर्मान्तरण में भी नहीं मिला लेकिन इस सन्दर्भ में जो सबसे महत्वपूर्ण बात उभरी वह थी एक स्त्री द्वारा लिया गया 'आत्मनिर्णय'। परिणाम चाहे जो भी रहे हों यह पहल एक महत्वपूर्ण कदम था।

रमाबाई एक समर्पित और जिम्मेदार महिला थीं। उन्होंने एकतरफा व्यवहार बरतने वाले हिन्दू शास्त्रों की अवहेलना करते हुए अपनी माँ की अर्थी को कंधा भी दिया था। हिंदुओं में यह अधिकार केवल पुत्र को प्राप्त है। इस संदर्भ में रमाबाई ने किसी की न सुनी और कड़क शब्दों में प्रखरता से विरोध करते हुए बोलीं कि "मैं भी माँ की वैसी ही संतान हूँ जैसा श्रीधर है। स्त्री की काया में हूँ तो क्या, हर जिम्मेदारी निभा सकती हूँ।"[58] इतना ही नहीं रूढ़ होती जा रही जाति व्यवस्था को तोड़ने का प्रयत्न भी किया और अपने से निम्न जाति के सदाव्रत से विवाह बंधन में बंध गईं। आज भी जाति व्यवस्था अपनी तमाम कठोरताओं के साथ समाज में बनी हुई है।

रमाबाई ने विवेकसम्मत दृष्टिकोण के साथ विवेकानंद द्वारा स्त्रियों पर की गई टिप्पणी से असहमति भी जताई थी। विवेकानंद ने विधवा स्त्रियों को 'नन' की पदवी दी

और उनके जीवन को 'सधवाओं से ज्यादा पवित्र' कहा, साथ ही यह भी कि "भारतीय समाज में माँ की स्थिति इतनी ऊँची होती है और माँ इतनी त्यागमयी होती है कि अलग से उसे संपत्ति दिलाने की बात हिन्दू विधेयकों के मन में उठी ही नहीं।"[59] रमाबाई विवेकानंद के इन विचारों से अवगत होकर कहती हैं कि "मैं ये बड़े-बड़े बोल सुनती और हंसकर रह जाती। मेरी आँखों के आगे तैर जाती बनारस, वृन्दावन, मथुरा की लाखों विधवाएं- ऐन भगवान की आँखों के आगे- जो लगातार सेठों और पण्डों का यौन शोषण/गाली-गलौज और रोटी के लाले झेलती, आधी जिबह मुर्गियों का जीवन जीने को अभिशप्त थीं।"[60]

'स्त्री मुक्ति' के लिए रमाबाई ने संगठन निर्माण और लेखन का काम भी किया। उन्होंने 'द हाई कास्ट हिन्दू वुमन' शीर्षक से एक किताब लिखी और बेसहारा स्त्रियों के लिए पुणे में 'शारदा सदन' खोला, जहाँ वे अपने हुनर को विकसित कर अपने पैरों पर खड़ी हो सकें। क्योंकि "मुक्ति भी स्त्रीलिंग ही तो है! कभी अकेली नहीं मिलती! हरदम वह झुंड में ही हँसती-बोलती चलती है। थेरियों का झुंड हो या जैन साध्वियों, चिड़ियों और स्त्रियों का यह बृहत्तर सखा-भाव रमाबाई को हमेशा ही आकर्षित करता!"[61] इस तरह वह संगठन की शक्ति को हमेशा तवज्जो देती थीं।

तत्कालीन समय में स्त्री-शिक्षा को विशेष महत्व नहीं दिया जाता था। वास्तव में उस समय "उच्च जाति की स्त्रियों के बीच यह विश्वास बहुत प्रसिद्ध था कि यदि वे पढ़ेंगी अथवा अपने हाथों में कलम लेंगी तो उनके पति की मृत्यु हो जाएगी। ज्ञानप्राप्ति की उनकी तीव्र इच्छा पर विधवा हो जाने का भय हमेशा जीत जाता था।"[62] रमाबाई के पिता अनन्तशास्त्री ने न केवल रमाबाई को सुशिक्षित किया बल्कि ऐसे संस्कार भी भरपूर दिए कि रमाबाई ने स्त्री-शिक्षा के सन्दर्भ में कई महत्वपूर्ण कार्य किए। "1882 में हण्टर कमीशन के सामने स्त्री-शिक्षा का मसविदा उन्होंने रखा और इस बात पर भी जोर दिया

कि चूँकि स्त्री स्त्री से ही खुलती है- स्त्री ही शिक्षक, स्कूल इंस्पेक्ट्रेस बने और मेडिकल-पारामेडिकल का प्रशिक्षण भी स्त्रियों को ही मिले। उनकी ही प्रेरणा से लेडी डफरिन और महारानी विक्टोरिया को हर जिले में डफरिन मेडिकल डिस्पेंसरी बनाने की सूझी।"[63] वस्तुतः "माता-पिता, भाई व पति सबको खो देने के बाद भी एक अकेली स्त्री अपने जीवन को किस ऊँचाई तक ले जा सकती है, समाज में स्त्री की दशा को बदलने के कैसे कारगर उपाय कर सकती है और सामंती पुरुष व्यवस्था के सामने कैसे चुनौती बनकर खड़ी हो सकती है, इसका ज्वलंत उदाहरण है रमाबाई का ऐतिहासिक-चरित्र।"[64] वे नवजागरण काल की एक क्रान्तिकारी चेतनासंपन्न स्त्री थीं।

उपन्यास की दूसरी प्रमुख स्त्री पात्र हैं 'ढेलाबाई'। वह पूरे वेश्या समाज का प्रतिनिधित्व करती हैं। जिन्होंने स्वाधीनता की लड़ाई में क्रांतिकारियों की भरपूर मदद की थी। यद्यपि ढेलाबाई को काफी कम उम्र में महेन्दर मिसिर हलुवन्त सहाय के कहने पर अगवा कर लाए थे लेकिन वे आद्यांत स्वाभिमान से जीती रहीं। "जमींदार की मृत्यु के बाद इनका जीवन विभिन्न अनुभवों से सम्पन्न होता है और आखिर में रमाबाई द्वारा स्थापित शारदा सदन में वंचितों और उपेक्षितों की सेवा में लीन हो जाती हैं और जीवन-पर्यंत यही करती हैं।"[65] ढेलाबाई के चरित्र के सन्दर्भ में सुप्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह लिखते हैं कि "हिन्दी प्रदेश में, खासकर पूर्वांचल और बिहार का जो इलाका है, उसमें भी कोई ऐसी स्त्री थी, इसका अनुमान नहीं था। इस उपन्यास में ऐसा ही एक चरित्र ढेलाबाई का उभारा गया है। ढेलाबाई के वजूद और संघर्ष को बिहार में भी बहुत कम लोग जानते हैं...ढेलाबाई के चरित्र को ऊपर ले आना और उसके माध्यम से स्त्री के संघर्ष तथा साहस की गाथा प्रस्तुत करना ही इस उपन्यास का मुख्य उद्देश्य है।"[66]

वेश्याओं को समाज का कलंक माना जाता है। उनसे संपर्क रखने वालों को भी नीची निगाह से देखा जाता है। यहाँ तक कि उनके 'होने' की उपयोगिता को बिल्कुल नकार दिया

जाता है। वास्तव में ढेलाबाई एक ऐसी ऐतिहासिक पात्र है जिसके "माध्यम से लेखिका को वेश्याओं के कोठों, उनके जीवन, उनकी सोच और उनकी तकलीफ, उनकी आकांक्षाओं की बात तो कही है, परंतु 'पतिता उद्धार' उसका उद्देश्य नहीं, बल्कि वह उनकी शक्ति, उनके वर्चस्व और सामाजिक भूमिका और योगदान को समक्ष लाई हैं। देश के स्वाधीनता आंदोलन की पृष्ठभूमि में उनकी महत्ती भूमिका रही है। वे समाज की महत्वपूर्ण नागरिक रहीं हैं।"[67] लेखिका ने ढेलाबाई, ढेलाबाई की नन्ना (अफ़साना बाई) और उनके जैसे ही कई वेश्याओं द्वारा अंग्रेजों की गुलामी से निकलने के लिए वक्त-वक्त पर क्रांतिकारियों को हथियार मुहैया कराये जाने और उन्हें भरपूर सहयोग देने का उल्लेख किया है। इसके साथ ही अफ़साना बाई का ढेलाबाई से कहा गया यह कथन भी महत्वपूर्ण है कि "मैं नहीं मानती कि देह के धंधे से जुड़ी तवायफें धंधा छोड़कर ही किसी काम आ सकती हैं! देह एक दुखती रग है इस समाज की! यह दुखती रग लेकर जब कोई भी हमारे पास आता है तो एक खास वक्त तक वह हमारा शासित रहता है और इतनी ताकत हममें होती है कि उसमें अलख जगा दें या फिर बर्बाद कर दें उसे! जादूगरनियाँ कहलाती हैं हम, सब गृहलक्ष्मियाँ हमसे रश्क करती हैं कि उनके मर्दों को हमने भेड़-बकरी बना लिया है : आखिर कुछ तो ताकत होगी हमारी।...सेज पर लेटी औरत भी कम ताकतवर नहीं होती, उस समय उसके रोम-रोम में कच्चे दूध के रंग का एक तेज फूटता है जो आदमी को कहीं से कहीं लिए जाए...उस तेज से नहाया हुआ आदमी उसका मुरीद तो होता ही है जिससे वह कुछ भी करवा सकती है- चाहे तो देव बना दे, चाहे उल्लू !"[68]

जहाँ तक 'स्त्री मुक्ति' का प्रश्न है, हर तबके की स्त्री को स्वयं संघर्ष करना होगा। अफ़साना बाई ढेलाबाई से कहती है कि "अपनी खुदी खुद ही सुलगा ले, बेटी, और उसी की रोशनी में आगे बढ़। अपनी ही रोशनी काम आती है। औरतें चाँद बनकर तो बहुत दिन रहीं, क्या हश्र हुआ, यह सबको पता है, अब उनके सूरज बन खुद ही दमक लेने के दिन आए हैं।"[69] ऐसी ही 'चेतना' की आवश्यकता आज भी समाज में बनी हुई है। स्त्री चाहे शहर की

हो या गाँव की अथवा किसी भी वर्ग समुदाय से संबंध रखती हो यदि वह स्वयं अपने अधिकारों के लिए आवाज नहीं उठाएगी तो 'स्त्री मुक्ति' का सपना पूर्ण नहीं हो पाएगा। नन्ना ने ढेलाबाई को मुक्ति का मार्ग दिखाया और आगे चलकर "सारे मुक्ति संघर्षों के सूत्र उनसे ही जुड़ते हैं। तमाम बड़े राजनीतिक नेता, क्रान्तिकारी, सब उनसे जुड़ते जाते हैं और इस तरह एक मुकम्मिल तस्वीर बनती है और मुक्ति का आधार व्यापक होता चला जाता है।"[70] उपन्यास के प्रमुख स्त्री चरित्र रमाबाई और ढेलाबाई के अतिरिक्त नन्ना, काननबाला (ढेलाबाई की नातिन), आनंदीबाई, रमाबाई रानाडे, सावित्रीबाई फुले आदि भी प्रसंगानुरूप महत्वपूर्ण बन पड़े हैं।

रमाबाई जहाँ आजीवन स्त्री-शिक्षा, बाल विवाह, विधवाओं के साथ होने वाले दुर्व्यवहार के खिलाफ लड़ती रहीं और स्त्री की गुलामी में धर्म की भूमिका को उजागर करती रहीं वहीं ढेलाबाई ने वेश्या समाज से होते हुए भी देश सेवा में वारांगनाओं की भूमिका और अंततः रमाबाई के 'शारदा सदन' से जुड़कर 'स्त्री मुक्ति' के प्रयत्न में भरपूर सहयोग दिया था। लेखिका ने इन दोनों ऐतिहासिक चरित्रों का रेखांकन उनकी भूमिका के अनुरूप करने में भरपूर सफलता प्राप्त की है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

[1] हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृ. 389

[2] अपेक्षा, जनवरी-जून, 2010, सं. तेजसिंह, लेख - 'मिस रमिया : अम्बेडकरवादी विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध'- अनिता भारती, पृ. 39

[3] अनामिका एक मूल्यांकन, सं. अभिषेक कश्यप,लेख - 'ठेठ इतिहास के भीतर गल्प'-वैभव सिंह, पृ. 253

[4] अल्मा कबूतरी, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 30

[5] वही, पृ. 32

[6] साक्षात्कार, जुलाई 2000, सं. आग्नेय, लेख - 'चीखते सपने का सफर'- महेश कटारे, पृ. 112

[7] अल्मा कबूतरी, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 65

[8] वही, पृ. 75-76

[9] वही, पृ. 76

[10] वही, पृ. 101

[11] वही, पृ. 102

[12] वही, पृ. 244

[13] वही, पृ. 291

[14] वही, पृ. 281

[15] समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, अनिता भारती, पृ. 135

[16] मिस रमिया, कावेरी, पृ. 7

[17] वही, पृ. 81

[18] वही, पृ. 77-78

[19] स्त्रीकाल, सितम्बर, 2013, अतिथि सं. अनिता भारती, लेख - 'दलित महिलाएँ और मानवाधिकार'- वन्दना सिंह, में उद्धृत, पृ. 152

[20] मिस रमिया, कावेरी, पृ. 89

[21] वही, पृ. 90

[22] वही, पृ. 96

[23] दस द्वारे का पींजरा, अनामिका, पृ. 21

[24] वही, पृ. 56

[25] वही, पृ. 28

[26] वही, पृ. 42

[27] वही, पृ. 94

[28] वही, पृ. 87

[29] 'The widow-mother of girls is treated indifferently and sometimes with genuine hatred, especially so, when her daughters have not been given in marriage in her husband's life-time', The High- Caste Hindu Woman, Pundita Ramabai sarasvati, P. 70

[30] दस द्वारे का पींजरा, अनामिका, पृ. 95

[31] वही, पृ. 105

[32] वही, पृ. 110

[33] वही, पृ. 206

[34] वही, पृ. 262

[35] हंस, सितम्बर, 2000, सं. राजेन्द्र यादव, लेख - 'गुस्ताख सवालों का खतरनाक उपन्यास'- रामशरण जोशी, पृ. 88

[36] अल्मा कबूतरी, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 75

[37] वही, पृ. 99-100

[38] वही, पृ. 210

[39] वसुधा, जनवरी-जून, 2000, सं. प्रो. कमला प्रसाद, लेख -'एक पूरे सभ्य समाज का प्रायश्चित'- रमेश दवे, पृ. 313

[40] सपनों की मंडी, गीताश्री, पृ. 21

[41] अल्मा कबूतरी, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 370

[42] स्त्रीकाल, सितम्बर, 2013, अतिथि सं. अनिता भारती, लेख - 'दलित महिलाएँ और मानवाधिकार'- वन्दना सिंह, पृ. 151

[43] औरत : इतिहास रचा है तुमने, कुसुम त्रिपाठी, पृ. 67

[44] समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, अनिता भारती, 'डॉ. अम्बेडकर का स्त्री चिंतन' लेख से उद्धृत, पृ. 255

[45] मिस रमिया, कावेरी, पृ. 41

[46] वही, पृ. 97

[47] वही, पृ. 98

[48] दलित साहित्य समग्र परिदृश्य, सं. डॉ. मनोहर भंडारे, लेख - 'हिन्दी के दलित उपन्यास' - सुशीला टाकभौरे, पृ. 235

[49] मिस रमिया, कावेरी, पृ. 7

[50] वही, पृ. 14

[51] वही, पृ. 23

[52] वही, पृ. 91

[53] दस द्वारे का पींजरा, अनामिका, पृ. 269-270

[54] अनामिका एक मूल्यांकन, सं. अभिषेक कश्यप, लेख - 'मुक्ति और मानव अधिकारों का स्त्री-विमर्श'- कमल कुमार, पृ. 246-247

[55] दस द्वारे का पींजरा, अनामिका, पृ. 33

[56] वही, पृ. 94

[57] वही, पृ. 94

[58] वही पृ. 48

[59] वही, पृ. 111

[60] वही पृ. 111

[61] वही, पृ. 93

[62] 'It is a popular belief among high-caste women that their husbands will die if they should read or should hold a pen in their fingers. The fear of becoming a widow overcomes their hunger and thirst for knowledge','The High- Caste Hindu Woman', Pundita Ramabai sarasvati, P.103

[63] दस द्वारे का पींजरा, अनामिका, पृ. 259

[64] अकार, अगस्त-नवम्बर, 2007, सं. गिरिराज किशोर, लेख - 'दस द्वारे का पींजरा में छटपटाता स्त्री मन'- अमरीक सिंह द्वीप, पृ. 188

[65] समीक्षा, अक्टूबर-दिसम्बर, 2009, सं. गोपाल राय, लेख - 'स्त्रीवादी चिंतन से प्रेरित उपन्यास'- अमिताभ राय, पृ. 12

[66] अनामिका एक मूल्यांकन, सं. अभिषेक कश्यप, लेख - 'स्त्री मुक्ति के नये आयाम'- नामवर सिंह, पृ. 173-174

[67] अनामिका एक मूल्यांकन, सं. अभिषेक कश्यप, लेख - 'मुक्ति और मानव अधिकारों का स्त्री-विमर्श'- कमल कुमार, पृ. 247

[68] दस द्वारे का पींजरा, अनामिका, पृ. 253

[69] वही, पृ. 251

[70] अनामिका एक मूल्यांकन, सं. अभिषेक कश्यप, लेख - 'स्त्री मुक्ति के नये आयाम'- नामवर सिंह, पृ. 175

उपसंहार

स्त्री की गुलामी की नींव उतनी ही पुरानी है जितनी की पितृसत्ता के उदय की। आदिम समाज व्यवस्था में (कबीलाई समाज) स्त्री स्वतंत्र थी। अपने संबंधों और अपने जीवन का निर्णय स्वयं ले सकती थी, लेकिन उत्तर वैदिक काल आते-आते वह एक 'स्त्री' के रूप में अपने पतनोन्मुख भविष्य की ओर बढ़ने लगी थी। एक मनुष्य के रूप में पुरुष ने स्वयं को उत्पादक शक्ति के रूप में और स्त्री को दोयम दर्जे की तथा गौण प्राणी के रूप में देखा। वास्तव में स्त्री की गुलामी का जो एक लंबा दौर शुरू हुआ वह एक 'पुरुष' मनुष्य द्वारा अपने ही समानधर्मा एक 'स्त्री' मनुष्य के सन्दर्भ में 'दृष्टि' का फर्क था। जैसा कि सिमोन लिखती हैं कि 'स्त्री को मासिक धर्म और गर्भाधान के कारण पुरुष पर निर्भर होना पड़ा' इसलिए बाहरी दुनिया में उसका हस्तक्षेप बहुत कम था। पुरुष ने इसका पूरा फायदा उठाया और अपनी 'दृष्टि' अपनी 'मान्यताओं' को व्यापक फलक पर लागू कर प्रसारित करने में सफल रहा।

'स्त्री' को केन्द्र में रखकर जब कोई विचार-विमर्श, लेखन अथवा सामाजिक आन्दोलन होता है तो उसके मूल में दो शब्द होते हैं- 'पितृसत्ता' और 'मुक्ति'। 'पितृसत्ता' ने स्त्री की गुलामी की तहें सुनिश्चित कीं और स्त्री उस 'गुलामी' से मुक्ति के लिए प्रयासरत है। पितृसत्ता का अर्थ है परिवार का मुखिया पुरुष हो, समस्त निर्णय पुरुष द्वारा लिए जाते हों, संस्कार और परम्पराओं की बेड़ियाँ केवल स्त्री के लिए हों और स्त्री केवल उपभोग की वस्तु हो जिसकी प्रजनन क्षमता पर भी पुरुष का कब्जा हो, इतना ही नहीं स्त्री की श्रम शक्ति पर भी पुरुष का ही नियंत्रण हो। इस तरह पितृसत्ता के तहत स्त्री और पुरुष में शोषित और शोषक का संबंध रहा है।

'पितृसत्ता' के तहत स्त्री की 'अस्मिता', 'स्व' और 'अस्तित्व' को कोई महत्व नहीं दिया जाता है। उसकी गणना 'पारिवारिक संपत्ति' के रूप में की जाती है। घर के भीतर हो

या बाहर कहीं भी उसके श्रम का उचित मूल्य नहीं आंका जाता है। यही कारण है कि न तो घर के भीतर और न ही बाहर कभी उसकी 'स्वतंत्र सत्ता' स्थापित हो पायी और न 'स्वतंत्र पहचान'। जहां तक शक्ति हासिल करने का सवाल है तो हमेशा से पुरुषों का पलड़ा भारी रहा है। ऐसा भारत में ही नहीं बल्कि पूरे विश्व में हुआ है।

यदि गौर किया जाय तो सामाजिक परिदृश्य में पुरुष-स्त्री का सबंध मालिक और गुलाम का रहा है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में अधिकांशतः पुरुष का निर्णय ही सर्वोपरि होता है। यद्यपि वर्तमान में स्त्रियों की स्थिति में काफी कुछ बदलाव आया है, अब स्त्रियाँ पढ़-लिख रही हैं। नौकरी-पेशा कर रही हैं। कई मामलों में निर्णय भी ले रही हैं लेकिन यह बात सभी वर्ग की स्त्रियों के साथ लागू नहीं होती है। ऐसे में महादेवी वर्मा का यह कथन बिल्कुल सटीक जान पड़ता है कि 'कहीं संतोष की अतिवृष्टि है और कहीं असंतोष की अनावृष्टि जिससे सामाजिक जीवन का सामंजस्य नष्ट होता जा रहा है।'

स्त्री के सन्दर्भ में 'मुक्ति' से तात्पर्य स्वतंत्रता, समानता एवं निर्णय लेने की अधिकारसम्पन्नता से है। स्त्री, समाज व्यवस्था के तहत स्त्री-पुरुष के लिए अपनाए जाने वाले दोहरे मानदंडों से 'मुक्ति' चाहती है। यद्यपि भारतीय संविधान में समानता का अधिकार स्त्रियों को प्रारम्भ से मिला हुआ है, लेकिन व्यवहारिक स्तर पर स्त्री-पुरुष के बीच पूर्ण समानता अभी भी दूर की कौड़ी जान पड़ती है। इस सत्य को हम इस रूप में देख सकते हैं कि अपने जीवन का हर फैसला परिवार का प्रत्येक पुरुष स्वयं तय करता है लेकिन यही बात जब लड़की के सन्दर्भ में आती है तो उसके लिए सबसे पहले अपने पिता, भाई अथवा पति की राय लेना आवश्यक माना जाता है। चाहे शिक्षा के संदर्भ में हो, नौकरीपेशा अथवा कोई भी छोटा-बड़ा निर्णय क्यों न हो उसका मौलिक अधिकार उसके लिए तय नैतिक मापदंडों पर कभी भी भारी नहीं पड़ सकता है। इस अध्ययन के दौरान मैंने

पाया कि भारत जैसे देश में कई कानूनी अधिकार स्त्रियों को देश के स्वतंत्र होने के साथ ही संविधान निर्माण के दौरान प्राप्त हो गये थे। एक लंबे अरसे तक स्त्रियों द्वारा अपने हित में उनका उपयोग न किए जाने का मुख्य कारण अशिक्षा, अज्ञान और चेतना का अभाव था। लेकिन अब जब स्त्रियों की एक बड़ी संख्या पढ़-लिख रही है, जागरूक है तब भी अधिकांश स्त्रियाँ न तो अपनी 'स्वतंत्र सत्ता' (स्वतंत्र सत्ता से तात्पर्य 'पुरुष से स्वतंत्र' अथवा 'मातृसत्ता' से नहीं है अपितु एक मनुष्य के रूप में अपने लिए मुकम्मल 'स्पेस' प्राप्त करने की मांग से है) स्थापित करना चाहती हैं, न ही 'समानता' प्राप्ति के लिए एक झंडे के तले एकत्र होना चाहती हैं और न ही 'निर्णय' लेने का जोखिम उठाना चाहती हैं। तब प्रश्न उठता है कि 'मुक्ति' कैसे संभव होगी? वास्तव में स्त्रियों को 'मुक्ति' की पूरी रूपरेखा स्वयं तय करनी होगी। स्वतंत्रता, समानता एवं निर्णय लेने की अधिकारसम्पन्नता के साथ ही साथ मानसिक एवं दैहिक स्वतंत्रता का अभिप्राय भी स्वयं ही सुनिश्चित करना होगा। स्त्री को परिवार, समाज और सम्पूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध जोखिम उठाना ही होगा। अन्यथा 'मुक्ति' का यह संघर्ष अनन्त काल तक यूँ ही बेवजह चलता रहेगा।

स्त्री को गुलाम बनाए रखने में 'धर्म' की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। 'स्त्री धर्म' का निर्धारण करने के लिए तमाम धर्मग्रंथों को मूलाधार बनाया गया है। यदि इन धर्मग्रंथों में उल्लिखित बातों पर सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो निश्चित रूप से ये धर्मग्रंथ 'शुद्ध लैंगिक' भेद को दर्शाते हैं। जहाँ स्त्री के सन्दर्भ में 'धर्म' की सार्थकता पुरुष की सहगामिनी और सहचरी होने में नहीं अपितु उसकी सेविका और अनुगामिनी बनने में निहित है। भारत में 'सती प्रथा' और 'देवदासी प्रथा' धर्म के नाम पर स्त्री के साथ बरते जाने वाले क्रूरतम व्यवहार रहे हैं। इन कृत्यों को धर्म का सबसे विरूपित और दिल दहला देने वाला पक्ष कह सकते हैं।

श्रम के क्षेत्र में व्यापक स्तर पर लैंगिक विभाजन देखा जा सकता है। मैं स्त्री की गुलामी के मूल में 'आर्थिक परतंत्रता' को मुख्य रूप से देखती हूँ, क्योंकि आर्थिक रूप से समर्थ स्त्री ही मानसिक रूप से सबल, निर्णय लेने में सक्षम और अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को सही रूप से क्रियान्वित कर सकने में समर्थ हो सकती है। भले ही नैतिक रूढ़ियों के दबाव में वह ऐसा न करती हो।

मध्यकालीन सामंती व्यवस्था के तहत पर्दा प्रथा, सती प्रथा, जौहर प्रथा को धर्म के नाम पर प्रचारित-प्रसारित किया गया था। इन्हें 'धर्म' का विकृत रूप कह सकते हैं। लड़कियों का 'बाल विधवा' हो जाने पर लड़कियों के पुनर्विवाह का कोई विधान नहीं था। इस तरह मध्ययुगीन सामंती समाज 'पुरुष वर्चस्व' का प्रतीक है जहां कभी 'धर्म' के नाम पर तो कभी 'सामाजिक संतुलन' के नाम पर स्त्रियों का शोषण-दमन चलता रहा। साथ ही स्त्रियों की सामाजिक भागीदारी पूर्णत: खत्म कर दी गई थी। स्त्रियाँ राजाओं और सामंतों के केवल मनबहलाव का साधन थीं। वे उनकी 'निजी संपत्ति' थीं जिसका उपयोग-दुरुपयोग वे जैसे चाहे वैसे करने के लिए स्वतंत्र थे। ऐसे में स्त्रियों के 'स्वतंत्र अस्तित्व' और 'अस्मिता' की बात सोचना भी बेमानी हो जाता है।

लंबे अर्से तक सामंती व्यवस्था के शोषण और दमन को झेलने के बाद नवजागरण काल में अनेक सचेत समाजसुधारकों ने पर्दा, सती, जौहर, अशिक्षा, बाल-विवाह और अपहरण जैसी बुराइयों को दूर करने के पुरजोर प्रयास किए। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, दयानंद सरस्वती, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, स्वामी विवेकानंद और ऐनी बेसेंट ने ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी के जरिए स्त्रियों की स्थिति में सुधार कर समाज में उन्हें 'मनुष्य' का दर्जा दिलाने का भरपूर प्रयास किया था।1857 की क्रांति के बाद साहित्य लेखन के जरिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं. गौरीदत्त, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, मुंशी कल्याणराय और श्रद्धाराम फिल्लौरी आदि लेखकों ने स्त्री

समस्याओं को अपने लेखन के जरिए उठाया था लेकिन यह बात ध्यान देने की है कि इन लेखकों ने मुख्यतः स्त्रियां 'गृहस्थ जीवन को कैसे बेहतर बनाएं' इसकी चर्चा ही की है। उस समय अनेक स्त्रियाँ भी लिख रही थीं लेकिन इतिहास लेखकों ने उनके योगदान को कहीं भी उद्धृत नहीं किया है। नवजागरण के दौर में स्त्री केन्द्रित अनेक पत्र-पत्रिकाओं के जरिए औरतों की समस्याओं को उठाया जाना मेरे अनुमान से सबसे महत्वपूर्ण कार्य था। 'स्त्री दर्पण', 'गृहलक्ष्मी', 'आर्य महिला', 'महिला सर्वस्व', 'चाँद', 'सरस्वती', 'माधुरी' आदि अनेक गंभीर पत्रिकाएँ उस दौर में निकल रही थीं। स्त्रियों ने स्वयं अपनी समस्याओं को और अधिक प्रखरता से सामने लाने के लिए अनेक 'महिला संगठन' भी कायम किये थे। इस तरह 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में समाजसुधारकों के प्रयासों और उत्तरार्द्ध में साहित्यकारों और महिला संगठनों के जागरूकता अभियानों ने स्त्री समस्याओं को सूक्ष्मता से उजागर किया था। सम्पूर्ण नवजागरण काल को 'स्त्री चेतना' की सशक्त आधारभूमि कह सकते हैं।

जैसा कि पहले भी कहा है कि 1857 की क्रांति के बाद विभिन्न मसलों पर स्त्रियों की सक्रिय भागीदारी देखी जा सकती है। भारत को उपनिवेश से मुक्त कराने के लिए हुए विभिन्न आंदोलन में स्त्रियों ने पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर पूर्ण सहयोग दिया था। स्वदेशी आंदोलन, असहयोग आंदोलन, नमक सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा आंदोलन, भारत छोड़ो आंदोलन में स्त्रियों की भागीदारी इसका प्रमाण है। वे केवल पुरुषों को सहयोग ही नहीं दे रही थीं अपितु अपनी जान जोखिम में डालकर 'क्रांतिकारियों' को अपने घर में छुपाने से लेकर सूचनाएं पहुंचाने तक में भरपूर मदद कर रही थीं। एक तरफ जहां वह आंदोलनों में हिस्सा ले रही थीं वहीं दूसरी तरफ ब्रिटिश सरकार के समक्ष स्त्री शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं, वोट देने के अधिकार, संपत्ति सम्बन्धी अधिकार की मांग को भी स्पष्ट रूप से प्रस्तुत कर रही थीं। इस दिशा में कार्यरत स्त्रियों में सरला देवी घोषाल, सरोजनी नायडू, एनी बेसेंट, मैडम कामा आदि प्रमुख थीं। दांडी मार्च, सविनय अवज्ञा आंदोलन, भारत छोड़ो आंदोलन से लेकर 1947 में देश के आजाद होने तक गांधी जी स्त्रियों को

'आत्म सचेत' करने और 'स्वतंत्रता आंदोलन' में सहभागिता देने के लिए सतत प्रेरणा देते रहे। उनकी प्रेरणा से बड़ी संख्या में स्त्रियों ने हिस्सा भी लिया था। इसी समय डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने भी स्त्रियों में अपनी स्थिति और अधिकारों के प्रति चेतना का संचार करने का काम बखूबी किया था। लेकिन प्रश्न उठता है कि सम्पूर्ण स्वतंत्रता आंदोलन में अपना सबकुछ 'गवां' कर सहयोग करने वाली 'आधी आबादी' को आखिर क्या हासिल हुआ? उसके हिस्से आया एक 'नये पुरुष वर्चस्व' के तले नए तरह का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक बंधन, गुलामी और दोयम दर्जे की नागरिकता। स्त्रियों के लिए यह स्थिति सबसे बड़े मोहभंग का कारण बनी।

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान स्त्रियों ने पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर सहयोग दिया था। उन्हें इस बात का पूरा विश्वास था कि उपनिवेश से देश के मुक्त हो जाने पर स्त्रियों की 'समानता' और 'स्वाधीनता' के द्वार स्वत: ही खुल जायेंगे, लेकिन देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद लोकतांत्रिक सरकार के गठन के बावजूद कहीं भी स्त्रियों के योगदान की नोटिस नहीं ली गई। संविधान के तहत उन्हें 'वोट देने का अधिकार', 'समानता का अधिकार', 'संपत्ति का अधिकार' जैसे अधिकार तो दिए गये लेकिन व्यावहारिक रूप से समाज द्वारा इन्हें अपनाया जाना अभी दूर की बात थी। स्वातंत्र्योत्तर भारत में स्त्रियों की जिन समस्याओं को लेकर बार-बार आवाज उठाई गई उनमें प्रमुख हैं- दहेज प्रथा, बलात्कार, समान काम के लिए समान वेतन, स्त्री शिक्षा और घरेलू हिंसा आदि। यद्यपि इस संदर्भ में सरकार द्वारा समय-समय पर अनेक कानून भी बनाए गये लेकिन वे कारगर साबित नहीं हो पाए। स्त्रियों में अपने अधिकारों के प्रति अज्ञानता इसका सबसे प्रमुख कारण है। दूसरा, कानून के पैरोकारों द्वारा इन कानूनों का उचित ढंग और सही मंशा से क्रियान्वयन न किया जाना इसका सबसे बड़ा कारण है। यही वजह है कि आज भी वास्तविक धरातल पर अपनी स्थिति में सुधार और अपने अधिकारों को प्राप्त करने के

लिए स्त्रियाँ सतत संघर्षशील हैं। ऐसे में समकालीन भारत में स्त्रियों के भीतर व्यापक असंतोष की लहर देखी जा सकती है।

उपन्यास लेखन के क्षेत्र में स्त्री लेखन की मुकम्मल शुरुआत साठ के दशक में आरम्भ हुई थी। लेकिन पृष्ठभूमि के तौर पर प्रेमचंद, जैनेन्द्र और यशपाल के उपन्यासों में स्त्री समस्याओं के विविध रूप स्वतंत्रता पूर्व से ही दिखाई पड़ने लगे थे। प्रेमचंद के उपन्यासों में बाल-विवाह, अनमेल विवाह, विधवा समस्या, दहेज प्रथा आदि स्त्री समस्याओं को उठाया गया तो जैनेन्द्र ने स्त्री देह, स्त्री आत्मनिर्भरता और प्रेम की स्वतंत्रता के प्रश्न को प्रमुखता से उजागर किया है। प्रेमचंद ने यद्यपि उस समय की ज्वलंत समस्याओं को अपने उपन्यासों में उठाया था किन्तु वे कहीं भी इन समस्याओं के समाधान के लिए पुख्ता विकल्प नहीं दे पाते हैं। उनके अधिकांश स्त्री पात्र आदर्श की स्थापना में ही अपना जीवन खपा देती हैं। जैनेन्द्र ने मुख्यतः दो उपन्यासों 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' में स्त्री को भिन्न दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है। स्त्री चेतना अथवा स्त्री विमर्श की दृष्टि से 'सुनीता' उपन्यास भिन्न ही नहीं अपितु महत्वपूर्ण भी है। जिस 'स्त्री देह' के प्रश्न पर आज लगातार बहस चल रही है, उस 'देह' के प्रश्न को जैनेन्द्र ने 'सुनीता' के माध्यम से बहुत सहज ढंग से प्रस्तुत किया है। वे 'स्त्री देह' को 'यौन मुक्तता' से जोड़कर नहीं देखते हैं और ऐसा किया भी नहीं जाना चाहिए। वास्तव में स्त्री देह पर ही तमाम अत्याचार होते हैं और तमाम प्रतिबंध भी लगाए जाते हैं। इसलिए 'स्त्री मुक्ति' की दिशा में 'स्त्री देह' का मसला प्राथमिक हो जाता है। लेकिन जैनेन्द्र के उपन्यासों का सबसे कमजोर पक्ष यह है कि वे अपने अधिकांश स्त्री पात्रों से अंततः 'आत्मबलिदान' की मांग करते हैं। उनके स्त्री पात्र प्रतिरोध नहीं करते हैं चाहे वह 'कट्टो', 'सुनीता', 'मृणाल' या फिर 'कल्याणी' ही क्यों न हो। उन्होंने रूढ़ परम्पराओं में घुटती-पिसती स्त्री का चित्रण तो किया किन्तु 'प्रतिरोध' और 'विद्रोह' का भाव विकसित नहीं कर पाए।

प्रेमचंद और जैनेन्द्र से इतर यशपाल ने अपने उपन्यासों में 'विद्रोह की संस्कृति' विकसित करने का प्रयास किया है। 'दादा कामरेड' की शैलबाला व्यक्तिगत स्वतंत्रता को महत्व देती हुई 'विवाह संस्था' का विरोध करती है। उसके अनुसार विवाह स्त्री की पराधीनता का सबसे बड़ा कारण और पुरुष द्वारा एकाधिकार स्थापित करने का सबसे बड़ा जरिया है। इसी तरह 'देशद्रोही' की चंदा, 'पार्टी कामरेड' की गीता, 'झूठा सच' की तारा और 'दिव्या' की दिव्या अपने स्त्री होने की कीमत तो चुकाती हैं लेकिन क्रूर परिस्थितियों से बाहर निकलने के लिए निरंतर संघर्षशील दिखाई पड़ती हैं। स्त्री समस्याओं के प्रति ऐसे दृष्टिकोण के कारण मैं यशपाल को एक महत्वपूर्ण और प्रबुद्ध उपन्यासकार के रूप में देखती हूँ।

यह बात विचारणीय है कि इन लेखकों ने स्त्री समस्याओं को उजागर तो किया लेकिन कहीं वे अधिक आदर्शवादी, कर्तव्यनिष्ठ और समझौतावादी हो जाते हैं तो कहीं अधिक यूटोपियन। फिर भी स्त्री समस्याओं को तत्कालीन समय में जिस रूप में उन्होंने उठाया वह बेहद महत्वपूर्ण है। गौरतलब है कि स्वतंत्रता पूर्व पुरुष लेखकों ने स्त्री के सन्दर्भ में जो लेखन कार्य किया उसमें समस्याओं के प्रति 'प्रतिरोध और विद्रोह का भाव' वे अपने स्त्री पात्रों में नहीं जगा पाए थे। न ही कोई पुख्ता विकल्प या समस्याओं का समाधान ही दे पाए। यही कारण है कि अपने जीवन यथार्थ को अभिव्यक्ति देने और स्त्री जीवन से सम्बंधित विभिन्न मुद्दों पर गंभीरता से विचार करने के लिए स्वयं स्त्रियों को लेखन करना पड़ा। स्त्री लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में जिन मुद्दों को उठाया है उनमें विधवा पुनर्विवाह, स्त्री देह का प्रश्न, तलाकशुदा स्त्री का जीवन संघर्ष, यौन शुचिता का मुद्दा, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्री की स्थिति, यौन शोषण, बलात्कार, कोख को खरीदे जाने का मसला, स्त्रियों के संदर्भ में व्याप्त अंधविश्वास जैसे तमाम मुद्दे प्रमुख हैं। इनमें से अधिकांश मुद्दे हमारे समाज में हमेशा से मौजूद रहे हैं। लेकिन उनके संदर्भ में स्त्रियों के द्वारा कभी कोई खुली प्रतिक्रया व्यक्त नहीं की गयी। शायद यही कारण है कि ये

समस्याएं अब ज्वलंत रूप धारण कर चुकी हैं। यदि गौर किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष लेखकों ने अपने उपन्यासों में स्त्री के 'बाह्य जीवन' को अधिक महत्व दिया है जबकि स्त्री लेखिकाएं भीतर के सूक्ष्म संसार से लेकर बाहर के व्यापक फलक तक अपनी स्वानुभूतियों का चित्रण करने में सफल रही हैं।

स्त्री लेखिकाओं द्वारा 1980 से पूर्व लिखे गए उपन्यासों में 'मित्रो मरजानी' (1967 ई.), 'आपका बंटी' (1971 ई.), 'बेघर' (1971 ई.) और अनारो (1977 ई.) में स्त्री जीवन के विविध पहलुओं को देखा जा सकता है। 'मित्रो मरजानी' में लेखिका ने न केवल स्त्री के कामव्यापार का खुलकर वर्णन किया है अपितु उसके दैहिक अधिकारों की मांग को जायज ठहराया है। लेखिका ने घरेलू हिंसा, स्त्री की प्रजनन क्षमता पर उठाये जाने वाले प्रश्नों, स्त्री को केन्द्र बनाकर निर्मित की गई गालियों से मुक्ति के प्रश्न को भी बखूबी उठाया है। 'बेघर' में ममता कालिया ने आज के आधुनिक दौर में भी 'यौन शुचिता' और 'कौमार्य' के मिथक से बाहर न निकल पाने वाली युवा पीढ़ी के द्वंद्वग्रस्त जीवन को परमजीत के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। वास्तव में कौमार्य का यह दंश स्त्री को ही झेलना पड़ता है क्योंकि सामाजिक नियमावलियों के तहत अपने कौमार्य को बचाए रखने में सफल होना ही उसके अच्छे चरित्र का द्योतक माना जाता है। लेखिका ने वैज्ञानिक तर्कों के आलोक में 'कौमार्य' पर विचार करने और इस सन्दर्भ में स्त्रियों को अपना तर्क रखने का मौका दिए जाने की पुरजोर वकालत की है। इसके साथ ही स्त्रियों के सन्दर्भ में फैले अंधविश्वास, अकेली स्त्री के जीवन संघर्ष और स्त्री के शारीरिक सौंदर्य को अधिक महत्व दिए जाने के प्रश्न को भी उठाया है। 'आपका बंटी' में एक तलाकशुदा साथ ही एक बच्चे की जिम्मेदारी का वहन करने वाली स्त्री के अकेलेपन और जीवन संघर्ष का वर्णन किया गया है। यद्यपि आज बहुतायत में पुनर्विवाह होने लगे हैं फिर भी एक तलाकशुदा और संतानयुक्त स्त्री के लिए यह राह आसान नहीं है। शकुन आत्मनिर्भर है लेकिन बार-बार यह सिद्ध करती दिखाई पड़ती है कि आत्मनिर्भर होना आत्मनिर्णय ले पाने की कुंजी नहीं है। इस तरह वह परम्परा

और आधुनिकता के द्वंद्व में उलझी नजर आती है। 'अनारो' निम्नवर्गीय स्त्री है जो घर और बाहर दोनों जगह श्रम करती है लेकिन उसके श्रम का कोई मूल्य नहीं आंका जाता है। पति उसे मारता-पीटता है लेकिन वह उसे ही परमेश्वर मानती है। लेखिका का उद्देश्य यहाँ रूढ़िगत संस्कारों में बंधी एक स्त्री के जरिए ऐसी ही तमाम स्त्रियों के जीवन से रूबरू कराना रहा है, जो सदियों से पितृसत्तात्मक रूढ़ियों का वहन कर रही हैं। उनमें इन रूढ़ियों के त्याग की न तो कोई इच्छा है और न ही उनसे बाहर निकल आने की छटपटाहट अथवा न किसी तरह की चेतनासम्पन्नता। इस प्रकार इस दौर में लेखिकाओं द्वारा लिखे गए उपन्यासों में 'स्त्री मुक्ति' के स्वप्न का बीजारोपण देखा जा सकता है। वास्तव में स्त्री की यथार्थ जीवन स्थितियों पर विचार किया जाना अभी प्रारम्भ ही हुआ था। इसीलिए यहाँ विपरीत स्थितियों से लड़कर बाहर निकल आने का न तो कोई वर्णन है और न ही इसकी कोई गुंजाइश ही उस समय थी। लेकिन इन उपन्यासों में महत्वपूर्ण बात ध्यान देने की यह है कि इनमें स्त्रियों के भीतर 'स्त्री समस्याओं' के प्रति स्वयं उनके दृष्टिकोण और 'स्त्रियों में आ रही चेतना' के बीज दिखाई पड़ने लगते हैं।

बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में लिखे गए उपन्यासों ने स्त्री लेखन को पुख्ता जमीन दिलाई है। यह वही दौर है जब देश राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल के दौर से गुजर रहा था। भूमंडलीकरण, पूंजीवाद, उपभोक्तावादी संस्कृति और बाबरी मस्जिद ध्वंस से उपजे सांप्रदायिक असंतोष ने एक बार पुनः पूरे राजनीतिक और सामाजिक परिदृश्य को बदलकर रख दिया था। जिसका प्रभाव उस दौर में लिखे उपन्यासों पर भी कमोबेस देखा जा सकता है। इस समय लिखे गए उपन्यासों की एक प्रमुख बात यह थी कि अब लेखिकाओं ने एक-एक मुद्दे पर गंभीरता से विचार करना आरम्भ कर दिया था साथ ही उन समस्याओं से मुक्ति के तर्कसंगत उपाय सुझाने का प्रयास भी किया था। 'तत्-सम' में 'विधवा पुनर्विवाह' के मुद्दे को उठाया गया तो 'शाल्मली' में आज के आधुनिक दौर में भी आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्री की वास्तविक स्थिति को बयां किया गया है। 'छिन्नमस्ता'

और 'कठगुलाब' में अपने ही घर के भीतर, अपने ही परिजनों द्वारा बलात्कार की शिकार होती लड़की की दास्तां है। 'माई' में लेखिका ने दो पीढ़ियों के द्वंद्व की कहानी गढ़ी है। यह द्वंद्व है 'वस्तु' बनी रही स्त्री को 'व्यक्ति' में तब्दील करने का और उससे भी बढ़कर परम्परा और आधुनिकता का। मुख्य बात यह है कि दोनों पीढ़ियों के पास अपने-अपने समयानुरूप अपनी स्थिति के प्रति पुख्ता तर्क हैं और अपने समय की स्थितियों के अनुरूप संघर्ष के रास्ते भी अलग-अलग हैं इसीलिए उन्हें पहचाने जाने की आवश्यकता है। 'आवां' उपन्यास को हर वर्ग की स्त्री के उत्पीड़न का दस्तावेज कह सकते हैं। इसमें सभी वर्गों मसलन उच्च वर्ग, मध्य वर्ग और निम्न वर्ग की स्त्रियों की उपस्थिति दिखाई पड़ती है। यह उपन्यास केवल श्रमिक परिवारों से ताल्लुक रखने वाली अथवा श्रमिक स्त्री के उत्पीड़न को ही बयां नहीं करता है बल्कि उपभोक्तावादी संस्कृति के उस क्रूर और नग्न रूप को भी उजागर करता है जहां हर वस्तु खरीदी और बेची जा सकती है। इस सन्दर्भ में लेखिका ने छल-छद्म से पूंजी के बल पर एक स्त्री की कोख को हथियाए जाने का मुद्दा बड़ी गंभीरता से उठाया है। 'स्त्री कोख' को महज 'वस्तु' मान लिए जाने के मुद्दे को संभवतः इससे पहले स्त्री उपन्यासों में नहीं उठाया गया था। इन मुख्य मुद्दों के अतिरिक्त लेखिकाओं ने अनेक अवांतर कथाओं के जरिए अपने उपन्यासों में कई अन्य मुद्दों को जैसे- शिक्षण संस्थानों में पितृसत्तात्मक व्यवहार, स्त्री शिक्षा को कमतर आंके जाने (केवल अच्छा वर प्राप्ति से जोड़कर देखने), स्त्री द्वारा सफल व्यवसायी और स्वतंत्र पहचान बनाने के संघर्ष, पुत्री जन्म को निराशाजनक मानने, स्त्रियों द्वारा पुरुष की मंगलकामना के लिए किये जाने वाले अनेक व्रत, आर्थिक आत्मनिर्भरता का प्रश्न, तमाम परम्परागत रूढ़ियों जैसे मुखाग्नि देने श्मशान न जाने के पीछे निहित पुरुष दृष्टि और धर्म की भूमिका आदि पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया है। वास्तव में यही वह छोटी-छोटी बातें हैं जिन्होंने स्त्री की गुलामी में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

स्त्री मुक्ति के संदर्भ में 'देह मुक्ति' का प्रश्न बार-बार उठाया जाता है। यह कहकर आलोचना की जाती है कि स्त्रियाँ 'देह मुक्ति' की बात उठाकर 'स्वच्छंद यौन संबंधों' की मांग कर रही हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि 'स्त्री मुक्ति आन्दोलन' के पूरे परिप्रेक्ष्य में निहित अनेक बिन्दुओं में से 'देह मुक्ति' केवल एक बिन्दु है। यह कई अन्य महत्वपूर्ण बिन्दुओं की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि स्त्री के शोषण का मुख्य आधार उसकी देह ही रही है। मारपीट, बलात्कार, स्त्री व्यापार, पैदा होते ही मार दिए जाने की घटनाएं यह सब देह के स्तर पर ही होता है। इतना ही नहीं लड़की का 'सुन्दर' होना उसके सुरक्षित और सम्मानजनक भविष्य का एक सुदृढ़ आधार है। इस प्रकार जब भी 'देह मुक्ति' का मुद्दा उठाया जाता है तो उसका आशय देह से जुड़े उपरोक्त मसलों से लिया जाना चाहिए न कि 'उच्छृंखल यौन संबंधों' से।

'देह मुक्ति' के प्रश्न को लगभग सभी लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में उठाया है। 'बेघर' में संजीवनी को 'यौन शुचिता' के नाम पर परमजीत द्वारा छोड़ दिया जाना, 'अनारो' में अनारो के पति द्वारा उसे बार-बार पीटा जाना, 'छिन्नमस्ता' में अपने ही भाई द्वारा प्रिया के साथ वर्षों तक यौन शोषण, 'कठगुलाब' में जीजा द्वारा अपनी साली को मात्र देह के रूप में देखा जाना, 'आवां' में नमिता की कोख को हथियाया जाना, किरपू दुसाध द्वारा गर्भवती असीमा को पीट-पीटकर मार दिया जाना, 'अल्मा कबूतरी' में कदमबाई, भूरी और अल्मा के साथ उच्च वर्ग के पुरुषों द्वारा निरंतर दैहिक शोषण की घटनाएं देखी जा सकती हैं। शरीर पर मिलने वाली यह ऐसी चोटे हैं जिसके सबसे गहरे निशान स्त्री की स्मृति और मस्तिष्क पर आजीवन अंकित रहते हैं।

यद्यपि इस तरह की दैहिक और मानसिक हिंसा के खिलाफ वर्तमान में स्त्रियाँ अब कमोबेश खुलकर सामने आने लगी हैं तथापि आज 21वीं सदी में भी स्त्रियों की एक बड़ी संख्या अपने साथ होने वाले अत्याचारों पर चुप्पी साध लेती है। सदियों से जारी इस शोषण

और दमन के प्रति चुप्पी का सबसे बड़ा कारण मेरी समझ से स्त्रियों में 'अपनी स्थिति के प्रति अज्ञान' और 'अशिक्षा' रहा है। आज भी स्त्रियों की एक बड़ी आबादी शिक्षा से वंचित है और अपने अधिकारों से अवगत नहीं है। भारतीय संविधान में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही 'समानता का अधिकार' (अनु. 14), 'अभिव्यक्ति, भ्रमण एवं व्यवसाय का अधिकार' (अनु. 19), 'जीवन एवं स्वतंत्रता का अधिकार' (अनु. 21)'समान कार्य के लिए समान वेतन' (अनु. 39) जैसे कई अधिकार प्रदान किए गए हैं। इसके साथ ही 'हिन्दू विवाह अधिनियम'- 1955, 'भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम' 1956, 'दहेज निषेध अधिनियम' 1961 और 'घरेलू हिंसा से महिला संरक्षण अधिनियम' 2005 जैसे कई कानून भी पारित किए गए हैं। अधिकांश स्त्रियाँ संविधान और कानून द्वारा प्रदत्त इन अधिकारों से बिल्कुल अनभिज्ञ हैं। इसीलिए सबसे पहले स्त्री शिक्षा का स्तर ऊँचा करना होगा। वास्तव में भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्त्रियों के भीतर अपनी स्थिति और अधिकारों के प्रति जागरूकता लाने के लिए सैद्धान्तिक शिक्षा के साथ-साथ व्यावहारिक शिक्षा का संचार करना अधिक कारगर साबित हो सकता है।

वर्तमान में स्त्री के संदर्भ में तमाम बहस और कवायदें जारी हैं इसके बावजूद भी कन्या भ्रूण हत्या, स्त्री व्यापार, यौन शोषण, अशिक्षा जैसे तमाम मसले और अधिक गंभीर होते जा रहे हैं। इसलिए आवश्यक है कि स्त्रियों को अपने साथ होने वाले शोषण के प्रति निजी तौर पर सजग होने के उपाय सुझाए जाएँ। साथ ही यदि हर वर्ग की स्त्री को 'बौद्धिक विमर्श' में शामिल करना है तो सबसे पहले पूरे स्त्री समुदाय को शिक्षित कर उनमें 'चेतना' और 'जागरूकता' लाने का प्रयास करना होगा।

शोध अध्ययन के दौरान मैंने पाया कि लेखिकाएं अपने उपन्यासों के जरिए प्रत्येक वर्ग की स्त्री में 'चेतना' जाग्रत करने का प्रयास कर रही हैं। अधिकांश उपन्यासों में 'स्त्रियों द्वारा पितृसत्ता के पोषण' का मसला उठाया गया है। 'मित्रो मरजानी' में मित्रो की सास

और जेठानी, 'अनारो' में स्वयं अनारो, 'छिन्नमस्ता' में प्रिया की माँ, 'आवां' में उच्च वर्ग से ताल्लुक रखने वाली अंजना वासवानी और गौतमी जैसी तमाम स्त्रियाँ पुरुष की एजेंट नजर आती हैं। इसमें संदेह नहीं कि जब स्त्रियां पितृसत्ता की सुदृढ़ बुनावट में अपनी भूमिका को जान और समझ पाएंगी तभी वह पितृसत्तात्मक व्यवस्था की एकतरफा 'लौह श्रृंखलाओं' से निकलने में सक्षम हो पाएंगी।

स्त्री लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में पितृसत्ता द्वारा स्त्री के अधीनीकरण के लिए सुनिश्चित की गई तहों को उधेड़ने का काम ही नहीं किया है वरन अपने शोषण और दमन में स्वयं स्त्रियों की भूमिका को भी उजागर करने का प्रयास किया है। इन लेखिकाओं के उपन्यासों का जो सबसे महत्वपूर्ण और मजबूत पहलू है वह यह कि उनके स्त्री पात्र सकारात्मक ऊर्जा से लबरेज हैं। तलाकशुदा होने, बलात्कार की शिकार बनने, बार-बार घरेलू हिंसा से गुजरने, उपभोग की सामग्री में तब्दील कर दिए जाने तथा दलित और आदिवासी होने के कारण अमानवीय व क्रूर दैहिक और मानसिक यातनाएं झेलने के बावजूद वे आत्महत्या नहीं करती हैं या नियतिवादी नहीं हो जाती हैं। बल्कि वे इसके खिलाफ लड़ती हैं और इस संघर्ष में नेतृत्व भी करती हैं। इस प्रकार अपने 'स्व' और अस्तित्व को अधिक महत्व देती नजर आती हैं। इससे स्पष्ट है कि उपन्यास साहित्य के फलक पर स्त्री लेखन की आवश्यकता तब तक बनी रहेगी जब तक पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था के तहत स्त्रियाँ अपने 'अस्तित्व' की सार्थकता, 'जायज अधिकारों' की प्राप्ति और 'मुक्ति' के संघर्ष को पूर्णत: फलीभूत नहीं कर लेती हैं।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

I. आधार-ग्रंथ

क्र.सं.	पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	संस्करण
1.	अनारो	मंजुल भगत	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	पहला सं. 1985, दूसरी आवृत्ति 2008
2.	अल्मा कबूतरी	मैत्रेयी पुष्पा	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	पहला सं. 1998, दूसरी आवृत्ति 2009
3.	आपका बंटी	मन्नू भंडारी	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	बीसवां सं. 2008
4.	आवां	चित्रा मुद्गल	सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2007
5.	कठगुलाब	मृदुला गर्ग	भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली	चौथा सं. 2009
6.	छिन्नमस्ता	प्रभा खेतान	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	दूसरा सं. 2010
7.	तत-सम	राजी सेठ	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	पहला सं. 1998, पहली आवृत्ति 2001
8.	दस द्वारे का पींजरा	अनामिका	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	पहला सं. 1997, पहली आवृत्ति 2009
9.	बेघर	ममता कालिया	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	दूसरा सं. 2004
10.	माई	गीतांजलि श्री	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	पहला सं. 2004
11.	मिस रमिया	कावेरी	आकाश पब्लिशर्स, गाजियाबाद	प्र. सं. 2007
12.	मित्रो मरजानी	कृष्णा सोबती	राजकमल प्रकाशन,नई	चौथा सं.

			दिल्ली	2007, पहली आवृत्ति 2009
13.	शाल्मली	नासिरा शर्मा	किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली	सं. 2007

II. सहायक ग्रंथ-सूची

क्र.सं.	**पुस्तक**	**लेखक/संपादक**	**प्रकाशक**	**संस्करण**
1.	अनामिका एक मूल्यांकन	सं. अभिषेक कश्यप	सामयिक बुक्स, नई दिल्ली	प्र. सं. 2013
2.	आदमी की निगाह में औरत	राजेंद्र यादव	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	पहला सं. 2006, पहली आवृत्ति 2010
3.	आधुनिक कथा साहित्य में नारी : स्वरुप और प्रतिमा	सं. डॉ. उमा शुक्ला, डॉ. माधुरी छेड़ा	अरविंद प्रकाशन, बम्बई (मुंबई)	प्र. सं. 1995
4.	आधुनिक लेखिकाओं के नगरीय परिवेश के उपन्यास	डॉ. पारुकांत देसाई	चिंतन प्रकाशन, कानपुर	प्र. सं. 1994
5.	आधुनिक हिंदी उपन्यास	सं. भीष्म साहनी, रामजी मिश्र, भगवतीप्रसाद निदारिया	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र. सं. 1980
6.	आधुनिक हिंदी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता	नवल किशोर	प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली	प्र. सं. 1977
7.	आवां विमर्श	सं. करुणाशंकर उपाध्याय	सामयिक बुक्स, नई दिल्ली	प्र. सं. 2010
8.	औरत इतिहास रचा है तुमने	कुसुम त्रिपाठी	कल्याणी शिक्षा परिषद्, नई दिल्ली	सं. 2012

9.	इक्कीसवीं सदी की ओर	सं. सुमन कृष्णकांत	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	पहला सं. 2001
10.	इतिवृत्त की संरचना और संरूप	रोहिणी अग्रवाल	आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा)	प्र. पेपरबैक सं. 2006
11.	उत्तराधिकार बनाम पुत्राधिकार	अरविन्द जैन	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	सं. 2001
12.	उत्तरशती के उपन्यासों में स्त्री	डॉ. शशिकला त्रिपाठी	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी	प्र. सं. 2006
13.	उपन्यास की शर्त	जगदीश नारायण श्रीवास्तव	किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली	प्र. सं. 1993
14.	उपनिवेश में स्त्री : मुक्ति कामना की दस वार्ताएं	प्रभा खेतान	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र. सं. 2003
15.	औरत : अस्तित्व और अस्मिता	अरविन्द जैन	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	दूसरा सं. 2009
16.	औरत के हक में	तसलीमा नसरीन, अनु. मुनमुन सरकार	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	अट्ठारहवां सं. 2008
17.	औरत की पीड़ा	डॉ. रेणुका नैयर	अभिषेक पब्लिकेशन, चंडीगढ़	प्र. सं. 1997
18.	औरों के बहाने	राजेंद्र यादव	अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र. सं. 1981
19.	खुली खिड़कियाँ	मैत्रेयी पुष्पा	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद	दूसरा पेपरबैक्स सं. 2010
20.	गोदान	प्रेमचंद	सुमित्र प्रकाशन, इलाहबाद	सं. 2012
21.	चूड़ी बाजार में लड़की	कृष्ण कुमार	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र. सं. 2014
22.	तबदील निगाहें	मैत्रेयी पुष्पा	किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली	प्र. सं. 2012
23.	दलित साहित्य समग्र परिदृश्य	सं. डॉ. मनोहर भंडारे	स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र. सं. 2013

24.	दादा कामरेड	यशपाल	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद	पहला पेपरबैक्स सं. 2009
25.	दिव्या	यशपाल	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद	सं. 2011
26.	दुर्ग द्वार पर दस्तक	कात्यायनी	परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ	द्वितीय सं. 1998
27.	धर्म और समाज	डॉ. राधाकृष्णन	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली	सातवाँ सं. 1975
28.	ध्रुवस्वामिनी	जयशंकर प्रसाद	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद	सं. 2011
29.	नारी : अंतर्दर्पण व समाज	सं. चन्द्रमोहन अग्रवाल	सतीश गर्ग इंडियन पब्लिशर्स, दिल्ली	सं. 2003
30.	नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे	सं. साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता	हिंदी माध्यम कार्यन्वय निदेशालय, दिल्ली	प्र. सं. 2001
31.	नारी शोषण : आईने और आयाम	आशा रानी व्होरा	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली	प्र.सं. 1982
32.	परख	जैनेंद्र कुमार	पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली	सं. 1978
33.	परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति	फ्रेडरिक एंगेल्स, अनु. और सं. नरेश 'नदीम'	प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली	सं. 2006
34.	पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति	रामशरण शर्मा	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र. सं. 1996
35.	प्रेमचंद का कथा-संसार	सं. बदमसिंह रावत	मेहसाना गिरनार प्रकाशन, मेहसाना	सं. 1980
36.	प्रेमचन्द पूर्व के हिंदी उपन्यास	ज्ञानचंद जैन	आर्य प्रकाशन मण्डल, दिल्ली	प्र. सं. 1998
37.	बधिया स्त्री	जर्मेन ग्रियर, अनु. मधु बी. जोशी	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र. सं. 2005, पहली

				आवृत्ति 2008
38.	भारत का सामजिक सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास	पी. एन. चोपड़ा, बी. एन. पुरी, एम. एन. दास	मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, दिल्ली	प्र.सं. 1975
39.	भारतीय इतिहास में मध्यकाल	इरफान हबीब, सं. और अनु. रमेश रावत	ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली	दूसरा सं. 2002
40.	भारतीय विवाह संस्था का इतिहास	विश्वनाथ काशीनाथ राजवाडे	वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली	प्र. सं. 2004
41.	मनुस्मृति	टीका. डॉ. रामचन्द्र वर्मा शास्त्री	विद्या विहार प्रकाशन, नयी दिल्ली	सं. 1997
42.	महिलाओं के अधिकार	आई. सी. पाण्डेय, श्याम नारायण प्रधान, रमेश पाण्डेय	सुधाली पब्लिशर्स, नई दिल्ली	-
43.	मैं घूमर नाचूँ	कमल कुमार	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली	प्र. सं. 2010
44.	यशपाल व्यक्तित्व और कृतित्व	सं. रामव्यास पाण्डेय, श्रीनिवास शर्मा	मणिमय प्रकाशन, कलकत्ता	प्र. सं. 1978
45.	राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृत्तियाँ	वीरभारत तलवार	हिमाचल पुस्तक भण्डार, दिल्ली	प्र. सं. 1993
46.	श्रृंखला की कड़ियाँ	महादेवी वर्मा	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद	दूसरा पेपरबैक सं. 2010
47.	सपनों की मंडी	गीताश्री	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र. सं. 2012
48.	समकालीन	अनिता भारती	स्वराज प्रकाशन,	प्र. सं. 2013

	नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध		नई दिल्ली	
49.	समकालीन हिंदी आलोचना	सं. सतीश जमाली	नई कहानी प्रकाशन, इलाहबाद	प्र. सं. 1979
50.	समकालीन हिंदी उपन्यास की आधुनिका	डॉ. प्रतिभा पाठक	हिमालय पुस्तक भण्डार, दिल्ली	प्र. सं. 1992
51.	संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह 'दिनकर'	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद	सं. 2008
52.	संस्कृति, समाज और साहित्य	सं. डॉ. रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ, डॉ. उषा गोयल	रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर	प्र. सं. 1997
53.	स्त्री-अधिकारों का औचित्य-साधन	मेरी वोल्सटनक्राफ्ट, अनु. मीनाक्षी	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	पहला सं. 2003, पहली आवृत्ति 2009
54.	स्त्री-अस्मिता साहित्य और विचारधारा	सं. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह	आनंद प्रकाशन, कोलकाता	प्र. सं. 2004
55.	स्त्री उपेक्षिता	सिमोन द बोउवार, अनु. प्रभा खेतान	हिंदी पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली	सं. 2002
56.	स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ	रेखा कस्तवार	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र. सं. 2006
57.	स्त्रीत्व का मानचित्र	अनामिका	सारांश प्रकाशन, दिल्ली	सं. 2001 (पेपरबैक)
58.	स्त्री : देह की राजनीति से देश की राजनीति तक	मृणाल पाण्डेय	राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली	प्र. सं. 1987
59.	स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प	रोहिणी अग्रवाल	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र. सं. 2011
60.	स्त्री-विमर्श (पुरुष रचनाधर्मिता के	डॉ. विनय कुमार पाठक	भावना प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र. सं. 2009

	विशेष सन्दर्भ में)			
61.	स्त्री संघर्ष का इतिहास	राधा कुमार, अनु. एवं सं. रमा शंकर सिंह 'दिव्यदृष्टि'	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	तृतीय सं. 2009
62.	हिंदी उपन्यास का इतिहास	गोपाल राय	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	पहला पाठ्य पुस्तक सं. 2005, पहली आवृत्ति 2009
63.	हिंदी उपन्यास जनवादी परंपरा	सं. कुँवरपाल सिंह, अजय विसारिया	नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली	सं. 2004
64.	हिंदी उपन्यास : समकालीन परिदृश्य	महीप सिंह	लिपि प्रकाशन, नई दिल्ली	सं. 1980
65.	हिंदी का गद्य-साहित्य	डॉ. रामचन्द्र तिवारी	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी	सप्तम सं. 2009
66.	हिंदी के मार्क्सवादी उपन्यासों की नायिकाएँ	डॉ. एच. जी. सालुंखे	अलका प्रकाशन, कानपुर	प्र. सं. 1992
67.	हिंदी के समकालीन महिला उपन्यासकार	डॉ. एम. वेंकटेश्वर	अन्नपूर्णा प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र. सं. 2002
68.	हिंदी साहित्य का आधा इतिहास	सुमन राजे	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	तीसरा सं. 2006
69.	हिंदी साहित्य का ओझल नारी इतिहास (1857-1947)	नीरजा माधव	सामयिक बुक्स, नई दिल्ली	प्र. सं. 2012
70.	हिंदुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियाँ	के. एम. अशरफ, अनु. डॉ. के. एस. लाल	हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली	प. सं. 1969 पुनर्मुद्रण 1990
71.	हिन्दू महिलाओं के	श्रीमती प्रीती मिश्रा	आदित्य पब्लिशर्स,	सं. 2001

	जीवन में धर्म का महत्व		बीना	

III. सहायक ग्रन्थ-सूची (अंग्रेजी)

1.	Law, Crime and Sexuality	Carol Smart	Sage Publications, London	1995
2.	Sexual Politics	Kate Millett	University of Illinois press	2000
3.	Social Movement in India	Edited by M. S. A. Rao	Manohar Publication, New Delhi	First Pub. 1979, Reprint 2006
4.	The Creation of Patriarchy	Gearda Lerner	Oxford University Press, New York	1986
5.	The High-Caste Hindu Women	Pandita Ramabai Sarasvati	Philadelphia	1888
6.	Women and Legal Protection	Paras Diwan, Peeyushi Diwan	Deep & Deep Publications, New Delhi	1995
7.	Women's Rights	M. J. Antony	Dialogue Publications, New Delhi	1985

IV. पत्र-पत्रिकाएँ

1. अकार, गिरिराज किशोर (सं.), (अगस्त-नवम्बर, 2007), कानपुर
2. अपेक्षा, तेजसिंह (सं.), (जनवरी-जून, 2010), दिल्ली
3. आजकल, सीमा ओझा (सं.), (मई, 2008), दिल्ली
4. कथादेश, हरिनारायण (सं.), (अगस्त, 2000), दिल्ली
5. कथादेश, हरिनारायण (सं.), (मार्च, 2008), दिल्ली
6. तदभव, अखिलेश (सं.), (मार्च, 2001), लखनऊ
7. दस्तावेज, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (सं.), (अप्रैल-जून, 2008), गोरखपुर

8. दस्तावेज-84, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (सं.), (जुलाई-दिसंबर, 1999), गोरखपुर
9. पहल-76, ज्ञानरंजन (सं.), (जनवरी-फरवरी-मार्च, 2004), जबलपुर
10. पक्षधर वार्ता, विनोद तिवारी (सं.), (मई-दिसम्बर, 2008), वाराणसी
11. वर्तमान साहित्य, नमिता सिंह (सं.), (मार्च, 2010), अलीगढ़
12. वर्तमान सन्दर्भ, संगीता आनंद (सं.), (अगस्त, 2009), पटना
13. वागर्थ, रविन्द्र कालिया (सं.), (जनवरी, 2006), कोलकाता
14. वसुधा, प्रो. कमला प्रसाद (सं.), (जनवरी-जून, 2000), भोपाल
15. वसुधा, प्रो. कमला प्रसाद (सं.), (अक्टूबर, 2003), भोपाल
16. स्त्रीकाल, अनिता भारती (अतिथि सं.), (सितम्बर, 2013), वर्धा
17. समकालीन भारतीय साहित्य, प्रभाकर श्रोत्रिय (अतिथि सं.), (नवम्बर-दिसंबर, 2010) नई दिल्ली
18. समीक्षा, गोपाल (सं.), (अप्रैल-जून, 1983), पटना
19. समीक्षा, गोपाल (सं.), (जनवरी-मार्च, 1984), पटना
20. समीक्षा, गोपाल (सं.), (अक्टूबर-दिसंबर, 2009), पटना
21. संवेद-60, किशन कालजयी (सं.), (जनवरी, 2013), दिल्ली
22. साक्षात्कार, आग्नेय (सं.), (मार्च, 2000), भोपाल
23. साक्षात्कार, आग्नेय (सं.), (जुलाई, 2000), भोपाल
24. साक्षात्कार, आग्नेय (सं.), (अप्रैल, 2001), भोपाल
25. साक्षात्कार, आग्नेय (सं.), (दिसंबर-जनवरी, 2000-2001), भोपाल
26. हंस, राजेंद्र यादव (सं.), (अगस्त, 1993), नई दिल्ली
27. हंस, राजेंद्र यादव (सं.), (अक्टूबर, 1996), नई दिल्ली
28. हंस, राजेंद्र यादव (सं.), (दिसंबर, 1997), नई दिल्ली
29. हंस, राजेंद्र यादव (सं.), (मार्च, 1998), नई दिल्ली
30. हंस, राजेंद्र यादव (सं.), (सितम्बर, 1998), नई दिल्ली
31. हंस, राजेंद्र यादव (सं.), (सितम्बर, 2000), नई दिल्ली
32. हंस, राजेंद्र यादव (सं.), (फरवरी, 2008), नई दिल्ली
33. हंस, राजेंद्र यादव (सं.), (नवम्बर, 2009), नई दिल्ली
34. EPW (Economic and Political Weekly), XX NO. 40, (Oct 5, 1985)

V. वेब सामग्री

1. www.aljazeera.com/indepth/features/2012/12/2012122991735307545.html
2. http://www.freiheit.org/aktuelle-berichte/1804c27055ilp/index.html